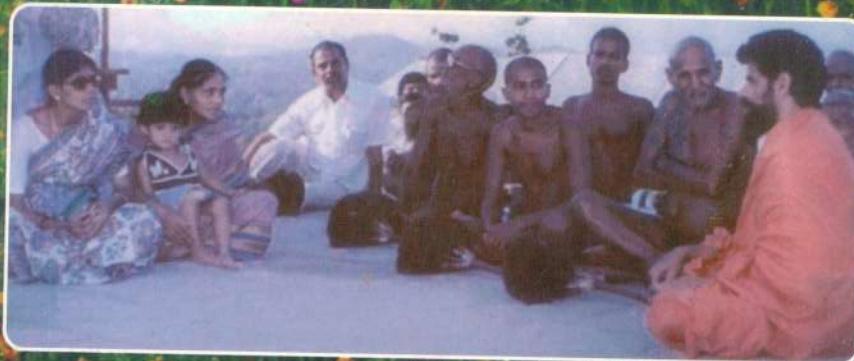


वर्तमान की आवश्यकता धार्मिक उदारता व किं कदृता

- आचार्य कनकनन्दी



स-ग्रथम भार्गदर्शक गुरु आचार्य तिमलसागरजी गुरुदेव व आचार्य भरतसागर
गुरुदेव के साथ आचार्य कनकनन्दी (मुनि अवस्था में) (धर्मस्थल-कर्नाटक-1983)

वर्तमान की आवश्यकता धार्मिक उदारता न कि कहरता

(ग्रन्थ-पद्धति)

पुण्य-स्मरण

वासाल्यामूर्ति आचार्य विमलसागर जी गुरुदेव के जन्म शताब्दी मठोत्सव त
समाप्ति दिवस (दि: 29 दिसम्बर, 1994) के उपलक्ष्य में.....



पंचकल्याणक में मुनि आदिनाथ तीर्थकर की आहारचर्चा के अवसर पर आचार्य कनकनन्दी,
आचार्य गुप्तिनन्दी संसंघ। (आसपुर-2015)



उपरोक्त पंचकल्याणक में मंत्र संस्कार करते हुए आचार्य कनकनन्दी, आचार्य गुप्तिनन्दी संसंघ।



लंबन विश्वविद्यालय में आचार्य कनकनन्दी के शिष्य पैदानिक गोदावत व अन्य। (2015)

ग्रन्थांक-160
प्रतिरूप-500

सदुपयोग-आगमोक्त, उदारवादी सत्य-तथा की रवीकृति

-- लेखक :-

आ. श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव
आकांक्षी-सौजन्य-प्रचारक-समर्थक

1. सकल जैन समाज-सागवाड़ा-डूगरपुर(राज.)
2. दि. जैन समाज मेवाड़-बागड (राज.)
3. धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान (बड़ौत)
4. धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर)

-- शार्का :-

मुजफ्फरनगर, गाजियाबाट, कोटा, सलुम्बर, प्रतापगढ़, मुंबई, अमेरिका
(आचार्य श्री कनकनन्दी गुरुदेव संसंघ का आशीर्वाद प्राप्त)

संदर्भित ग्रन्थ सूची

- | | | | |
|-----|-----------------------|-----|---------------------|
| 1. | स्वयंभूतोत्र | 20. | ज्ञानर्णव |
| 2. | प्रवचनसार | 21. | निरामसार |
| 3. | हरिंश पुराण | 22. | आलापपट्टुति |
| 4. | जयधवला | 23. | समाधितंत्र |
| 5. | रत्नकरण्डक श्रावकाचार | 24. | पञ्चपुराण |
| 6. | उमास्तामी श्रावकाचार | 25. | मूलाचार |
| 7. | यशस्तिलक चम्पू | 26. | भगवती आराधना |
| 8. | गो. सा. जीवकाण्ड | 27. | धवला |
| 9. | आत्म संब्रह | 28. | चारित्र चक्रवर्ती |
| 10. | चन्द्रप्रभु चरित्र | 29. | तिलोयपण्णति |
| 11. | प्रतिष्ठा पाठ | 30. | वसुनन्दी श्रावकाचार |
| 12. | दर्शन सार | 31. | सुधर्मा श्रावकाचार |
| 13. | आत्मासार | 32. | लाटी संहिता |
| 14. | पुरुषार्थसिद्धियुपाय | 33. | बारस अणुपेक्खा |
| 15. | नीतियार समृद्धय | 34. | अष्ट पाहुड |
| 16. | आत्मानुशासन | 35. | मोक्ष शास्त्र |
| 17. | प्रतिष्ठासारोद्धर | 36. | पञ्चाश्यारी |
| 18. | जिनेंद्र कल्याण | 37. | गो. सा. कर्मकाण्ड |
| 19. | प्रायित्वित तू | | |

अन्यान्य ग्रन्थ

- | | | | |
|----|-------------------------|----|----------------------|
| 1. | जैन श्रेष्ठतम्बर ग्रन्थ | 2. | बौद्ध धर्म के ग्रन्थ |
| 3. | तैटिक धर्म के ग्रन्थ | 4. | तैज्ञानिक साहित्य |

आ. कनकनन्दी (लेखक) के साहित्य

- प्रमण संघ संहिता
- जिनार्थना
- दंसणमूलो धर्मो
- ज्वलन्त शंकाओं का श्रीतल समाधान
- पूजा से मोक्ष, पूर्ण तथा पाप श्री!
- शारीरिक-मानसिक आध्यात्मिक स्वारक्ष्य के विविध आयाम
- समता साधक मुमुक्षु धर्म की साधना

मुग्नि सुधासागर जी के साहित्य

- तश्शधर्म सुधा
- आध्यात्म सुधा-मै कौन हूँ
- मुग्नि सुधासागर जी के प्रवचन की अनेक कैसेट

विषयानुक्रमणिका

विवरण	पृ. क्र.
1. आचार्य श्री विद्यानन्दजी का पत्र आचार्य कनकनन्दी के लिये	7
2. पत्र प्रमेजी की स्तुति	8
3. मेरे (आचार्य कनकनन्दी के) आध्यात्मिक गुरु गुण वर्णन	9
4. आचार्य कनकनन्दी जी गुरुदेव की विशेषताएँ	9
5. CHILDREN - SPIRITUAL PRAYER	10
6. मेरे (आचार्य कनकनन्दी के) आध्यात्म गुरुओं की वन्दना	10
7. दृश्य गुरुगुण - स्मरण	11
8. आध्यात्मिक सन्तों के जीवन प्रबन्धन	12
9. आध्यात्मिक जनों की अलौकिक वृत्ति	13
10. पिण्डेश्वानिक अलौकिक गुणधारी होते आध्यात्मिक जन	14
11. आद्य-पठनीया - मेरी अन्तर्गत आवना	15
12. क्रान्ति के बीज ऊना है	26
13. स्वाध्याय परमः तपः	27
14. स्वाध्याय परम तप क्यों?	28
15. धार्मिक के तीन लक्षण	29
16. नवकोटि से स्वात्म आवना ही सर्वोत्तम	30
17. अहंकारी ममकारी = अन्ध श्रद्धानी, इससे परे सत्य श्रद्धानी	31
18. समता परमोद्धर्म	32
19. एव उपकार की विधि	35
20. मुझे जानें वाले न जानें वाले मेरे न शत्रु न मित्र	36
21. सांसारिक उपलब्धियों में मोहित होना : अन्धश्रद्धा (मिथ्यात्व)	37
22. मोही की सर्व अवस्था विभ्रम स्वरूप	38
23. छन्द्राणी (पूर्वाणी, मिथ्यादृष्टि) सत्य को नहीं मानता	39
24. संकीर्ण व स्वार्थी मानव न मानते गुणी सज्जनों को श्री	41
25. अर्योद्य व्यक्ति श्री अन्य के दोषों को कैसे जानते?	41
26. महान् एवं क्षुद्र बनने के उपाय	42
27. संकीर्ण-कट्टर धार्मिक तथा भद्र मिथ्यादृष्टि	43
28. सम्यन्दृष्टि का स्वरूप	44

29. सम्बृद्धि की श्रद्धा-प्रज्ञा-परिणति	45
30. प्रकरण-1 (1) परम पूज्या आचार्य श्री भरतसागर जी महाराज की तीन दिन के पूर्वाभास में 'सवेतन्य अवस्था' में अद्भुत समाधि	46
31. प्रकरण-2 (1) प.पू.आ. श्री भरतसागर जी श्रद्धान्जली-सभा में मुनि सुधासागर जी के अरोन्य कथन (प.पू.आ. विमलसागरजी, प.पू.आ. भरतसागर जी तथा उनके शक्ति के विरह अरोन्य आयोग)	48
32. प्रकरण-3 स्व-हितकारी ही सर्व हितकारी (1) अध्यात्मिक दृष्टिकोण से (2) व्यवहारिक दृष्टिकोण से (3) भाव-प्रदूषणकारी खलुः सर्वानन्धकर खलुः	56
33. प्रकरण-4 कैसे हो जैन धर्म की सुरक्षा एवं समृद्धि (जैन धर्म की ज्वलन्त अन्तर्ग-बहिर्ग समस्याएं एवं समाधान)	63
34. प्रकरण-5 सकल जैन (दि.श्वे.जैन) धर्मावलम्बियों से अपील (संदर्भ-जैन धर्म के विभिन्न संकटों का निवारण तथा सुरक्षा एवं समृद्धि)	71
35. प्रकरण-6 हितोपदेशी के मध्यस्थेनिल गुण (1) हितोपदेशी के दूसरों को दोष न कहने के गुण (2) दोष कथक जिनधर्मी नहीं (3) दोष कथन से मिथ्यात्व की आराधना (4) दोष कथक साधु को संघ से बहिष्कार करने योन्य (5) दोष कथक आत्म के त्यागी (6) दोष कथन से मिथ्यात्व की आराधना क्यों?	75
36. प्रकरण-7 भाव विशुद्धि उत्कृष्ट तप से श्री श्रेष्ठ	79
37. प्रकरण-8 मुनि सुधासागर जी पहले स्व-दोष सुधारे..... (आगम एवं आचार्य शान्तिसागरजी के नाम पर उनका श्री विरोध क्यों?) (1) समाधि के बारे में अनर्गत कथन (2) साधुओं के आलोचकों का कर्तव्य (3) साधु संघ में आर्थिकाओं का निषेध (4) आ. शान्तिसागरजी संसंघ की व्यवस्था (5) संघविहार (शिखरजी की यात्रा)-संघ में आर्थिका (6) जिनशासन यक्ष-यक्षणी के विरोध (7) अभिषेक का महाफल (8) पंचामृताभिषेक (9) अष्ट द्रव्य से पूजा (10) मंदिर, मूर्ति, शिलालेख में तोड़ फोड़ (11) समाचार विधि (नमोस्तु प्रतिनमोस्तु) नहीं करना (12) श्रमण को देखने के बाद करने योन्य क्रिया (13) गुणाधिक मुनि के प्रति व्यवहार (14) आर्थिका, क्षुल्लकादि योन्य नवदा भक्ति और श्री कुछ कमियाँ (आ. विद्यासागरजी के संघ की) (15) साधुओं में वन्दना प्रतिवन्दना? (16) आहार मुद्रा....? (17) आर्थिकाओं की जनतान्त्रिका? (18) मिधी के बर्तन का प्रयोग? (19) साधुओं के सम्बोधन वाक्य ...? (20) दीक्षा के समय नाम परिवर्तन ...? (21) साधु के सारं व गति का प्रयोग ...? (22) कुछ पूर्वाचार्यों के नाम (मूलसंघ) (23) अरिहन्त व गिरु प्रतिमा का आकार (24) वर्षायोग स्थापना व निष्ठापन क्रिया?.. (25) हरी त्याग की परिभाषा (26) साधु की वैयाकृति में योगदान (27) जैन धर्म, जैनसंघ, जैन आगम मुनि आदि का अवर्णवाद सबसे बड़ा पाप	81
38. प्रकरण-9 वया आगमोत्त पूजादि पाप कारक है?	131
39. प्रकरण-10 संसार का मूल हेतु मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व के अकिञ्चित्कर मानों पर संसार के अनन्त दुःख (मिथ्यात्व संबंधी कुछ प्रश्न)	139
40. प्रकरण-11 आहार मुद्रा से लगता है महाव्रत में दोष (आहार मुद्रा आगमानुकूल गा प्रतिकूल?)	144
41. प्रकरण-12 गैस से बना भोजन वया साधु एवं गृहस्थ योन्य है? (रसोई गैस के दुष्प्रभाव)	146
42. प्रकरण-13 मुनि सुधासागर जी संसंघ- से प्रतिशोध नहीं परिशोधन की भावना	149
43. प्रस्ताव	151
44. असत्याल्पी हिंसा का लक्षण	153
45. सत्य का निषेध करना हिंसा	155
46. असत्य कथन हिंसा	155
47. अशिष्टादि कथन: हिंसा	156
48. गहिंत वचन श्री हिंसा	157
49. अप्रिय वचन ऊपी हिंसा	159
50. झूठ वचन से हिंसा होती	160
51. अप्रमत्त परिणाम में हिंसा	160
52. व्यर्थ के झूठ छोड़े	162
53. सत्यव्रत के अतिवार	162
54. अहिंसार्थ - गुणित्रय	164
55. अहिंसार्थ - पंच समिति	166
56. मेरे संस्मरण में आचार्य श्री भरतसागरजी गुरुदेव-आचार्य कनकनंदी	169

(कविता विभाग)

57. मेरी आत्म आलोचना	173
58. मुझे नहीं चाहिये	174
59. मेरी आध्यात्मिक - भावना (स्वरूप)	174
60. मेरी परोपकारी भावना सफल हो	175
61. मेरी परम शिक्षायें	176
62. आचार्य कनकनंदी संसंघ के दैनिक कार्यक्रमपूर्व नियोजित सुयोग्य कार्य ही संघ में होते	177
63. मेरी (आचार्य कनकनंदी) की प्रतिज्ञा संसंघ के नियम व कारण	178
64. असंवलेशित भाव से विश्व कल्याण की भावना भाँऊँ	179
65. मेरी भावना एवं साधना	180
66. आत्म विन्दन एवं आत्म नियंत्रण	180
67. पर प्रपंच त्यागकर कर्जुँ स्व-शोध-बोध-कथन	181
68. क्षुद्र व्यक्ति के करण मैं संकल्प-विकल्प-संवलेश वर्यों कर्जुँ	182
69. पर से अप्रभावित होना चाहता हूँ	182
70. उत्सर्ज एवं अपवाद की मैत्री	183
71. उत्सर्ज व अपवाद की मैत्री रूपी वारिं से कम कर्मबन्ध होता है।	188
72. आगमानुसार आचरण करने वाला मुनि श्रेष्ठ है	196
73. हिंसा अहिंसा का यथार्थ स्वरूप	199
74. स्व-दोष परिज्ञान के उपाय व फल	201
75. कठोर भी गुरुवचन से भव्यजीव विकसित होता	203
76. हे! जिया कब तक पर-परिणति में उलझेगा	204
77. आगामी 14वीं वैज्ञानिक संगोष्ठी	205
78. मेरी अनुशासन पट्टियाँ एवं उपलब्धियाँ	206

आचार्य श्री विद्यानन्दी जी का पत्र

आचार्य कनकनंदी के लिये

उपग्रहन-स्थितिकरण-वात्सल्य-प्रभावना हेतु

गी कृष्णकृष्ण भारती ट्रस्ट प्राकृत भाषा भवन

१० वीं, इन्स्टीट्यूशन ऐरिया नई दिल्ली-110067

दूसरांश : 26564510, 26513138 वी.नि. 2534

दिनांक 25.11.2006

"ऐ व्याख्यानित न शास्त्रं ददाति शिक्षादिकञ्च शिष्याणाम्।

कर्मेन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्ते साधवो ज्ञेयाः॥"

जो न तो व्याख्यान देते हैं, न शास्त्र खना करते हैं और न ही शिष्यों को शिखा आदि देते हैं, ऐसे कर्मों के विनाश में समर्थ ध्यानलीन पुरुषों को साधु जाना चाहिए।

धर्मानुग्रामी आचार्य श्री कनकनंदी जी,

प्रति बन्दना! आशा है आपका रत्नत्रय वृद्धिगत होगा। आचार्य भरतसागर जी गुरिराज को मैं अच्छी तरह से जानता हूँ। वे लगभग दो वर्ष तक मेरे साथ रहे थे। वे बहुत ही शांत स्वभावी और सरल हृदयी थे। कभी किसी को कोई अपशब्द नहीं कहते थे। सब्से साधु की भाँति उनकी वाणी पर हमेशा सत्य महाकृत, भाषा समिति और वचनगुप्ति की लगाम होती थी। फिर भी आज जो लोग उनके बारे में और उनकी सामाजिक के बारे में मिथ्या बोल रहे हैं, उनकी वाणी सर्वथा अनर्गत है, बेलगाम है, शास्त्र सम्मत नहीं है।

अतः मेरा आपसे यही कहना है कि आप शान्ति रखें। यह कलियुग है, इसमें कलहपाण्डु के उपदेश बहुत मिल रहे हैं। क्या करे, इसमें ऐसा ही चलता है। आप तो बहुत सज्जन हैं और अत्यधिक अध्ययनशील हैं। आप बहुत तेल-गोल कर ही दूर शब्द बोलते हैं। आपकी अध्ययनशीलता को तो आज हमारे सर्व साधुओं को अनुकरण करना चाहिये। आपको स्मरण होगा कि श्रवणबेलगोला (1981) में आपको एक माह तक तेज बुखार रहा था और मैंने आपकी सेवा की थी। साधुओं में इस प्रकार का छार्टिक वात्सल्य ही होना चाहिये, ईर्ष्या-द्वेष-मत्सर नहीं। पारस्परिक द्वेष अज्ञानता और दुर्जनता का सूक्षक है।

आपश्री का विश्वासु
आचार्य विद्यानन्द मुनि

पञ्च-परमेष्ठी स्तुति

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल: 1. तुम दिल की धड़कन में..... 2. सायोनारा.....)

1. अरिहन्त स्तुति.... घाति कर्म नाश कर सर्वज्ञ जो बने,
परम/सम्पूर्ण सत्य बताकर, हितोपदेशी जो बने।
आत्मा को परमात्म बनाने का, मार्ग जो बताये,
उनके गुण प्राप्ति हेतु, शिर को नित्य नमाये॥
 2. सिद्ध स्तुति.... सम्पूर्ण कर्म नाश कर, सिद्ध जो बने हैं,
अनन्त ज्ञान दर्शन सुख, वीर्य को जो धेरे हैं।
अमृत अव्यायी अक्षय, अनन्त गुण के धारी,
अनन्तानन्त सिद्धों को, हो वन्दना हमारी॥
 3. आचार्य स्तुति.... छत्तीस मूल गुणधारी, ख-पर मत के हो ज्ञाता,
लोकज्ञता गुण सह, तात्कालिन ज्ञान के ज्ञाता।
शिद्धा-दीक्षा-प्रायाभिष्ठ, विविध विद्या के सुज्ञाता,
नमन उन्हें हो हमारे, अपरिग्राही जो प्रशास्ता॥
 4. उपाध्याय स्तुति.... पच्चीस मूलगुण के धारी, ख-पर मत के हो ज्ञाता,
पठन-पाठन-विन्दन सह, तात्कालिन ज्ञान के दाता।
मिथ्यावाद तम हर सूर्य, प्रखर प्रज्ञा के धारी,
आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति हेतु, तिन पद ढोक हमारी॥
 5. साधु(मुनि) स्तुति.... रजनक्रय विभूषित आपका, दिग्भर है रूप,
आत्म साधना में सतत, रत रहते मौन स्वरूप।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्त, समता-शान्ति सहित,
जीवन्त है मोक्षमार्ग, स्वरूप को नमन सतत॥
- अरिहन्त-सिद्धदेव हमारे, परमात्मा है सुदेव,
सूरी पाठक साधु हमारे, पूज्य होते गुरुदेव।
सिद्ध-साधक रूप में है, पञ्च परमेष्ठी भगवन्त,
वन्दन उन्हें हमारे सदा, प्राप्ति हेतु गुण अनन्त॥

"मेरि(॥), कनकनन्दी के) आध्यात्मिक गुरु गुण वर्णन"

-आचार्य कनकनन्दी

(गान-वसन्ततिलका (भवतामर), एकेलाल दरवाजे.....)
गिमतसागर गुरु मम प्राण प्यारे, वात्सल्य मूर्ति सहृदय जग में निरलो।
गोलामणि प्रदर्शक मम आद्य गुरु, साहित्य रचना मेरी तुम से हुई है शुरु॥
भी कृष्णसागर गुरु शिद्धा-दीक्षादाता, कोमल हृदयी प्रशो! बहु दीक्षा प्रदाता॥
गोलामणि सान तथा अध्यापन कार्य, आपने दिया मुझको व्यवस्था के कार्य॥ (1)
गान-वसन्तसागर गुरु सरल सुशान्त, मम प्रोत्साहक तव वरद है हस्त।
गान प्रदायक मम शंका निवारक, ब्रन्थ रचना के मेरे तुम हो प्रोत्साहक।
गाना विजरामती है मम ज्ञानदाती, सिद्धान्त पारगामी गणिनी शमणी।
ग्रन्थालय अध्यापन लेखने सुदक्षा, हितोपदेश-कुशल व्रत में पवित्रा॥ (2)
गान सूरी विद्यानन्द (मम) शिद्धादाता, ज्ञानोपकरण तथा औषधि प्रदाता।
गाना रामायान तथा प्रोत्साहन दाता, श्रमण दीक्षा समये सुमर्ग प्रदाता॥
गोलामणि गुरु वरेण्य वरिष्ठ सूरी, सिद्धान्त चक्री पद में आप का आशीषा
ग्रन्थके निर्देशन में शिविर लगाया, अध्यापन कार्य आपने मुझको है दिया॥ (3)
गोलामणि सूरीवर सरल सुशान्त, आचार्य संस्कार प्रदाता सूरी भगवन्त/भगवन्।
गानी रन पदवी आपसे प्रदत्त, आपका मिला मुझको वरद श्री हस्त॥
गिमतसागर लोक में रिथत पंचगुरु, नमन स्मरणीय मेरे आध्यात्म गुरु।
गाना की प्राप्ति होते सुशीघ्र मेरी, 'कनक' करे अतः प्रार्थना तुम्हारी॥ (4)

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव की विशेषता

प्रस्तुति-मुनि सुविज्ञसागर

वन्द्य चरण जिनके

(तर्जः ज्योति कलश छलके.....)

वन्द्य चरण जिनके.....2

जिनके सन्मुख विश्व हुआ है, नतमरतक मन से....

वन्द्य चरण जिनके.....2

आध्यात्म की ज्योति जलाएँ, धर्म-दर्शन-विज्ञान मिलाएँ

पट-घट में सबके.....2 वन्द्य चरण जिनके.....

हिन्दू-मुस्लिम-सिवख-ईसाई, दिक्-श्वेताम्बर जैनी भाई
आकर शोध करे... 2 वन्द्य चरण जिनके.....

देश-विदेश में जाकर प्रतिनिधि, गुरुवर का अभियान प्रचारें
भावे तन-मन से... 2 वन्द्य चरण जिनके.....

तैरिक दृष्टि सब अपनाएँ, ऐसी आतना है गुरुवर की
'सुविज्ञ' कहे मन से... 2 वन्द्य चरण जिनके.....

CHILDREN - SPIRITUAL - PRAYER

Aacharya Kanaknandi

You Are Mother.... You Are Father
You Are Sister.... You Are Brother
You Are Master.... You Are Helper
You Are Near.... You Are Farther
You Are Aim.... You Are Gain
You Are Worship.... You Are Prayer
You Are My Way.... You Are Moter
You Are Also.... My Inner
You Are Belief.... You Are Knowledge

You Are Conduct.... You Are Concept
You Are Fame.... You Are Name
You Are Subject.... You Are Object
You Are Senior.... You Are Super
You Are Pure.... You Are Future
You Are Before.... You Are After
You Are My.... Freedom Temple
(Freedom Doner).
You Are Nature.... You Are Knowledge

मेरे (आ. कनकनन्दी के) आध्यात्म गुरुओं की वन्दना

-आचार्य कनकनन्दी

(वाल-ज्योति कलश छलके....)

वन्द्य चरण जिनकेस्स

जिनके चरणे नतमरतक हैं... कनकनन्दी मन/(भाव) सेस्स (टेक)

सूरी कुन्धुसागर गुरुवर... मोक्षमार्ग प्रदाता सूरीवर...
शिक्षा-दीक्षा दातार... दयालु मुनिवर... वन्द्य चरण...

सूरी विमलसागर गुरुवर... मार्गदर्शक आदि गुरुवर...

ज्ञान-आशीषदाता... वात्सल्य रत्नाकर... वन्द्य चरण...

सूरी भरतसागर गुरुवर... शंका निवारक ज्ञानदाता...
वात्सल्य सहयोगी... कोमल हृदयी... वन्द्य चरण...

देशभूषण आचार्य गुरुवर... "सिद्धान्तचक्री" अनुगोदक...

शिविर-प्रशिक्षणे... नियुक्तिकर्ता... वन्द्य चरण...

विद्यानन्द आचार्य गुरुवर... ज्ञानदाता शंका निवारक...
ज्ञान व उपकरण... दातार सूरीवर... वन्द्य चरण...

ज्ञानवी अंगेनन्दन गुरुवर... आचार्य पदवी संस्कार दातार...
ज्ञानवी रत्न पदवी प्रदायक मुनिवर... वन्द्य चरण...

विजयमती मम ज्ञान प्रदात्री प्रमुख शिक्षादायिनी सती...
अनुयोग चारों की ज्ञानदारी गणिनी... उपकृत उनसे

ज्ञानवी पव गुरुवर... रत्नप्रयायुत श्रेष्ठ गुरुवर...
ज्ञानवी वन्दे पदकमल जिनके... वन्द्य चरण...

द्वयगुरुगुण-स्मरण

(मेरे आदि-मार्गदर्शक गुरु आचार्य विमलसागरजी गुरुदेव
व आचार्य भरतसागरजी गुरुदेव)

(ज्ञानवी द्वय का सानिध्य मध्य-मध्य में 1975 से 1989 तक प्रायः 7
वर्ष तक व आचार्य भरतसागरजी गुरुदेव के साथ अनितम वात्सल्य
मिलन 2004 (राज.) नरवाली में हुआ)

-आचार्य कनकनन्दी

(ज्ञान वासन्ततिलका....)

विमलसागर गुरु मम प्राण प्यारे ! सरल हृदयी गुरुवर सबसे हो ज्यारे!

ज्ञानवी सुधीर सुशान्त गम्भीर, शिष्यानुब्रहे कुशल आचार्य प्रवरा॥(1)॥

(ज्ञान है! दीनबन्धु / दे दी हमे आजादी.....)

ज्ञानवीसिन्धु है! दया के सागर है! वात्सल्य सिन्धु है! ज्ञान के सागर।

ज्ञान उपकारी हो आदि-मार्गदर्शक, शिक्षा-दीक्षा आदि के आप सहराक॥(2)॥

ज्ञानवी निषा मैं रहा हूँ मैं अनेक बार, समेतावत (1975) व सोनागिरी (1977) में
दो-दो बार

ज्ञानवी के अवसर पर बेलगोल में (1981), सहमाल्दी मठोत्सव के अवसर में॥(3)॥

ज्ञानवी सूरी व मम्भुर कुन्धुसागर, दिशताधिक साथु व लखों नारी (व) नरा

ज्ञानवी गणण टीका के पावन अवसर पर, आपका वरद आशीष (रहा) मेरे शिर पर॥(4)॥

ज्ञानवी सुषिष्य भरतसागर गुरुवर, मेरे हितैषी व ज्ञानदातार ऋषिवर।

ज्ञानवी गणणकर्ता प्रोत्साहक गुरुवर, दीर्घकाल रहा आशीष शिर पर॥(5)॥

धर्मस्थल में श्री रहा सानिध्य आपका (1983), श्री बाहुबली प्रतिष्ठा महोत्सव काल का पुनः सोनागिरी में सानिध्य आपका (1989), वात्सल्य-स्रोत बहा मिलन से आपका।(6)॥ आदेश दिया आपने मुझे वहाँ पर, सभी साधुओं को पढ़ने का समयसारा अद्वैत साधुओं को पढ़ाया वहाँ पर, द्रव्यसंग्रह सहित दिन में दो बार।(7)॥ कलिकाल समन्तभद्र आपने मुझे कहा, भरत सिन्धु ने श्री मुझे ऐसा ही कहा आर्षमार्ग रक्षा हेतु आशीष श्री दिया, नवीन कृति खने का आदेश श्री दिया।(8)॥ 'विश्वविज्ञान रहस्य' 'जिनार्तनाद्य', 'पुण्य पाप मीमांसा' व 'निमित्त उपादान'। 'अनेकान्त सिद्धान्त' आदि कृति की खना, आपके आशीष/(आदेश) से हुई मुझसे यह रचना।(9)॥

वात्सल्य रत्नाकर में छ्या मेरे लेख, मेरे द्वारा ग्रन्थ का कुछ हुआ संशोधन। गुरु भरत से मुझे मिले ये आदेश, सोनागिरी में संशोधन हुआ कुछ ही अंश।(10)॥ आपके आदेश निर्देश आशीष के द्वारा, साहित्य लेखन प्रारम्भ हुआ मेरे द्वारा। आपके समान सरल व सुणान मैं बहुत तत् गुण प्राप्ति हेतु 'कनक' मैं तुम्हें प्रणाम।(11)॥

हिरण्मगरी से 11, दि. 5.1.2015, रात्रि 8.07

आध्यात्मिक सन्तों के जीवन प्रबन्धन

-आचार्य कनकनन्दी

(ताल: 1. सायोनारा.... 2. तुम दिल की.....)

धन्य गुरुवर/मुनिवर) धन्य हो तुम...कितनी साधना करते हो...

सत्य समता शान्ति के द्वारा...आत्मा की साधना/(विशुद्धि) करते हो...घृवपद)...

असि मसि कृषि वाणिज्य सेवा...शिल्प व गृहस्थों के काम...

ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि त्यागकर...करते हो आध्यात्मिक काम...(1)

राग द्वेष मोह काम तृष्णा छेड़...करते हो आत्मा का शोष व बोथ...

मैत्री प्रगोद माध्यस्थ कारण्य से...देते हो स्व-पर को प्रबोध。(2)

सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि डिशी व...लौकिक कार्य धन जन संग्रह...

भौतिक निर्माण आडम्बर त्यागकर...करते हो सदा ध्यान-अध्ययन...(3)

तेरा मेरा भेदभाव छोड़कर...करते हो सदा साम्य व्यवहार...

धनी-गरीब शत्रु-गिरे...करते हो सदा आनंदत् व्यवहार...(4)

परोपदेशे पाण्डित्य न बनकर...करते हो पहले आत्म सुधार....

स्वरां दीपक बनकर पहले...करते हो विश्व का उपकार...(5)

तीर्त्तिसा कमा मृदु सरलता...सहजता शुचिता निराभिमान...

तीर्त्तम विश्वास ज्ञान चारित्र...संयम आत्मानुशासन ही तत् जीवन/प्रबन्धन)...(6)

सत्प्रिदानन्द या सत्य शिव सुन्दर...तत् साधना का परम सुफल...

इसी हेतु ही 'कनकनन्दी' श्री...साधना करता है अविरल...(7)

आध्यात्मिक जनों की अलौकिक-वृत्ति

(लौकिक जन आध्यात्मिक जनों को गलत क्यों मानते हैं?)

-आचार्य कनकनन्दी

(ताल: वैष्णव जन तो तेने कहिये....)

आध्यात्मिक/(लौकिक)जन (तो) तेने कहिये, जो आत्म शद्ग्रान कर रहे हैं,

ताल को अमूर्तिक विनयमाने, राग-द्वेष-मोह परे रे॥(स्थारी)

ताल-मन-इंद्रिय सहित होने पर श्री, इसे न माने स्वरूप है।

ताल शरीर में मल होने पर श्री, उसे न माने स्वरूप है॥

ताल-मन-इंद्रिय-सत्ता-सम्पत्ति को, नहीं माने स्व-स्वरूप है।

गुणस्थान घट्टम तक आहार, करते निद्रा निहार है।

तालपि इसे न स्वभाव मानते, मानते कर्म विषाक है॥

ताल-शुद्ध स्वभाव को स्वरूप माने हैं, जो कि सिद्ध समान है।

ताल विद्युत् आदि यथा आकाश न होते, आकाश तो अमूर्तमय है॥

ताल-स्वभाव का ही अध्ययन-ध्यान, विन्तन-रचा करते हैं।

तालुभाव/(आत्म-कल्याण)को ही प्रमुख करके, आत्मानुभव श्री (आंशिक) करते हैं॥

तालु त्याग कर पुण को करते, शुद्ध को करके लक्ष्य है।

आत्मविशुद्धि हेतु धर्म पालते, नहीं वाहते ख्याति/पूजा लाभ है॥

दीन-हीन-अहंकार न करते, स्वाभिमान सोडहं भाव धरे।

पञ्च-मित्र-धनी-गरीब न माने दूर रहे क्षुद्र भाव से॥

लौकिक जन से पर वे सोचते, तथाहि करे भाव-व्यवहार है।

जिससे लौकिक जन उन्हें गलत मानते दीन-हीन-अहंभावी हैं॥

तालपि अध्यात्मिक जन न होते, विचलित न होते ईर्ष्या-धृण से।

अज्ञानी-मोही जन उड़ें जानकर, धरते समता भाव है॥

उनका भी आत्मकल्याण हो, करते ऐसा शुभ-भाव है।

भद्र जन यदि कोई होते, देते भी हित-यपदेश है॥

अन्यथा आत्म-साधना करते, भावना-अनुप्रेक्षा सहित है।

कर्मक्षय हेतु प्रयत्न करते, 'कनक' का भी ऐसा भाव है॥

विरोधात्मक अलौकिक गुणधारी होते आध्यात्मिक जन

-आचार्य कनकनंदी

(वाल : 1. आत्मशक्ति से..... 2. सायोगारा..... 3. शायद मेरी..... 4. भातकूली.....)

जय हे! आध्यात्मिक मठान्, अलौकिक गुणों से आप सम्पन्न।

असाधारण है आप के गुण, विपरीत गुणों से आप सम्पन्न॥ (1)

धैर्य में होते आप वज्र समान, मवखन के समान कोमल मन।

कमल के समान निर्लिप्त जीवन, आकाश के सम उटार चिन्तन॥ (2)

धरती समान हो! क्षमावान्, महावीर सम हो शक्ति सम्पन्न।

सूर्य के समान हो! तेजवान्, हिम के समान शीतलवान्॥ (3)

पराक्रमी आप हो! सिंह समान, हरिण के समान शान्त जीवन।

स्वाभिमानी आप हो! गज समान, सुषिष्य समान विनयवान्॥ (4)

बैल के सम आप भद्र स्वभावी, प्रकाश के सम मोहतम विनाशी।

मधुमकर्षी सम हो! सुगुणग्राही, वीतरानी सम हो गुण-परिणामी॥ (5)

अर्थाप्ति तुम हो! अणु समान, लचीला व्यक्तित्व अगुरुलघुसमा।

भेदविज्ञानी हो हंस समान, भेद-भाव शून्य बालक समान॥ (6)

कछुआ के समान सुगुप्तिधारी, सूर्य समान दूरदृष्टि धारी।

आंकिचन्द्र तुम हो अणु समान, अनन्त गुण युक्त आकाश सम॥ (7)

अज्ञानी- मोही से तुम हो अज्ञा, 'कनकनंदी' द्वारा तुम प्रणम्य।

असाधारण है आपके गुण, विपरीत गुणों से आप सम्पन्न॥ (8)

आद्य-पठनीय

मेरी अन्तरंग भावना

-आ. श्री कनकनंदी जी

मानाशे क्रियाद्वंसे सुसिद्धांतार्थ विप्लवे।

अपृष्ठेरपि वक्तव्यं तत्स्वरूप प्रकाशने॥ (ज्ञानार्थ)

जल जहाँ सत्य धर्म का नाश होता हो, यथार्थ क्रिया का विष्वंस होता हो, तत्त्वानि सिद्धान्त-अर्थ का अपलाप/विनाश होता हो, उस समय सम्यक् धर्म क्रिया, और सिद्धान्तके प्रवार-प्रसार, सुरक्षा के लिए बिना पूछे भी सज्जनों को बोलना तात्पुरी कर्त्त्वीक इससे धर्म की रक्षा होती है जिससे ख-पर-राष्ट्र-विश्व की सुरक्षा तात्पुरी होती है।

दिनम्वर जैन साधु का प्रावीन आगमोक्त व्यापक पर्यायवाची शब्द है 'सम्मण अर्थ' 'मण'। इसका अर्थ है जो आत्मा के लिए श्रम करता हो, समर्त वाहा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को साम्याभाव से सहन करता हो, सुख-दुःख में, निन्दा गति में, लाभ-लालाभ में, जन्म-मरण में, निन्दा-प्रशंसा में, सम्मान-अपमान में जी सम्भाव रखता हो उसे श्रमण कहते हैं। ऐसे व्यक्ति समर्त संकल्प-विकल्प तो त्वय कर मन, वचन, काय को निरोध कर आत्मा में श्रमण करने के लिए पुरुषार्थ कहता है। उनका परम लक्ष्य समर्त बाह्य प्रवृत्ति से निवृत्त होकर अन्तरंग प्रवृत्ति करना है। वे वाट-विवाद से भी निवृत्त रहते हैं।

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हृषे लद्धि।

तम्हा वयणविवादं, सगपरसमणहि वजिज्जो॥ 156 पृ. 422 नि.सा.

नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, और नाना प्रकार की निवृत्ती (परिणाम) है इसलिए ख और पर समय सम्बन्धी वचन विवाद वर्जित (विनाश) करना चाहिए।

अनादिकाल से जीव कर्मों से आच्छन्न होकर ख-स्वभाव से च्युत होकर निष्ठेन कर्मों के उदय से एवं उसके क्षयोपशम से उसके विभिन्न प्रकार के भाव होते हैं और वह उन भावों से प्रेरित होकर विभिन्न कार्य करता है। जब तक उसका निष्ठा क्षयोपशम नहीं होता है तब तक उसका तद्योग्य भावना एवं क्रिया भी नहीं होती इसलिए इस गाथा में कुन्द-कुन्द देव ने कहा है कि व्यर्थ वाट-विवाद करके गम हेष नहीं करना चाहिए। यह तो हुआ उत्सर्व-सर्वश्रेष्ठ मार्ग। परन्तु चतुर्थकाल में भी समाज्य तदभव मोक्षगामी जीव भी ऐसे परम साम्यावस्था रूपी अभेद रत्नक्रय में सतत रिथर नहीं रह पाते हैं। अमृतचंद्र सूरि ने प्रवचनसार टीका में कहा भी है-

"अथाविष्णुं समारिकाधिरूपाऽपि श्रमणः कदाविष्टेऽपस्थापनामर्हति" अविष्णु (अनवरत) सामायिक में आरूढ होने पर भी श्रमण कदाविष्ट छेदोपस्थापना के योग्य है, अर्थात् जब अभेद रत्नत्रयरूपी साम्नाभाव नहीं होता है, तब श्रमण भेद रत्नत्रय रूपी मूलगुण एवं उत्तरगुण का पालन करता है, इसे ही छेद गुणस्थानवर्ती साध्यों की शुशोपयोगी क्रिया कहते हैं। कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार में शुशोपयोगी मुनियों के आत्मरण का वर्णन करते हुए अनेक गाथाएँ दी हैं, उनमें से एक गाथा यहाँ उद्धृत कर रहा है-

अरहंतादिसु भृती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।

विज्ञति जदि सामणे सा सुहजुता भवे चरिया॥ 246 प्र. सां. पृ. 589
श्रामण्य में यदि अर्हन्तादि के प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य पाया जाता है तो वह शुभ्रयुक्त वर्या-शुशोपयोगी चारित्र है।

छेद गुणस्थानवर्ती मुनि सराग सम्यक्तृष्टि है, इसलिए मुनि सम्यन्दर्शन के आठ अंग के साथ-साथ अन्य-अन्य गुणों का भी पालन करते हैं। सम्यक्तृष्टि सर्वज्ञ की वाणी में शंका नहीं करता है, धर्म करता हुआ उसके फल स्वरूप ऐहिक फल की इच्छा नहीं करता है, दूसरों के रत्नत्रय से जुगुप्सा (ब्लाग्नि) नहीं करता है, किसी भी मिथ्यामत को स्वीकार नहीं करता है, अर्थात् गुण-दोष का विवेक धारी होता है। खोटी भावना से दूसरों के दोष का उद्घाटन कर उसका तिरस्कार नहीं करता है, धार्मिक व्यक्ति के रत्नत्रय मार्ग से व्युत हो जाने पर उसकी उपस्थापना करता है, धार्मिक व्यक्तियों के प्रति वात्सल्य भाव (धर्म प्रेम, आदर भाव) रखता है, एवं धर्म की प्रभावना करता है। उपर्युक्त गुणों से प्रेरित होकर वह धार्मिक क्रियाएँ भी करता है। प्रभावना अंग का वर्णन करते हुये समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है-

अज्ञानतिमिरत्यापितमपाकृत्य यथायथम्।

जिनशासन माहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना॥ 18 र.शा.पृ. 33

अज्ञानरूपी अनधिकार के विस्तार को दूर कर अपनी शक्ति के अनुसार जिन शासन के अनुसार महात्म्य को प्रकट करना प्रभावना गुण है।

उपर्युक्त कारणों से ही प्रेरित होकर मैंने इस पुस्तक की खना की है। इस खना का उद्देश्य न किसी की जिन्दा करना है, न किसी की प्रशंसा, किन्तु मेरा परिणाम सत्य को उजागर करना है। सत्य से ही सबका उपकार होता है पंचाध्यारी में कहा भी है-

यद्यपि इस पंचाध्यारी ग्रन्थ के खने में अन्तरंग कारण कवि का विशुद्धतर परिणाम है तो भी उस अन्तरंग कारण का भी कारण सबका उपकार करने वाली सुबुद्धि है।

गाँ जीव सुनम उकि द्वारा धर्म सुनना चाहते हैं ऐसी विज्ञापित के होने पर उके लिए इस विषय में यह उपक्रम लाभप्रद है।

इस पुस्तक का अध्ययन करके कोई लक्ष्य हो या संतुष्ट हो, निन्दा करे या उपर्युक्त कारण ललाचे या पृष्ठ-वृष्टि करे, इसकी उपेक्षा करके केवल सत्य को निन्दा करना एवं स्व-पर का उपकार करना ही मेरी उपेक्षा है। कहा भी है-

रसउ वा परो मा वा, विसं परियतउ

भासिरात्वा हिया भासा सपक्षगुण करिया॥ श्वे. साहित्य

ऐसे उपदेश दिया जाता है, वह चाहे रोष करे, चाहे उपदेश को विष रूप तातों परन्तु उपदेशक को हितरूप वरन अवश्य कहना चाहिये।

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हित श्रवणात्।

बुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवित्वा॥ श्वे. साहित्य

उपदेश सुनने वाले सभी श्रोताओं को पुण्य नहीं होता है क्योंकि जो उपदेश आती भावना से सुनता है उसे पुण्य होता है। जो शुभ भावना से नहीं सुनता है उसे पुण्य नहीं होता है, परन्तु जो परोपकार की भावना से अनुग्रह बुद्धि से हितकर उपदेश करता है उसे अवश्य ही पुण्य होता है। अतः मैं "मेरी मति सन्मति हो उमड़ी अनिवार्यता स्वीकार करता हूँ, परन्तु दूसरों की सहमति ही हो उमड़ी अनिवार्यता नहीं है" नीति को स्वीकार करता हूँ।

मैंने जो कुछ इस पुस्तक में वर्णन किया है यह वर्णन वस्तुतः मेरा नहीं है, परन्तु पूर्व आचार्य प्रणीत आगमोक्त सिद्धान्तों का संबंध ही है। छन्दस्थ होने के कारण इस विषय में सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान हम में नहीं है, परन्तु सर्वज्ञ अग्नवान् प्रत्यक्ष दृष्टा होते हैं और उनके द्वारा प्रतिपादित विषय को गणधारित परम्परा आचार्य आगम में लिपिबद्ध करते हैं, वही आगम ही हमारे लिए सम्यन्दर्शन, सम्यज्ञान, एवं सम्यग्यात्रिके लिए कारण बनता है। इसलिए सूक्ष्म जिनोपदेश को स्वीकार करना उमड़ुओं के लिए प्रथम कर्तव्य होता है। कहा भी है-

सूक्ष्म जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिन्नेव हन्यते।

आज्ञासिद्धं तु तद ग्रन्थं नान्यथा वादिनो जिना॥ 11 आलाप पद्धति

असत्य-प्रतिपादन तब हो सकता है, जब वक्ता अज्ञानी, रगीद्वेषी, प्रमादी, जीर्ण अर्थात् प्रतिफलादि की इच्छा रखने वाला हो। किन्तु उपरोक्त दोषों से रहित होने पर मिथ्या प्रतिपादन का कोई कारण नहीं रह जाता है। उपर्युक्त दोषों को जीतने वाले जिनेन्द्र हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है। उस सिद्धान्त का ऐति द्वारा खण्डन नहीं किया जा सकता है। इसलिए उन्हीं के वचनों को आज्ञा सिद्ध मानकर विश्वास करना चाहिए, वर्योंकि जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं होते।

कुण्डकुण्ड देव ने प्रवचन सार में आगम को साधु की चक्षु, आगम के अनुसार चलने वाला सर्वश्रेष्ठ साधु, आगम श्रद्धा सम्यक्कृदर्शन का अभाव आदि महत्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन करते हुए निज्ञ प्रकार कहा है-

आगमचक्रघ्न साहू इंदियाचकखूणि सत्त्वभूदाणि।

देवा या ओहिचकखू सिद्धा पुण सत्त्वदो चक्रघ्न॥ 234 पृ 560

साधु आगम चक्षु है, सर्वप्राणी इन्द्रिय चक्षु वाले हैं, देव अवधिचक्षु वाले हैं और सिद्ध सर्वतः चक्षु हैं।

सत्त्वे आगमसिद्धा अतथा गुण पञ्जएहि वित्तेहि।

जाणंति आगमेण हि पेण्ठिता ते वि ते समणा॥ 235

विवित गुणपर्यायों सहित समस्त पदार्थ आगमसिद्ध हैं। उन्हें श्री वे श्रमण आगम द्वारा वास्तव में देखकर जानते हैं।

एयबगदो समणो एयबग णिच्छिदस्स अत्थेसु।

णिच्छिती आगमदो आगमहेद्वा तदो जेद्वा॥ 232 पृ 554

श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है, एकाग्रता पदार्थों को निष्ठचरावान से होती है, पदार्थों का निष्ठचरा आगम द्वारा होता है इसलिए आगमाभ्यास तथा उसकी प्रवृत्ति मुख्य है।

आगम पुव्वा ठिडि ण हवदि जस्सेह संज्मो तस्य।

णत्थेदि भण्डि सुन्तं असंजदो होदि किध समणो॥ 236 पृ 564

इस लोक में जिसकी आगमपूर्वक दृष्टि(दर्शन) नहीं है, उसके संयम नहीं है, इस प्रकार सूत्र कहता है, और जो असंयत है वह श्रमण कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।

अविजाणांतो अद्वे ख्वेदि कम्माणि किध भिकखू॥ 233 पृ 558

आगमहीन श्रमण आत्मा को और पर को नहीं जानता, पदार्थों को नहीं जानता हुआ शिक्षु कर्मों को किस प्रकार क्षय करे।

ण हि आगमेण सिज्जादि सहहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु। (1/2,237) पृ 566

आगम से यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो सिद्धि नहीं होती, पदार्थों का श्रद्धान करने वाला श्री यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।

तम्हा जिणमग्नादो गुणेहि आदं परं च दव्वेसु।

अशिगच्छतु इच्छादि णिम्मोहं जदि अप्पणो अप्पा॥ 90 पृ 202

इस करण से जो आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता है तो जिन मार्ग से द्रव्यों में से गुणों के द्वारा स्व और पर जानो। अतएव साधु को आगमगिष्ट, आगम प्रमाण

में साधा प्राप्ति कर्तव्य है। वीरसेन स्वामी ने तो धवला एवं जयधवला में अनेक लक्षणों में कहा है कि वह तर्क सुतर्क है, जो तर्क आगम को सिद्ध करता हो सत्य तो नहीं करता हो। परन्तु वह तर्क कुतर्क है जो आगम के विपरीत चलता हो, सत्य तो नहीं होता हो। वीरसेन स्वामी ने धवला में नेमिकन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लक्षणों में, शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना में तथा कई-कई अन्य आचारों में पाणि विषय को अत्यन्त जोर देकर कहा है कि जो व्यक्ति किसी कारणतशतः आगम के विरुद्ध श्रद्धा कर लेता है, परन्तु वह नहीं जानता है कि यह विरुद्ध विषय है तब तक तो वह अन्तरंग श्रद्धा के कारण सम्यक्कृदृष्टिरहता है परन्तु विषय आगम से आगम को दिखाकर पूर्वोक्त सिद्धान्त को आगम विरुद्ध सिद्ध करने वाली छठ्याहिता के कारण, दुराघाटी होने के कारण, अहंकार के कारण या तुच्छ प्राणिद्वय/स्त्राति/पूजा, सम्मान का लोप हो जाएगा इस भय के कारण नहीं मानता है तब वह विद्याण मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यथा-

आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य पुण्णपावं च।

तद एस जिणाणाए सद्हृदित्वा अपरिसेसा॥ 37 भ.आ.आग. पृ 74

आसव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष और पुण्ण-पाप में सातों पदार्थ को उसी विषय जिन्देव की आज्ञा से श्रद्धान करना चाहिए।

समग्रहि सद्हृदि पवयणं णिरामसा दु उवड्हं।

सद्हृदि असब्भावं अजाणमाणो गुणणिओगा॥ 107 ज्य ण.पृ 12 पृ 321

सम्यग्दृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन का वियाम से श्रद्धान करता है तथा स्वरां न जानता हुआ गुरु के विरोग से असद्गृहत अर्थ का श्री श्रद्धान करता है।

सुनादो तं सम्मं दरिसिज्जतं जदा ण सद्हृदि।

सो वेत हवड मिच्छाइष्टि ति तदो पहुडि जीवो॥ 1 इति

ततः सूक्तमाज्ञाधिगमाभ्यां प्रवचनोपदिष्टष्टार्थाऽवैपरीत्यश्रद्धानं सम्यग्दृष्टि लक्षणमिति।

सम्यग्दृष्टि के लक्षण का कथन करने के लिए आये हुए इस गाथा सूत्र के लक्षण का कथन करेंगे। यथा- जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह णिरामसा (निष्ठव्य से ही) उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है इस प्रकार गाथा के पूर्वार्थ में पदों का लक्षण है। उनमें से पत्तराण ऐसा कहने पर उसका अर्थ है- प्रकर्षयुक्त वर्वना प्रत्यक्षण अर्थात् सर्वज्ञ का उपदेश परमागम और सिद्धान्त यह एकार्थवाची शब्द है, वर्तोंकि उससे अन्यतर प्रकर्षयुक्तवर्वन उपलब्ध नहीं होता। अतः इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव गुरु वर्वन को ही प्रमाण करके स्वरां नहीं जानता हुआ श्री श्रद्धान

करता है यह उवत कथन का तात्पर्य है। इस गाथा सूत्र वचन द्वारा आज्ञा सम्यवत्त का लक्षण कहा गया है ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

शंका-अज्ञानवश असद्भूत अर्थ को स्वीकार करने वाला जीव सम्यन्दृष्टि कैसे हो सकता है?

समाधान-यह परमागम का ही उपदेश है ऐसा निश्चय होने से उस प्रकार स्वीकार करने वाले उस जीव को परमार्थ का ज्ञान नहीं होने पर भी सम्यन्दृष्टि परे से व्युति नहीं होती।

यदि पुनःकोई परमागम के ज्ञाता विसंवाद रहित दूसरे सूत्र द्वारा उस अर्थ को यथार्थ रूप से बतलावे फिर भी वह जीव असत आग्रहवश उसे स्वीकार करता है तो उस समय से लेकर वह जीव विरुद्ध मिथ्यादृष्टि पद का भागी हो जाता है वर्णोंकि वह प्रवचन विरुद्ध बुद्धिवाला है यह परमागम का निश्चय है। कहा भी है सूत्र से समीकीन रूप से दिखलाये गये उस अर्थ का जब यह जीव श्रद्धान नहीं करता है तो उस समय से लेकर वही जीव मिथ्यादृष्टि होजाता है। इसलिये यह ठीक कहा है कि प्रवचन में उपदिष्ट हुए अर्थ का आज्ञा और अधिगम से विपरीतता के बिना श्रद्धान करना सम्यन्दृष्टि का लक्षण है। इस गाथा सूत्र में जो यह बतलाया है कि सम्यन्दृष्टि जीव सर्वज्ञ वीतरण देव द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो नियम से श्रद्धान करता है। किन्तु कठावित् स्वतं न जानता हुआ गुरु के निमित्त से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है। उसका यह अर्थ नहीं है कि सम्यन्दृष्टि जीव को जीवाति नौ पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को छोड़कर गुरु के निमित्त विपरीत रूप से भी उनकी श्रद्धा हो जाती है। किन्तु उवत कथन का इतना ही तात्पर्य है कि जिनागम में जिन सूक्ष्म अर्थों का विवेचन हुआ है, कठावित् गुरु के निमित्त से उनमें से किसी एक का विपरीत ज्ञान हो जाय और अविसंवादी शास्त्रान्तर से जब तक सम्यक् अर्थ की प्रतिपत्ति का योग न मिले तब तक वह वैसी श्रद्धा करता हुआ भी सम्यन्दृष्टि ही है। हाँ, यदि उस समय कोई विशेष ज्ञानी अविसंवादी दूसरे शास्त्र से उसे उवत विषय का सम्यक् परिज्ञान करा दे, फिर भी वह अस्त् वश अपनी छठ न छोड़े तो उस समय से लेकर वह नियम से मिथ्यादृष्टि हो जाता है ऐसा यहाँ स्पष्ट रूप से समझना चाहिए।

मिथ्यादृष्टि नियम उवङ्कुं पवराणं ण सदृष्टि।

सदृष्टि असब्लावं उवङ्कुं वा अणुवङ्कुं। 108 ज.धापू. 12 पृ. 322

मिथ्यादृष्टि जीव नियम से उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता है तथा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भूत अर्थ का श्रद्धान करता है। मिथ्यादृष्टि के लक्षण का कथन करने के लिए आये हुए इस गाथा सूत्र के अर्थ का कथन करते हैं यथा

जो लिखा गया मिथ्यादृष्टि जीव है वह 'नियम' निश्चय से उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता है।

शंका-उसका क्या कारण है?

गम्भान-वर्णोंकि वह दर्शन मोहनीय के उदय से विपरीत अभिनिवेश वाला नहीं है और इसलिए 'सदृष्ट असब्लाव अपरमार्थ स्वरूप असद्भूत अर्थ का ही श्रद्धान नहीं है वह उक्त कथन का तात्पर्य है। वह दर्शन मोहनीय के उदय से 'उवङ्कुं करना' अर्थात् उपदिष्ट या अनुपदिष्ट दुर्मार्ग का ही श्रद्धान करता है यह उवत कथन का तात्पर्य है। इस गाथा सूत्र वचन द्वारा व्यूद ग्राहित और इतर के भेद से मिथ्यादृष्टि के दो भेदों का प्रतिपादन किया गया जानना चाहिए।

इस गाथासूत्र में मिथ्यादृष्टि जीव के स्वरूप का निरूपण किया गया है। यहाँ प्रत्यन शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण कर आये हैं। जो सर्वज्ञ देव का उपदेश ही नहीं प्रत्यन कहलाने का अधिकारी है अन्य नहीं। अतः मिथ्यादृष्टि जीव परमार्थ के ज्ञान से रहित होता है, अतः उसके प्रवचन का श्रद्धान किसी भी अवस्था में नहीं होता। वह कुमारियों के द्वारा उपदिष्ट हो या अनुपदिष्ट मिथ्या मार्ग का ज्ञान ही श्रद्धान करता रहता है, इसलिए उसे मिथ्या मार्ग ही रहता है, सम्यक्मार्ग नहीं। यह उवत कथन का तात्पर्य है। यहाँ ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव के तीन भेद किये गये हैं।

संशरिक मिथ्यादृष्टि, अभिग्रहीत मिथ्यादृष्टि और अनभिग्रहीत मिथ्यादृष्टि, जो पदार्थ है या नहीं है इत्यादि रूप से जिसका श्रद्धान दोलायमान हो रहा है तब संशरिक मिथ्यादृष्टि जीव है जो कुमारियों के द्वारा उपदेश दिये गये पदार्थों के ज्ञानार्थी मानकर उनकी उस रूप में श्रद्धा करता है वह अभिग्रहीत मिथ्यादृष्टि जीव है और जो उपदेश के बिना ही विपरीत अर्थ की श्रद्धा करता आ रहा है वह अनभिग्रहीत मिथ्यादृष्टि जीव है।

पदमक्खरं च एककंपि जो ण रोचेदि सुतणिष्ठिं।

सेसं रोचंतो तिहु मित्तादिष्ठिं मुण्येयव्वो॥ 38 भ.आ.सं. 1 पृ. 16

जिसे पूर्वोक्त सूत्र में कहा एक भी पद और अक्षर नहीं रहता, शेष में रखी हुए भी निश्चय से उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए। 'पद' शब्द से पद का अधिकारी पद का अर्थ कहा गया है। अक्षर से थोड़े शब्द लिए गये हैं, थोड़ा सा भी नहीं अत्या शब्द श्रुत जो आगम में कहा गया तब जिसे नहीं रहता और शेष आगम रहता भी हो, तब भी उसे मिथ्यादृष्टि ही जानना। जैसे बड़े कुण्ड में भ्रे हुए बहुत गुण को भी विष का कण दूषित कर देता है उसी प्रकार अश्रद्धान का एक कण भी जाना को दूषित कर देता है।

मोहोदयेण जीवो उवङ्गं पवयणं ण सदहृदि।

सदहृदि असद्भावं उवङ्गं अणुवङ्गं वा॥३९॥

मोह के उदय से जीव उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता, किन्तु उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट असमीकीन भाव अर्थात् अतत्त्व का श्रद्धान करता है।

सूत्र में अध्याहर किया जाता है अर्थात् अन्यत्र से कुछ पद लिये जा सकते हैं। अतः अध्याहर के साथ इस प्रकार पदों का सम्बन्ध मिलना चाहिये जो जीव उपदिष्टप्रवचन को मोह के उदय से श्रद्धान नहीं करता और उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव श्रद्धान करता है वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ मोह से दर्शनमोहनीय कर्म लेना। उसमें मध्य के समान श्रवित होती है। जैसे मध्य का सेवन बुद्धि को मन्द और विपरीत कर देता है वही दशा इस दर्शन मोहनीय कर्म की है।

जो जीव अर्हन्त आदि के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन अर्थात् आप्त, आगम और पदार्थ इनकी श्रद्धा रखता है, साथ ही उनके विषय में असद्भाव अर्थात् अतत्त्व भी स्वरां के विशेष ज्ञान से शून्य होने से केवल गुरु के नियोग से कि जो गुरु ने कहा वही अर्हन्त अगतान् की आज्ञा है श्रद्धान करता है वह भी सम्यन्दृष्टि ही है। अर्थात् अपने को विशेष ज्ञान न होने से गुरु भी अल्पज्ञानी होने से वस्तु स्वरूप अन्यथा कहे और यह सम्यन्दृष्टि उसे ही जिनाज्ञा मानकर अतत्त्व का श्रद्धान कर ले तब भी वह सम्यन्दृष्टि ही है, क्योंकि उसने जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं किया।

सुतादो तं सम्मं दरिसिज्जतं जदा ण सदहृदि।

सो वेव हवङ मिथ्यादृष्टी जीवो तदो पहुडि॥ २१॥

तथा असदर्थश्रद्धानः आज्ञासम्यग्न दृष्टिजीवोयदा कुशलाचार्यान्तरैः। प्रावतनदगृहीतासदर्थ रूप विरपरीतत्वं गणधारदिकथितसूत्रं दशर्थित्वा सम्यवप्यरूपमाण तत् दुराग्रहादेशेन न श्रद्धाति तदा प्रभृति स जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति। सूत्राश्रद्धानेन आज्ञातिक्रमस्य सुप्रसिद्धत्वादेव कारणात्।

उत्त प्रकार से असद् अर्थ का श्रद्धान करता हुआ आज्ञासम्यन्दृष्टि जीव जब अन्य कुशल आवार्यों के द्वारा पूर्व में उसके द्वारा गृहीत असत्यार्थ से विपरीत तत्त्व गणधर आदि के द्वारा कथित सूत्रों को दिखाकर सम्यक् रूप से बतलाया जावे और फिर भी वह दुराग्रह वश उस सत्यार्थ का श्रद्धान न करे तो उस समय से वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है, क्योंकि गणधर आदि के द्वारा कथित सूत्र का श्रद्धान न करने से जिन आज्ञा का उल्लंघन सुप्रसिद्ध है। इसी कारण वह मिथ्यादृष्टि है।

सम्यन्दृष्टि सज्जन गुणग्राही होता है। वह यजहंस वत् मिथ्रित क्षीर-नीर से नीर को अलग करके क्षीर को ब्रह्मण करता है। इसके विपरीत तुर्जन, दुराग्रही जौक के समान द्रुध से भ्रे थन से भी द्रुध ब्रह्मण न करके द्रुष्टि रक्त को ब्रह्मण करता

है। जो जीव अनुसार ही वस्तु स्वरूप को जानता है, प्रतिपादन करता है। कहा है कि उमाती मनुष्य ने जो पक्ष निश्चित कर रखा है वह युवित को उसकी ओर ले जाना चाहता है किन्तु जो आश्रह रहित होकर निष्पक्ष दृष्टि से विवार करना चाहता है। वह युवित का अनुसरण करके उसके ऊपर विवार करता है और तदनुसार उसी रूप का निश्चय करता है।

मात्राति कालिदास ने कहा-

मतः परीक्षान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययेन्य बुद्धि जो मूढ होते ही वह की बुद्धि के अनुसार चलते हैं। मनुष्य एक अनुकरण प्रिया जीव है किन्तु उसी मध्य में सत्य-असत्य का विवेक नहीं होता है वह अन्य असम्यक् प्रवृत्ति का अनुकरण कर लेता है। ज्ञान की दृष्टि में जो सत्य है वह मेरा किंतु जो मेरा है उसी मतीता है। इस प्रकार दृष्टिकोण नहीं रहता है।

मैंने जो इस पुस्तक में कुछ पूर्वार्थों के मतों का संकलन किया है उस मत में तो किसी प्रकार की गलती नहीं है। मैंने जान बुझकर किसी भी प्रकार आगम तित्व विद्वान् तथा का प्रतिपादन नहीं किया है मेरा किसी से पक्षपात नहीं है और न तो प्रति कोई पक्षपात करे।

पक्षपातो न मे वीरि न द्वेषः कपिलादिषु।

सुग्रिमद्वन् यस्य तस्य कार्यः परिण्ठः॥ १८॥ (लोकत्व निर्णय)

मेरा वीर जिनेन्द्र में पक्षपात नहीं है एवं कपिलादि में द्वेष नहीं है। किन्तु उसका वह युक्तियुक्त, तर्क संगत, परस्पर अविरोध, यह लोक और परलोक तित्वारी है, उन्हीं का वहन ब्रह्मण करने योग्य है, अन्य का नहीं।

सम्यन्दृष्टि सत्यार्थ को मानने के कारण एवं जानने के कारण यह ज्ञानार्थी के प्रतिपक्ष मिथ्या धर्म को भी जानता है, किन्तु मानता नहीं है। सम्यन्दृष्टि सम्यज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञानी होने के कारण वह सम्यार्थ लप्ती कसौटी में धर्म या ज्ञानाना का परीक्षण करके उसके यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करता है

यथा चतुर्थिः कनकं परीक्षयते निघर्णाच्छेदनतापनाडनैः।

तथैव धर्मो विदुषा परीक्षयते श्रुतेन शीलेन तपो दया गुणैः॥

जैसे रनपरीक्षक, स्वर्णकार सुवर्ण की परीक्षा के लिए स्वर्ण को कसौटी में छेदन करता है, छेदन करता है, अग्नि में तपाता है तथा ताडन करता है उसी प्रकार तापज मनीषी विद्वान्, धर्म की परीक्षा सत्यश्रुतज्ञान से, शील से, तप से, दया गुण से करने के उपरान्त यदि वह धर्म सत्य-परीक्षित होता है तब उसे स्वीकार करता है अन्यथा वह उसे स्वीकार नहीं करता है।

पूर्वार्थों ने भी श्रुतज्ञान को प्राधान्य करके निर्मल हृदय से तर्क की कसौटी

पर कस कर स्व-पर आत्मकल्याण के लिए आगम की रचना की है इसके लिए प्रमाण है। पूज्यपाद स्वामी रवित समाधि तंत्र का तृतीय श्लोक यथा-

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति, समाहितान्तः करणेन सम्यक्।

समीक्ष्य कौवल्यसुखस्पृष्ट्याणां, विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये॥(3)सं.तं.पृ.7

सिद्ध तथा अहंत भगवान् को नमस्कार करने के पश्चात् मैं (श्रुतेन) आगम से, (लिंगेन) हेतु-युक्ति द्वारा (समाहितान्तः करणेन) अपने वित को रिथर करके, (यथात्मशक्ति) अपनी शक्ति अनुसार (सम्यक् समीक्ष्य) अच्छी तरह जानकर (कौवल्यसुखस्पृष्ट्याणां) शुद्ध आत्म सुख के इच्छुक जीवों के लिए (विविक्तं आत्मानं) शुद्ध आत्म-तत्त्व को (अभिधास्ये) मैं कहूँगा।

इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य

जैसा कि यदि दूध ऊफनते हुए नींवे गिरता है तो थोड़ा सा पानी ऊफनते हुए दूध के ऊपर डाला जाता है तब दूध उस बर्तन में ही समाकर शान्त हो जाता है वैसा ही मैं जैन समाज के ऊफनते हुए अनेक समस्याओं के समाधान के लिए 24-25 वर्षों से सतत सत् प्रयासरत हूँ जिससे मुझे अनेक क्षेत्रों में सफलता मिल रही है। इस पुस्तक का उद्देश्य जैन धर्म की आन्तरिक समस्याओं के समाधान के लिए आगमोत्त, निष्पक्ष, आचार्य शान्तिसागर जी की परम्परानुसार, युगानुकूल, सन्दर्भ-सत्यग्राही प्रयास है।

नाम उल्लेख का कारण-इस पुस्तक में मुनि सुधासागर जी संसंघ का उल्लेख इसलिए किया हूँ कि जिस से सब को ज्ञात हो कि वे आगम, एवं आ. शान्तिसागर जी की परम्परा के नाम पर कैसे उनके भी विरुद्ध में कथनी-करनी करते हैं प्रायः इनके संघ अन्य संघ को समुचित आदर नहीं देते हैं और अपने संघ को ही आगमानुकूल मानते हैं इसलिए भी संघ का नामोल्लेख किया हूँ। और इसके साथ-साथ गलती करने वाले साधु से लेकर श्रावकों को अपनी गलतियों का ज्ञान हो और स्व-पर-धर्म-समाज-राष्ट्र-विश्व के कल्याण के लिए उन गलतियों को सुधारे। नामोल्लेख नहीं करने से यह मेरी मायाचारी होगी। प्रायशित ग्रन्थ के अनुसार गुप्त (अप्रसिद्ध) दोषों का प्रायशित गुप्त में हो और प्रसिद्ध (प्रकट) दोषों का प्रायशित तदनुकूल हो। इस पुस्तक में वर्णित दोष तथा निराकरण प्रसिद्ध है इसलिए नामोल्लेख किया है। अप्रसिद्ध दोष और लोगों से सुने हुए दोषों का वर्णन इस में नहीं किया है।

मेरी उदात्-पवित्र आवना-मेरा किसी भी साधु-आचार्य, आचार्य संघ से कुनौ, हेम, पृणा नहीं है किन्तु धार्मिक पवित्र आवना से दोषों के परिहार, शान्ति, शान्ता, एकता, आगम की रक्षा, आ. शान्तिसागरजी, आ. आदिसागर जी, आ. महातीर जी, आ. धर्मसागर जी, आ. विमल सागर जी से लेकर आ. भरत सागर जी आदि के पास समान हो इस दृष्टिकोण से इस पुस्तक की रचना की है। हमारे विशाल (40-50 साधु-साधी) और भी अनेक संघ के साथ-साथ आ. विद्यासागर जी की विद्या वहिन (ब्र. सुवर्णा, ब्र. शान्ता), अनेक आर्थिका माता जी, ब्रह्मारिणियों की दो वर्षों से लेकर महिनों, दिनों हमारे संघ में वात्सल्य भाव से रखकर 27-28 वर्षों से मध्य-मध्य में अध्यापन करता हूँ। मेरे माहित्य मंगवाकर आ. विद्यासागर जी नाम अध्ययन करते हैं। अनेक वर्षों से (11-12) अनेक आचार्य, साधु-साधी, विद्यार्थी, व्रह्मारिणी, विद्वान्, श्रेष्ठी, समाज के मुख्य कर्त्तव्यार्थी भी (आचार्य विद्यासागर की सांसार्य भी) मेरे पास आकर इन सब समस्याओं के समाधान के लिए मार्ग दर्शन, गतिशील, समर्थन, आशीर्वाद चाह रहे थे। इन सब कारणों को लक्ष्य में रखकर इस पुस्तक की रचना की है। तथा समस्त आगम, तीर्थकर, पूर्वाचार्य, पूर्व पूजादि परम्परा की लोगों पर भी अभी के पंथ-मत की थोड़ी सी भिन्नता से ऐसी विषमता न हो इस लोगों का सब की भलाई है।

समस्याओं के निराकरण के उपाय-पथ् आचार्य भरत सागर जी पृष्ठ विमलसागर जी गुरुदेव तथा उनके भक्तों के लिए मुनि सुधा सागर ने जो नामोल्लेख, अप्रिय वचन आदि बोले उसके लिए तो भरी सभा में मुनि सुधासागर जी क्षमा गण तथा उन शब्दों को वापिस लें। वर्णोंकि उन्होंने यह विषया सभा में कहा है। उनके साथ-साथ पूर्व में भी जिनजिन आचार्यों, साधु-संतों, आर्थिकाओं से लेकर उनकों को भी कठोर, अप्रिय वचन बोले हैं- उनसे भी क्षमा मांगे और शब्दों को वापिस लें। वर्णोंकि शिष्यों के दोष केवल स्वगुरु को ही शिष्यों को प्रायशित ग्रन्थ की अनुसार बताकर प्रायशित देने का अधिकार है दूसरों को सार्वजनिक रूप से बोलना बड़ा दोष, कठोर प्रायशित (संघ निष्कासन भी) के भावी है। इतना ही नामोल्लेख नहीं है। जो आगम के नाम पर और आ. शान्तिसागर जी की परम्परा के नाम पर उनका भी विरोध-कथनी-करनी से करते हैं वह सब करना बन्द करे। इसके नाम-साथ प्राचीन मन्दिर, मूर्ति, प्रशस्ति, जिनशासन-यक्ष-यछाणी की मूर्ति, शिलालेखों की जिरोंद्वार के नाम पर जो तोङ-फोङ कर के परिवर्तन कर रहे हैं- जिससे उसकी प्राचीनता, गौरव, परम्परा, पूजनीयता आदि खण्डित होने के साथ-साथ समाज भी खण्डित-विखण्डित स्थान-स्थान पर 10-15 वर्षों से हो रहा है वह भी बन्द करे। वह सब सभा में उन्हें (मुनि सुधासागर जी) को स्वीकार है ऐसा बोलना चाहिए और

आगे ऐसा नहीं हो यह भी सुनिश्चित हो। आ. विद्यासागर जी संघ भी जो आगम प्रतिकूल कथनी-करनी करते हैं- उसे तो स्वयं बन्द करे तथा अपने शिष्य एवं श्रावकों को भी अयोध्या कथनी-करने से रोकें जिससे स्व-पर-संघ-समाज-राष्ट्र-विषय में शान्ति-समता-प्रेम-एकता हो वयोंकि उनके शिष्य उनके नाम एवं प्रभाव पर यह सब करते हैं।

आ. श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव
सागवाड़ा 2.11.2006 (प्रथम संस्करण)

आकांक्षी-निरोदक-समर्थक

टिगम्बर जैन समाज (सागवाड़ा-मेवाड़-बागड (राज.))

मार्गदर्शक प्रेरक-आ. कनकनन्दी जी संसंघ

आशीर्वाद-ग.ग. आचार्य कुन्थुसागर जी के विशाल संघ

समर्थक-अनेक साधु संघ एवं श्रावक-गण

क्रान्ति के बीज उगाना है

रचयिता-आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव
(प्रस्तुति-थमणी क्षमा श्री)

(वाल : 1. वंदन है इस देस का....., 2. बिन गुरु ज्ञान नहीं 2 है....)
मनोशुभूमि पर आज क्रांति के, बीज सभी को उगाना है।

सत्य सम्या के प्रांगण में, शांति के फूल खिलाना है॥(स्थारी)...

अन्याय न करना, न्याय पे चलना, सदा यही उद्देश्य रहे।

निजपर के गौरव को बढ़ाने, क्रांति सत् समता की करे।

धन से धर्म की रक्षा करना, कभी न मान बढ़ाना है। 1(मनोशुभूमि..)

धनी को ही धर्मी न समझो, भावों का सम्मान करो।

बाह्यक्रिया का ढोंग दिखाकर, धर्म की हत्या नहीं करो॥

जिन की पूजा पाठ से हमको, निज को जिन बनाना है। 2(मनोशुभूमि...)

साधना, साध्य और लक्ष्य न भूलो, रहे सदा सब में शुचिता।

रुदि, पारखंड, मतवादों को तज, याओ सत्-निर्मलता॥

सत्य-सम्यम्य-निज आत्म को, आहत कभी न करना है। 3(मनोशुभूमि..)

मिथ्या, ढोंगी, ठंगों से बचना, नहीं हमें ठग जाना।

दीप-शिखा सम ज्योति बनकर, मिथ्यात्म को है छरना॥

सत्यग्राही बन, कठोर तज्ज सम, पारदर्शी बन जाना है। 4(मनोशुभूमि...)

पृष्ठ सा कोमल हृदय हमारा, जिसमें सुरक्षि की धारा।
हरि सम चमके तेज हमारा, हो व्यक्तित्व अति व्यापा।
लाला प्रशंसा और निंदा से, विचलित कभी न होना है। 5(मनोशुभूमि...)
हित के मार्ग पे चलके, करे त्याग-मय हम चर्चा।
आज आज जिन वरनों की, होनी तब घर-घर चर्चा॥
आज आज की आज धर्जा ले, "कनक" क्रांति को लाना है। 6(मनोशुभूमि...)

स्वाध्याय परम तपः

स्वाध्याय का स्वरूप एवं फल

-आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव

1. छोटी छोटी गैरा..... 2. सायोनारा..... 3. तुम दिल की धड़कन....)

आशयन हेतु, अध्ययन आगम का, होता परम तप है।

दीप-मोह कीरण जब होता, होता परम तप है॥ (स्थारी)॥

दर्पण में देह प्रतिबिम्ब दिखे, तथाहि आगम से आत्म का।
स्व-आत्म गुण दोष अध्ययन ही, परम लक्ष्य स्वाध्याय का।

आगम सर्वज्ञ कथित, गणधर ग्रन्थित होता है।

परागार्वार्य द्वारा रचित, सापेक्षा कथन होता है॥(1)

द्रव्य तत्त्व व पदार्थों का, जब परिज्ञान होता है।
द्रव्य-गुण-पर्याय सहित, आत्म-परिज्ञान(भी) होता है॥

को जब जाने सिद्ध समान, सच्चिदानन्दमय है।

आत्म-ब्राव-नोकर्म विवर्जित, शुद्ध बुद्ध आनन्दमय है॥(2)

स्व-स्वभाव की प्राप्ति हेतु, जब अध्ययन करे आगम है।
पञ्चेन्द्रिय विषयों से रहित, एकछत्रा समता सहित है॥

ज्ञाति पूजा लाभ से रहित, संकल्प-विकल्प से रहित है।

पूर्णा तृष्णा विवर्जित, संवलेश-द्वन्द्व से रहित है॥(3)

पर निन्दा अपमान रहित, उदार वास्तव्य सहित है।

स्व-पर-विश्व कल्याण भ्राव युत, संवेग-तैराज्य सहित है॥

ब्रह्म-पूर्वांशों से रहित, प्रमाण नय सापेक्ष सह है।

नोकन्तमय उदार दृष्टि से, सत्य-तथ्य ग्रहण करता है॥(4)

आर्त रौद्र परिणाम विवर्जित, विनय शुद्धता सहित है।

इह-परलोक भोगाकांक्षा रहित, लोकनुरुज्जन से रहित है॥
 ढोंग-पाखण्ड-मारावार रहित, मट-मत्सर से रहित है।
 युक्तियुक्त कर्त्ता-कारण सहित, कुतक मिथ्यानय रहित है॥(5)
 आगम में पाप-पापियों का वर्णन, होता बहुविध प्रकार है।
 इसे जानकर पाप त्याग हेतु, पाप फल वर्णन (होता)प्रधुर है।
 राग-द्वेष-मोह-विषय-कषय, पञ्च पाप सप्त व्यासन है।
 इनके सेवक जीव होते हैं पापी, एकेन्द्रिय से असंज्ञी तक जीव है॥(6)
 ऐसा ही अजीव द्रव्यों का वर्णन, होता है तत्त्व परिज्ञान हेतु।
 धर्माधर्म पुद्गल आकाश काल का, वर्णन है तत्त्वशङ्कान हेतु॥
 यह स्वाध्याय है परम तपस्या, ज्ञान ज्योति उद्योतनकर है।
 पाप विनाशक पुण्य सम्पादक, संवर-निर्जरा कारक है॥(7)
 तीर्थकर गणधर वृक्षधर, वासुदेव इन्द्र महर्दिक दराक है।
 शुद्ध बुद्ध परमानन्द दराक, 'कनक' भी 'स्वाध्याय' आराधक है॥(8)

स्वाध्याय परमतप क्यों ?

-आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव

(वाल : छोटी छोटी गैया.....)

स्वाध्यायरत साधु महान् तपस्वी, स्वाध्यायी समान न अन्य तपस्वी।
 भूत-वर्तमान व भविष्यत काल में, स्वाध्याय सम फल न अन्य तप में॥1.1
 स्वाध्याय है ख-आत्म अध्यायन, विषय-कषय-रित आत्म का ज्ञान।
 अष्ट-शुद्धि युवत व विनय सहित, पंचविध स्वाध्याय ख-पर-हित युत॥2.2
 स्वाध्याय से बहुविध होते हैं लाभ, अज्ञान निवृति व ज्ञान का लाभ।
 हितब्रह्मण व अहित निवारण, नवीन-नवीन संवेग-वर्द्धन॥3.3
 पंचेन्द्रिय निरोध व त्रिगुप्ति गुप्त से, स्वाध्याय होता है एकाग्रमन से।
 असंख्यात्मगुणी कर्म निर्जरा होती, सातिशयपुण्य प्रकृति बन्धती॥4.4
 लाख करोड़ों भ्रों में अज्ञानी जीव, जितने कर्मों को करता विनाश।
 ज्ञानी-मुग्नि उस कर्म पुंज को, अन्तर्मुहूर्त में ही करते विनाश॥5.5
 सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता, ध्यान अध्यायन मुख्य मुग्नि का होता।
 अध्यापन व प्रवचन उत्तम होते, ज्ञान/(धर्म) का प्रचार प्रधुर होता॥6.6

जीत व प्रभावना उत्तम होती, ज्ञान-ज्योति भी प्रधोत होती।
 जीत धर्मतीर्थ होता प्रवर्तन, मोक्षमार्ग का न होता विच्छेदन॥7.7
 विनय से जो स्वाध्याय करता, प्रमाद से यदि विस्मृत होता॥
 तथापि परभव में सुफल देता, केवलज्ञान को प्रगत करता॥8.8
 जीतकर केवली व गणधर होता, बहुश्रुत आचार्य उपाध्याया होता।
 जीतपूर्णद्विः से श्रेणी आरोहण होता, कर्मों को नाशकर सिद्धत्व पाता॥9.9
 अतएव ज्ञानदान महान् दान, सर्वज्ञ तीर्थकर भी करते जो दान।
 अतएव ज्ञानदान देय व ग्राहा, 'कनकनन्दी' को भी लगे ये श्रेय॥10.10
 हिरण्मगरी सेवटर 11, दि. 7-1-2015, रात्रि-8.24

धार्मिक के तीन-लक्षण

(सत्य-समता-शान्ति-धार्मिक के तीन लक्षण)

-आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव

(लक्षण : सावन का महीना...../शिलमिल सितारों का.....)
 लक्षण तक मानव न उटार होता, तब तक मानव न सत्यग्राही बनता।
 लक्षण तक मानव न सत्यग्राही बनता, तब तक मानव न धार्मिक होता॥1.1
 लक्षण ही सर्वश्रौम नीति-नियम, राजनीति कानून व संविधान।
 लक्षण-परमात्मा व विश्व स्वरूप, सत्त्वा धर्म का भी निज/(शुद्ध)स्वरूप॥2.2
 लक्षण तक मानव न सम्य धरेगा, तब तक मानव न धार्मिक होगा।
 लक्षण में समाहित है क्षमा मृदुता, सरल-सहजता व शुचि नम्रता॥3.3
 लक्षण गदोह-शान्ति-सहिष्णुता, समर्त जीवों में एक समानता।
 लक्षण अहिंसा का सत्त्वा स्वरूप, समता में समाहित शुद्धात्मा रूप॥4.4
 लक्षण को यदि मानव न सेवेगा, तब तक मानव न धार्मिक होगा।
 लक्षण है जीवों का परम गुण/(स्वभाव), शान्ति पाना हर जीव का भाव(लक्षण)॥5.5
 लक्षण समता बिना शान्ति न मिलती, धन-जन-मान से भी शान्ति न मिलती।
 लक्षण समता से ही शान्ति मिलती, शान्ति बिना व्यर्थ सर्व उपलब्धि॥6.6
 लक्षण है धर्म का उत्तम फल, सत्य-समता से मिलता यह फल।
 लक्षण समता-शान्ति है परम धर्म, 'कनकनन्दी' का आमिक धर्म॥7.7
 हिरण्मगरी सेवटर 11, दि. 8-1-2015, अपराह्न-4.13

नव कोटि से स्वात्म भावना ही सर्वोत्तम

-आचार्य कनकनंदी गुरुदेव

(चाल : तुम दिल की धड़कन.....)

उत्तमा स्वात्मचिन्तास्यानमोहिनिंता च मध्यमा।

अधमा कामचिन्तास्यात् परचिन्ताऽधमाधमा॥ (व. परमानंद स्तोत्र)

हिन्दी- उत्तम स्वात्म विन्ता है, मोह विन्ता है मध्यमा।

अधमा काम विन्ता है, पर विन्ता अधमा अधमा॥

अविद्यामिदुरं ज्योति, परं ज्ञानमयं महत्।

तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद द्रष्टव्यं मुमुक्षुग्नि॥(49) इष्टोपदेश

हिन्दी- अज्ञान नाशक ज्ञान प्रकाशक, आत्मज्योति है अतिमहान्।

उसके लिए ही करो जिज्ञासा, उसे ही चाहो उसे ही पाओ॥

तद ब्रुयात्तपरान्तर्छेत् तदिच्छेत्तपरो भवेता।

येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥ इउप. 196

हिन्दी- उसे ही बोलो उसे ही पूछो, उसे ही चाहो उसे ही पाओ/(तैसे ही बनो)।

जिससे अज्ञान रूप से त्यागकर, विद्यामय रूप पाओं/(विद्यामय रूप बनो)॥

समीक्षा- आत्मचिन्ता है सबसे उत्तम, जिससे मोह का होता विनाश।

जिससे होते हैं आत्म विश्वास, ज्ञान चारिका का भी होता विकास॥

उसे ही कहते हैं रत्नत्रय जो, मोक्ष के कारण महाल्।

आत्मज्ञान व आत्मध्यान के माध्यम से मानव बनो है भगवान्॥।

मोहिनिंता को मध्यम कहा, मोह जानकर उसका त्याग।

बिन जानते दोष गुण को, कैसे ग्रहण व कैसे हो त्याग॥।

अधम कामचिन्ता है जिससे, आसक्ति ही होती है वृद्धि।

तृष्णा उत्पातक व बन्धकारक, संसार चक्र की होती (है) वृद्धि॥।

परचिन्ता है अधमा-अधमा, पर हेतु जो रग्देष करे।।

पर निन्दा अपमान करे व ईर्ष्या धृणा व मोह करे॥।

इससे होते हैं वाद-विवाद, कलह विसंवाद युद्ध हत्या।

होते हैं अनेक अनर्थ काम, अतएव पर विन्ता अधमाधमा॥।

परन्तु अज्ञानी मोही जीव, करते हैं विपरीत भाव व काम।

आत्म विन्ता तो नहीं करते, शेष तीनों विन्ता के करते काम॥।

अष्ट मट सप्तव्यसन सेवते, करते क्रोध लोभ माया(ओण)।

आत्मचिन्तक को बलत मानकर, बान्धते पापघोर तम॥।

गुण-गुणी निन्दक होते महापापी, बान्धते वे होर धाति कर्म।।

जिससे संसार में मिले नाना दुःख, अतएव अकरणीय पाप कर्म॥।

गुण-गुणी प्रशंसा व अनुग्रहना से, होता है पाप कर्म क्षीण।।

अतएव आत्म गुण-गुणी प्रशंसा, करने हेतु 'कनक' करे सदा मन॥।

हिरण्मगरी सेवटर 11, दि. 18-11-2014, रात्रि प्रथम प्रहर

(सामिक-मनोवैज्ञानिक शोधपूर्ण कविता)

अंकारी-ममकारी=अन्धश्रद्धानी, इससे परे सत्यश्रद्धानी

(अंकार-ममकार करने वाले अन्धश्रद्धानी

(मिथ्यादृष्टि), इससे परे सम्यग्दृष्टि)

-आचार्य कनकनंदी गुरुदेव

(चाल : छोटी छोटी गैया....)

भाषा- जे पज्जरेसु पिरदा जीवा परसमयिग ति पिंडिता।

आदसहावमि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा॥ (94) प्रववनसार

वीका- मनुष्यादिल्पोऽहमित्यहडकारे भण्टते मनुष्यादिशरीरं तच्चरीराधारेत्पनन-
पञ्चेनिद्र्यविष्वासुखस्वरूपम् व ममेति ममकारो भण्टते... मिथ्यादृष्टयो

हिन्दी- जो पर्याय में निरत जीव है, उसे परसमय/(मिथ्यादृष्टि) कहते।
जो आत्मस्वभाव में स्थित जीव (है), उसे स्व-समय/(आत्मधर्म) कहते॥।

संस्कृत- सच्चिदानन्द है जीव-स्वभाव, यह ही जीव का स्वधर्म है।
इससे भिन्न राग-द्वेष-मोह, शरीर आदि पर धर्म है॥ (1)

स्व-शुद्धात्मा का शुद्धान ही, परम निष्ठत्व से सम्यकत्व है।
इसे ही कहते हैं सम्यग्दर्थन या, आत्मविश्वास सत्य श्रद्धान है॥ (2)

मनुष्य आदि अवस्था तो, कर्मजनित अशुद्ध पर्याय है।
इसे अपना स्वरूप मानना, निष्ठत्व से अन्धश्रद्धान है॥ (3)

मै हूँ बालक युवक प्रौढ़ काला गोरा सुन्दर असुन्दर।
मोटा दुबला नाटा लम्बा, मानना अन्धविश्वास है॥ (4)

मनुष्यादि शरीर को या उसके, आधारभूत इन्द्रियसुख को।

मेरा मानकर लीन होना ममत्व, प्रगटाये मोह भाव को॥ (5)
 सत्ता-सम्पत्ति-प्रसिद्धि भोग त, उपभोग में ममत्व करता है।
 इसके कारण रागद्वेष व, अन्याय-अत्याहार करता है॥ (6)
 अहंकर-ममकर में लीन जीव, न मानता आत्म-स्वभाव को।
 जिससे जीव होता (है) मिथ्यादृष्टि, न जाने सत्य व आत्मा को॥ (7)
 अहंकर के कारण करता अष्ट मद, जो तन-मन-धन आदि आश्रित है।
 ईर्ष्या-धृणा-तृष्णा सहित होकर, करता आङ्गम्बर व दिखावा है॥ (8)
 ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि वाहता, जिस हेतु करता काम है।
 पढ़ाई-बढ़ाई-चमड़ी-दमड़ी हेतु, करता विभिन्न पाप-काम है॥ (9)
 ममकर से जीव हो जाता आसवत, न जानता हित-अहित है।
 विषय-वासना व फैशन-त्यासनों से, करता आत्म-पतन है॥ (10)
 इनसे परे हैं आत्मविश्वास-ज्ञान, व सदाचरण आत्मधर्म है।
 आत्मविश्वेषण-आत्मानुसन्धान-आत्मकथन-आत्मध्यान है॥ (11)
 स्व-आत्म का अध्यरान ही यथार्थ से, स्वाध्याय-परमतप है।
 आत्म-ज्ञान ही है परम-विज्ञान, यह ही ज्ञानमृत भोजन है॥ (12)
 आत्मा का कथन ही परम प्रवर्तन, अन्य तो सभी प्रपञ्च है।
 आत्मध्यान ही है परमध्यान, अन्य ध्यान सभी दुर्ध्यान है॥ (13)
 ममत्व त्यागकर समत्व धरना, यह ही परम चरण है।
 अन्य सभी हैं मिथ्या-आवरण-संवलेश-द्वन्द्व-पतन है॥ (14)
 यह है सतपथ आध्यात्मिक पथ, जो सत्य-शिव-सुन्दर है।
 आत्म-वैभव प्राप्ति के कारण, 'कनक' का निज स्वरूप है॥ (15)

हिरण्मगरी सेवटर 11, दि. 3-1-2015 रात्रि 8.30

समता परमोद्घम

(बाह्य तप-त्याग-साधना से श्रेष्ठतम है समता-शान्ति की साधना)

-आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव

(चाल : छोटी छोटी गैया....)

श्रोक- करोतु न चिरं धोरं तपः वलेशासहो भवान्।

विज्ञसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यतादज्ञानता॥ 212-आत्मानुशासन

- हिन्दी-** वलेशकरक बाह्य तप यदि नहीं कर पाते तो न करो महान्।
 वित साध्य तो कषाय अरियों को न जीतते तो तेरे अज्ञान्॥
- श्रोक-** परिणाममेव कारणमाहुः खलुः पुण्यपापयो ग्राज्ञाः।
 तस्मात् पापपर्यः पुण्योपचरयश्च सुविधेयः॥ 23-आत्मानुशासन
- हिन्दी-** पुण्य-पाप हेतु परिणाम ही करण होता है सुजान।
 अतएव ही पाप हनन व पुण्य संवयन होते(है) सहज आवेन॥
- श्रोक-** विहिताशेषवास्त्रोऽपि न जागृदपि मुच्यते।
 देहात्मादृष्टिर्जातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते॥ 94-समाधितंत्र
- हिन्दी-** शास्त्रज्ञाता भी जागृत अवस्था में, जिस कर्म से न मुक्त होता॥
 देह आत्मा को एक माने वाला, सुप्तोन्मत्तोऽपि ज्ञानी मुक्त होता॥
- श्रोक-** रागद्वेषकृताभ्यां जनतोर्बन्ध प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्।
 तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताथ्यामेवेक्षयते मोक्षः॥ 180-आत्मानुशासन
- हिन्दी-** राग द्वेष से युक्त जीव जिस कर्म से कर्म बान्धता।
 उसी कार्य से तत्त्वज्ञाना कर्मबन्ध से मुक्त होता।
- श्रावा-** राग दोस वे परिहरणि, जे सम जीव लहंदि।
 ते समझावे पदितिरया लहु णिवाणु लहंति॥ 100-परमात्म प्रकाश
- हिन्दी-** राग द्वेष को परिहर करके, जो जीवों में समता धारे।
 वे सम्यात में रिथत होकर, श्रीघ निर्वाण को वरे।
- श्रावा-** जं अणणी कम्म खवेदि भवसयसहस्स कोडीहिं।
 तं णाणी तिहिं गुज्जों खवेदि उस्सासमेतोण॥ 238-प्रवरनसार
- हिन्दी-** जिस कर्म को अज्ञानी जीव, नष्ट करता लक्ष कोटि भृत में।
 उस कर्म को निर्गुणितारी, नष्ट करे उश्वास मात्र में॥
- श्रोकार्थ-** कषायविषयाद्धिषो विजयते तथा दुर्जयान्।
 शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपः शास्त्रयोः॥ 190-आत्मानुशासन
- हिन्दी-** कषाय विषयों को जीतना, अत्यन्त होता दुर्जय है।
 शमभाव को ही कहते मुनि, फल है तप व शास्त्र ज्ञान के॥
- श्रोक-** कषमा सम तपोनास्ति, न सन्तोषत्परं सुखम्।
 न तृष्णायासमो व्याधिः न च धर्मा दया परः॥ नीति शास्त्र
- हिन्दी-** कषमा के समान न तप होता है, न सन्तोष सम सुख।

तृष्णा के समान न रोग होता है, दया के समान न होता धर्म।।
गाथा- चारिं खलु धर्मो धर्मो जो सो समोति णिदिष्टो।
 मोहम्योह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु सम्मो॥ 7-प्रवरनसार
हिन्दी- गिश्वय से चारित्र ही धर्म है, धर्म को तो समतामय कहा।
 समता है मोह क्षोभ विहीन, परिणाम जो आत्मा का है स्वभाव।
समीक्षा- शुद्धात्म स्वभाव ही है जीव का, धर्म जो मोहक्षोभ से रहित है।
 मोह क्षोभ को नाश करना ही, धर्म पालने का लक्ष्य है॥(1)॥
 मोह क्षोभ के नाश करने हेतु, कषाया नाश विधेय है।
 इसी हेतु ही श्रावक व मुनि धर्म पालन करना विधेय है॥(2)॥
 अन्तरंग व बहिरंग तप भी इसी हेतु ही विधेय है।
 अन्तरंग तप साधन हेतु, बहिरंग तप विधेय है॥(3)॥
 बहिरंग अवलम्बन व शरीर, सहयोग बाह्य तप हेतु चाहिए।
 इसी से यदि कोई संवेश होता, बाह्य तप कम करना चाहिए॥(4)॥
 बाह्य तप तो मिथ्यादृष्टि भी, करता भोगकांक्षानिदान सह।
 ख्यातिपूजालाभप्रसिद्धि हेतु, बाह्य आडम्बर व घमण्ड सह॥(5)॥
 बाह्य से अन्तरंग तप अतिशेष्ठ(होता), असंख्यातगुणकर्मनिर्जा हेतु।
 श्रद्धा प्रज्ञा व समता सहित, विषय कषाया मोह नाश के हेतु॥(6)॥
 आश्रव बन्ध संतर निर्जरा मोक्ष, होते सभी परिणामों से।
 अशुभशुभशुद्ध परिणाम, यथायोन्य होते बन्ध-मोक्ष के॥(7)॥
 राग-ट्रोषमोहतिष्ठाकषाय, संवेश भाव सभी होते अशुभा।
 इर्ष्यातृष्णाधृष्णाख्यातिपूजालाभ, निन्दा कलह होते अशुभा॥(8)॥
 इनसे भिन्न सत्यसमता, सहिष्णुताशानित होते हैं शुभा।
 देवशालगुरुभवित दान सेवा, परोपकार होते हैं शुभा॥(9)॥
 संकल्प-विकल्प रहित अवस्था जो शुद्ध-बुद्ध-आनन्द है।
 वह जीव का निज शुद्ध परिणाम, जो सच्चिदानन्द है॥(10)॥
 अशुभ से पाप का बन्धन होता, जिससे मिलता दुःख है।
 शुभ भाव से होता पृण्य बन्धन, जिससे प्रशस्त परिणाम है॥(11)॥
 जिससे उभय लोक में सुख मिलता, ज्ञान-वैराग्य में विकास होता।
 मुनि बनकर शुद्ध भाव से, अन्त में शाश्वतिक सुख पाता॥(12)॥

समता सहित समर्थ साधना ही, आत्मकल्याण के साधन है।
 समता रहित सर्व साधना ही, आत्मपतन के साधन है॥(13)॥
 समता में दशरथम समाहित, पंचव्रत बारह तप भी।
 समता साधने से सब साध्य होते, 'कनक' के आत्मस्वभाव भी॥(14)॥
 हिरण्मगरी सेवतर 11, दि. 25-12-2014 रात्रि 8.30

स्व-उपकार की विधि

-आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव

गाथा : तुम दिल की धड़कन....)

परोक्त- परोपकृतिमृत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
 उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवद्॥ (32 इष्टोपदेश)

हिन्दी- देहादि पर-उपकार त्यजकर स्व-उपकारी भव आत्मन्।
 यथा संकीर्ण स्वार्थी जन स्व-उपकार में ही होते लीन॥

समीक्षा- स्व-शुद्धात्मा से परे देहादिक, परद्रव्य होते आत्मन्।
 स्व आत्म का उपकार करो, राग-ट्रोष-मोह से हो भिन्न॥(1)॥
 अनादि काल से अनन्त भवों में, अनन्त शरीर को धारण किया।
 उन शरीरों को रवरूप मानकर, उनका भरण-पोषण किया॥(2)॥
 उन शरीरों से सम्बन्धित, जो माता-पिता आई व बन्धु।
 पत्नी या पति पुत्र या पुत्री, शत्रु-मित्रादि को अपना माना॥(3)॥
 सत्ता-सम्पत्ति-प्रसिद्धि भोग को, अपना मानकर ग्रहण किया।
 इस सब के हेतु नवकोटि से, हर प्रकार के प्रयत्न किया॥(4)॥
 इन सबके करण अनन्त बार, पंच-पाप व सप्त-व्यासन किया।
 पत्नीस कषाया व मोह को किया, जिससे अनन्त दुःखों को भोग॥(5)॥
 पर दोष व कमियों को देखा, उसके लिये इर्ष्या दोष किया।
 उन्हें सुधारने के हेतु राज्य से, लेकर युद्ध व हत्या किया॥(6)॥
 इन करणों से बहुविध पाप किया, उसके फल से दुःखों को भोग॥
 पर के लिए कुत्ता या दास धोबी, बनकर नाना काम किया॥(7)॥
 इन सब हेतु जितना परिश्रम, अनादिकाल से तुमने किया।
 उसका अनन्तवां भाग यदि स्व-उपकार करते तो मोक्ष(हो) जाता॥(8)॥

अज्ञानी मोही स्वर्थतशा, स्व-उपकार में होता लीन।
 तथाहि तु आत्मज्ञान से, स्व-उपकार में हो जाओ लीन॥(9)॥
 आत्महित हेतु न चाहिए, (तुझे) सत्ता सम्पति या प्रसिद्धि।
 आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए, आत्म पुरुषार्थ से मिलेगी॥(10)॥
 आत्महित में परहित समाहित, स्व-पर प्रकाशक यथा दीपक।
 सर्व संवलेश व विभाव त्यागकर, 'कनक' तू बन आत्मदीपक॥(11)॥
 हिरण्मगरी सेवटर 11, दि. 25-18-2014 रात्रि 7.39

मुझे जानने वाले या न जानने वाले मेरे न शत्रु न मित्र

-आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव

(वाल : छोटी छोटी गैया.....)

उल्लोक- मामपश्यन्नयं लोको न में शत्रुर्व च प्रियः।
 मां प्रपश्यन्नयं लोको न में शत्रुर्व च प्रियः॥(25) समाधितंत्र
हिन्दी- मुझे जानने वाले कोई मेरे, न होते हैं शत्रु या प्रियः/(मित्र)।
 मुझे न जानने वाले कोई मेरे, न होते हैं शत्रु या प्रियः/(मित्र)॥(1)॥
समीक्षा- मुझे जानने वाले कोई होते हैं, आत्मज्ञ या सर्वज्ञ।
 राग-द्वेष से परे होने से वे, न करते (मुझसे) राग या द्वेष॥(2)॥
 मैं हूँ सच्चिदानन्द स्वरूप, अमूर्तिक व शुद्धात्मा रूप।
 मुझे जानने वाले मुझ से, नहीं करते अतः राग-द्वेष॥(3)॥
 राग द्वेष से रहित होने से, शत्रु मित्रता नहीं करते।
 अतएव मुझे जो जानते वे, शत्रु-मित्रता भी न करते॥(4)॥
 अज्ञानी-मोही अल्पज्ञ जन, आत्मतत्त्व को भी नहीं जानते।
 आत्मतत्त्वमय मेरा स्वरूप, वे अज्ञानी मोही नहीं जानते॥(5)॥
 अतएव जो मुझे न जाने मेरे, शत्रु-मित्र भी नहीं बनते।
 अतएव अज्ञ या विज्ञ मेरे, शत्रु-मित्र भी नहीं बनते॥(6)॥
 अतएव शत्रुता या मित्रता परे, मेरा स्वरूप है अज्ञातशत्रु।
 आकाश के सम मैं भी हूँ, भेद-भाव शून्य निर्बाद्य वस्तु॥(7)॥
 राग-द्वेष यदि कोई (भी)करे, उससे मेरा वर्या लेना-देना।
 मेरा कर्ता-धर्ता मैं ही हूँ, अन्य से मेरा वर्या लेना-देना॥(8)॥

हर द्रव्य है स्वतन्त्र- स्वतन्त्र, द्रव्य-गुण व पर्यायों से युक्त।
 मैं मुझ में ही परिणमन करूँ, 'कनक' पर से होकर मुक्त॥(9)॥

उदयपुर, हिरण्मगरी सेवटर 11, दि. 27-11-2014 रात्रि 7.35

सांसारिक उपलब्धियों में मोहित होना :

अन्धश्रद्धा (मिथ्यात्व)

-आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव

वाल : 1. आत्मकुली (मराठी)..... 2. छोटी छोटी गैया.....
भाषा- अतथो खलु दत्वमओ दत्वाणिगुणप्यगाणि भणिदाणि।
 तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया॥(93) प्रवचनसार
हिन्दी- अर्थ/ज्ञेया) निश्चय से द्रव्यमय, द्रव्य को गुणात्मक कहा।
 द्रव्य-गुणों की भी पर्याय होती, पर्यायमूढ ही अन्धश्रद्धा।।
भाषा- सत्यश्रद्धान से होता सम्यक्त्व, सत्य ही होता ज्ञान व ज्ञेय।
 सत्य स्वरूप ही द्रव्य होता, द्रव्य होता गुण-पर्याय मय।।
 द्रव्य-गुण-पर्यायों को यथार्थ मानना, यह होता शुद्ध सम्यक्त्व।
 यथार्थ न मानना या पर्याय में, मोहित होना होता मिथ्यात्व॥(1)॥
 चतुर्गति-चौरसी लक्ष योगि में, जिस अवस्था में रहते जीव।
 उस अवस्था में मोहित होना, यह है जीवों का मिथ्यात्व भाव।।
 मनुष्यगति के जीव उस अवस्था को, यथा हि मानते हैं निज रूप।
 नर-गारी बालक युवा-अवस्था, धनी-गरीब मानना है मिथ्या रूप॥(2)॥
 इन अवस्थाओं को ही स्व-रूप मानकर, उसमें ही रहते हैं जो लवलीन।
 उसके लिये करे मोह-ममत्व, राग-द्वेष तृष्णा व पाप विभिन्न।।
 प्रजनन करके वंश बढ़ाकर, मानते रहेगा मेरा अस्तित्व।
 परिग्रह से रिथर रहेगा अस्तित्व, ये सब भाव हैं (धोर) मिथ्यात्व॥(3)॥
 ऐसा ही सत्ता-सम्पति-बुद्धि, प्रसिद्धि को मानते स्व-स्वरूप।।
 तथाहि शरीर व परिवारजन को, जो मानते हैं निज-स्वरूप।।
 इन सब में सुख समृद्धि मानते, उसी में ही रहते हैं लवलीन।।
 संकल्प-विकल्प-संवलेश करते, वे सभी अन्धश्रद्धा में लीन॥(4)॥

जीव स्वरूप सचिवानन्दमय, जो अमूर्तिक स्वरं में पूर्ण।
 चतुर्गति-चौरसीलक्ष योगि सब, होती वैभाविक पर्यायमय।।
 शुद्धआत्मा ही है मम स्वद्रव्या/(स्वरूप), ज्ञान-दर्शन-सुख अनन्त गुण।।
 ऐसा श्रद्धान करते वे ही, निष्कर्यास्त्रे)सम्यक्त्व सम्पन्न।।(5)।।
 शुद्धात्मा श्रद्धान ही आत्मविश्वास, अन्यथा है अन्धश्रद्धान।।
 आत्मविश्वास-ज्ञान-चारित्र रूप, 'कनकनंदी' का निज श्रद्धान।।(6)।।
 हिरण्मनरी सेवटर 11,उदयपुर, दि. 30-12-2014 रात्रि 8.1।।

मोही की सर्व-अवस्था विभ्रमस्वरूप

(आत्मज्ञ को मोही की सर्व-अवस्था विभ्रम रूप ज्ञात होती)

-आचार्य कनकनंदी गुरुदेव

(वाल : आत्मशवित से.....)

श्लोक- सुप्तोन्मत्रायतस्थैव विभ्रमोऽनात्म दर्शिनाम्।
 विभ्रमोऽक्षीण दोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः।। (93 स.त.)

हिन्दी- सुप्तउन्मत्ता अवस्था को ही, मोही जानता विभ्रम है।
 आत्मदर्शी को मोही की हर, अवस्था लगती विभ्रम है।।(1)।।

समीक्षा- मोही न जानता आत्म-अनात्मा को, हैय-उपादेय तत्व को।
 इसलिए उस की हर अवस्था ही, होती है अज्ञानमय ही।।(2)।।
 निद्रा उन्मत्ता अवस्था को ही, जानता विभ्रममय है।
 आरम्भ परिघ्रह शोग विलासिता को, न माने विभ्रममय है।।(3)।।
 मोही की हर क्रिया लगे आत्मज्ञ को, सुप्त व विभ्रममय है।
 सोना, जागना, खाना, पीना आदि, होती तो मोह-अज्ञानमय है।।(4)।।
 मद्य-मोहित की हर क्रिया यथा, ज्ञानी को लगे गलत है।
 यथा मोही की हर क्रिया, आत्मज्ञ को लगे गलत है।।(5)।।
 तन-मन-धन-ख्याति-पूजा लभ, सत्ता-सम्पत्ति-प्रसिद्धि।
 शोग-उपशोग व शत्रु-ग्रित्र में, जागृत रहता है अज्ञानी।।(6)।।
 इसी से परे अध्यात्मिक ज्ञानी, ज्ञान-ध्यान में होते जागृत।
 समता-शान्ति व आत्म-स्वभाव में, होते वे रत व मरत।।(7)।।
 अलौकिक वृत्ति होती है योगी की, उनसे विपरीत मोही की।।

एक मोक्ष-पथ तो अन्य बन्ध-पथ, 'कनक' वाहे आत्म प्रवृत्ति।।(8)।।
 हिरण्मनरी सेवटर 11,उदयपुर, दि. 4-12-2014 रात्रि 7.42

मोही (पूर्वग्रही, मिथ्यादृष्टि) सत्य को नहीं मानता

-आचार्य कनकनंदी गुरुदेव

ज्ञान : आत्मशक्ति, शत-शत-वन्दन, भला किसी का कर न सको....)

ज्ञानीक- यत्रेवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।

यत्रैव जायतेश्रद्धा वित्तं तत्रैव लीयते।।(95) समाधितंत्र

ज्ञानी- जिस में लगती मानत(की) बुद्धि, श्रद्धा उसमें ही लग जाती।
 जिसमें लगती है श्रद्धा, उसमें वित्त की लीनता होती।।

ज्ञानीक- यत्रानाहित धीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।

यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चिवतस्य तल्लया।।(96) समाधितंत्र

ज्ञानी- जिससे निवृत हो जाती बुद्धि, श्रद्धा उससे निवृत होती।।
 जिससे निवृत हो जाती श्रद्धा, वित्त की उसमें न होती प्रवृत्ति।।

ज्ञानीक- आग्रहीवत् निनीषात युक्तिं यत्र-तत्र मतिरस्य निविष्ठा।
 पक्षापात रहितस्य तु युक्तिं यत्र-तत्र मतिरस्य निवेशम्।।

ज्ञानी- आग्रही युक्ति को श्री खींच लेता है, स्वमति जहाँ श्री होती है।
 पक्षापात से जो रहित होता है, स्वमति को युक्ति में ले जाता है।।

ज्ञानीक- नाज्ञो विज्ञात्वं मायाति विज्ञो नाज्ञात्वमृच्छति।

निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेधर्मास्तिकायवत्।।(35) इष्टोपदेश

ज्ञानी- अज्ञानी(अभ्यत्य) जीव न होता है ज्ञानी, ज्ञानी जीव श्री न होता है अज्ञानी।
 निमित्त मात्र है उपदेश तथा, गति के लिये धर्मास्तिकारा यथा।।

ज्ञाना- मिच्छां वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो होती।।

ण य धम्मं ऐचेदि हु महुं सु रसं जहा जरिदो।।(17) गो जीवकाण्ड

ज्ञानी- मिथ्यादृष्टि जो जीव होता, विपरीत श्रद्धान से (वह) युक्त होता।।
 उसे सद्गुर्म नहीं लगता, ज्वर रेणी को यथा मधुर न लगता।।

ज्ञाना- मिच्छाइही जीवो उवडं पवर्यां ण सद्हृदि।

सद्हृदि असल्भावं उवडं वा अणुवडं।।(18) गोमटसार जीवकाण्ड

हिन्दी- मिथ्यादृष्टि जो जीव होता, उपदेश प्रवचन नहीं रखता।
 असद्भाव को श्रद्धान करता, उपदेश होता या नहीं श्री होता॥
 समीक्षा-अनादि मोहसवत जीव, विपरीत ज्ञान से युक्त होता।
 विपरीत रुचि व बुद्धि से सहित, विपरीत काम में प्रवृत्त होता॥
 सत्य-तथा व आत्मतत्त्व में, रुचि न होती तथाहि बुद्धि।
 रग-द्वेष-मोह-काम-क्रोध में, होती है बुद्धि होती प्रवृत्ति।
 आहर-निदा-भ्रा-मैथुन व, परिघ चंद्र में होती है बुद्धि।
 ईर्ष्या, धृणा, तृष्णा, संकीर्णता में, सहज रूप में होती प्रवृत्ति।
 हर युक्ति व धर्म कर्म में, इसी हेतु ही करे प्रवृत्ति।
 इसी हेतु ही पक्षपात करेगा, नहीं होगा वह सत्य में प्रवृत्ता॥
 ऐसे मिथ्यादृष्टि/(अभ्यत्व) जीव को कोई, न कर सकेगा सत्पथगमी।
 परिणमन न करने वाले को, कोई न बना सकेगा ज्ञानी॥
 गति करने वालों को ही, धर्मस्थितिकाय सहायक होता।
 गति रहित वालों को धर्मस्थितिकाय न सहायक होता।
 मिथ्यादृष्टि जीव को तो उपदेश सत्य श्री नहीं सुहाता।
 आगम ज्ञाता या आगम से श्री, स्वदुराग्रह को नहीं होड़ता।
 इसलिए तो अनादिकाल से, जीव संसार में परिश्रमन करे
 उत्तम द्रव्य क्षेत्र कालादि पाकर, सम्यक्त्व नहीं पाते।
 अनन्तबार चार उपलब्धि को पाया, करणलब्धि नहीं पाया।
 परिणाम विशुद्धि के बिना, सम्यक्त्व आव को नहीं पाया।
 इसलिए ज्ञान न सही होता, तथाहि आवरण श्री न सही होता।
 अतएव हर धार्मिक कर्त्त्य बाह्य, ढोंग पाखण्ड ही होता॥
 विनम्र सत्यग्राही बनने से, परिणाम जब होगा सम्यक्त्वा।
 ज्ञान आवरण सही होने से, रत्नत्रय श्री होगा सम्यक्त्वा।
 जिससे आत्मा की होगी विशुद्धि, जिससे होगी मोक्ष की सिद्धि।
 यह ही जीव की परम उपलब्धि, 'कनकनन्दी' की आत्मा की निधि॥

हिरण्मगरी सेवटर 11,उदयपुर, दि. 2012-2014 यात्रि 8.08

प्रकीर्ण व स्वर्थी मानव न मानते गुणी-सज्जनों को श्री
 -आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव
 (तत्त्व : 1. तुम दिल की धड़कन..... 2. सायोनाया..... 3. छोटी-छोटी
 गैया.....)

प्रकीर्ण पंथ-मत या भावानुसार, सही या गलत मानते हैं मानव स्वार्थानुसार।
 मान-समता से न होता सरोकार, स्व-पर-विश्व हित हेतु न करते विचार॥(1)
 मान-मान-माया या लोभ प्रेरित, करते हैं हरकारी स्वर्थ प्रेरित।
 मान-भ्रा-मैथुन-परिघ सह, करते भाव-व्यवहार मोह युक्त॥(2)
 मान-कर्म करते इन भाव से युक्त, पढ़ाई नौकरी राजनीति सहित।
 मान-ताणिज्य या सेवा सहयोग, हित या अहित माने स्वार्थानुसार॥(3)
 मानते गुणी-अगुणी या ज्ञानी-अज्ञानी, हित-अहितकारी-सुभावी-दुर्भावी।
 मानते गुठे या सुगुरु-कुगुरु, स्वार्थानुसार मानते मानव अज्ञानी॥(4)
 मानते तीर्थकर बुद्ध ईसा, सुकरात-मीरा या साधु संत।
 मानते उपेक्षित होते अनादर युक्त, वैश्या चोर आतंकी श्री होते आदरयुक्त॥(5)
 मानते वस्तु को सभी न करते आदर, मध्य-मांस तम्बाखू को श्री खाते पामर।
 मानते भाव-व्यवहार सभी नहीं करते, चोरी-ठगी हत्या बलात्कार श्री करते॥(6)
 मानते ज्ञानी-गुणी श्री होते उपेक्षित, स्वर्थी मोही-अज्ञानी से होते उपेक्षित।
 मानते सज्जन, ज्ञानी/गुणी न होते अयोध्या, 'कनक' को मान्य हैं गुणी व योध्या॥(7)

योध्या व्यक्ति श्री अन्य के दोषों को कैसे जानते..!?

-आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव
 (तत्त्व : तुम दिल की धड़कन.....)

मान परिवित सभी अनुभव तथा काम-भोग-मोह-बंध की कथा।
 मान से विपरीत(है)आत्म-स्वभाव, नहीं जानते मोही-अज्ञानी जीव॥(1)
 मान-मान-माया व लोभ-मोह से, आबद्ध है जीव अनादि काल से।
 मान-यासना व भोगोपशोग से, संयुक्त है जीव संज्ञा व दोषों से॥(2)
 मान से परिवित अस्यस्त होने से, इनका अनुभव होता मोही जीवों से।
 मान ही भाव से वे अन्य को श्री देखते, इसलिए अन्य में दोषों को ही देखते॥(3)
 मान दोष छिपाने हेतु पर-दोष कहते, अवघेतन संतुष्टि में ही वे रहते।

यथा चोर ठग कूट-कपट वाले, स्व-दोषों को छिपाते रहते॥(4)
 काला चश्मा से सभी काला ही देखते, लाल चश्मा से सभी लाल ही देखते।
 चवकर(भ्रम) से सभी गतिशील लगते, कड़वा मुँह से सभी कड़वा लगते॥(5)
 थन से भी जोंक खून ही पीती है, मच्छर भी सदा खून ही पीते हैं।
 दोषी को दोष सदा सर्व दिखते, विरोक्ती दोष-गुण यथार्थ देखते॥(6)
 दुर्बल्द्य से सदा दुर्बल्द्य फैलती, सुगंध से सदा सुगंध फैलती।
 ज्योति से सदा प्रकाश फैलता, दुर्गुणी को सदा दुर्गुण दिखता॥(7)
 दुर्गुण देखना/(जानना) व ग्रहण सरल है, पानी का निमन्गामि होना सरल है।
 इसी से पतन भी होना सरल है, गुणदर्शन व गुणब्रह्मी विरल है॥(8)
 दुर्गुण त्यागो गुण ही ग्रहण करो, गुणी बनकर सभी विकास करो।
 इसी हेतु ही यह बना है काव्य, "कनकनन्दी" चाहे आत्म स्वशाव॥(9)

महान् एवं क्षुद्र बनने के उपाय

-आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव

(चाल : आत्मशक्ति से ओतप्रोत.....)

महान् बनने के उपायों को जानो, इस से विपरीत क्षुद्र पहिवानो।
 आन्तरिक समृद्धि से महान् बनते, इस से विपरीत से क्षुद्र बनते॥(1)

जिज्ञासु प्रवृत्ति व सीखने की वृत्ति, नवीन विचार व उच्च आदर्श।
 इनसे सहित होते महान् व्यक्ति, इनसे विपरीत होते क्षुद्र व्यक्ति॥(2)

सत्य जिज्ञासा है प्रथम गुण, जिससे ज्ञान में होते निपुण।
 "अथातो तत्त्व जिज्ञासा" इसे कहते, पृच्छना अन्तरंग तप कहते॥(3)

सत्य-असत्य का होता सुझान, गुण-दोष का होता सही परिज्ञान।
 हिताहित विपेक भी होता प्रखर, विनम्र-गुणशाहकता होती प्रचुर॥(4)

सीखने की प्रवृत्ति है द्वितीय गुण, नये-नये कर्ता में होते निपुण।
 जिससे नये-नये ज्ञान भी होते, स्वावलम्बी आत्मविश्वासी बनते॥(5)

नवीन विचार होता तृतीय गुण, उदार प्रगतिशील होता महान।
 संकीर्ण झड़ि से भी परे विचार, सत्य समतामय उच्च विचार॥(6)

उच्च आदर्श से हर कर्ता करते, स्व-पर-विश्व हितकारी होते।
 अन्य को भी महान् बनाना चाहते, स्व-समान ही अन्य को चाहते॥(7)

असम्भव का भाव भी नहीं रखते, क्षुद्र काम में सन्तोष न होते।
 तीर्ति सहित आगे ही बढ़ते, आशावादी व आत्म-विश्वासी होते॥(8)

तीर्ति प्राण सह आत्मविश्वद्वि युक्त, क्षमा मृदुता व वात्सल्य युक्त।
 तीर्ति विरहकारी सहजता युक्त, होते महापुरुष प्रामाणिकता युक्त॥(9)

तीर्ति कर बुद्ध व साधु सज्जन, समाज सेवी व पर उपकारी जन।
 उन सब गुणों से बने महान् 'कनकनन्दी' चाहे सदा महान् गुण॥(10)

संकीर्ण-कट्टर धार्मिक तथा भद्र मिथ्यादृष्टि

-आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव

(तात्र : शत-शत वन्दन.....)

संकीर्ण-कट्टर धार्मिक जनों में, नहीं होता है सदग्राव।

ज्ञान-मोहवश वे जन होते हैं, न होता है सद विश्वास॥।ठेका॥

अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-मारा, लोष व होता मिथ्यात्वा।
 जिसके कारण होता कुशाव, संकीर्ण-कट्टर भाव॥।

कृष्ण-नील व कापोत लेश्या से, जब होते हैं अनुरक्त।

संकीर्ण-कट्टर अधिक होते हैं, अग्नि से तेल उत्पत्ति/तैल से अग्नि सहित/(संयुक्त)॥।

ऐसे धार्मिक जो होते मानव, न होते उदारमना॥।

दया दान सेवा परोपकार से, होते हैं विरक्तमना॥।

कृ कठोर व असहिष्य होते, होते हैं धूर्त पाखण्डी॥।

सहित स्वार्थी व भेद-भाव युक्त, होते हैं निन्दक दम्भी॥।

लोशी व ठगी मायावारी होते, होते ईर्ष्यालु आतङ्की॥।

वाद-विवाद व कलह करते, होते हैं निकृष्ट पातकी॥।

ज्ञा लेश्या युक्त मिथ्यादृष्टि भी, होते हैं भद्र विनयी॥।

संकीर्ण-कट्टर क्रूर न होते हैं, होते हैं उदारभावी॥।

ऐसे जीव आगे होते हैं सुदृष्टि, पाकर गुरु उपदेश॥।

शावक मुग्नि के वारित्रि पालकर, पाते हैं मोक्ष निवास॥।

भद्र मिथ्यादृष्टि आहार दान से, पाते हैं भोगभूमि॥।

पाँड़ि से रथवं को गमन करते, बनते हैं पुनः मानव॥।

शत्य यदि वे जीव होते तो, करते क्रम से मोक्ष गमन।
संकीर्ण-कटूर जो धार्मिक होते, करते संसार ब्रह्मण॥

संकीर्ण-कटूर न बनो मानव, बनो है धार्मिक-शद।
इसी हेतु ही 'कनकनंदी', कविता रही समग्र॥

सम्यब्दृष्टि का स्वरूप

-आचार्य कनकनंदी गुरुदेव

(चाल : आत्मशक्ति से.....)

सम्यब्दृष्टि के स्वरूप को जानो, अंतरंग व बाह्य पहचानो।
अंतरंग होती है आत्म-विशुद्धि, बहिरंग होती है सम्यक्वृति॥

पंचलिंगयों को जीव प्राप्त करके, मिथ्यात्व अनंतानुबंधी नाश करके।
उपशम क्षयोपशमी क्षारिक बनते, तत्वार्थ के सम्यक्श्रद्धानी बनते॥
सत्य-असत्य का भी ज्ञान करते, हेय-उपादेय को भी सही जानते।
हेय को त्यागते उपादेय को गहते, विपरीत वृत्ति से माध्यस्थ रहते॥

अष्टमदों से भी रहित होते, अष्टअंगों से भी सहित होते।
अष्टगुणों से भी सहित होते, सप्तभयों से भी विमुक्त होते॥
प्रशम-संवेग-अनुक्रम्या-आस्तिवय, ज्ञान-तैरात्य से भी सहित चिन्ता।
देव-शास्त्र-गुरु-श्रद्धा से युक्त, 'वदेतद्गुणलब्धये' भाव सहित॥

मैत्री प्रगोद करण्या साम्य युक्त, स्व-पर-विश्वकल्याण भाव सहित।
परनिंदा-अपमान-भाव रहित, गुण-गुणी-आदर-भाव सहित॥

निःशंकित निकांकित निर्विकितसा युक्त, अमूळबृष्टि उपगूहन स्थितिकरण युक्त।
धर्मप्रभावना करते रख्याति पूजा रहित, धन-जन संब्रह की कांक्षा रहित॥

भेद-भाव व पक्षपात रहित भाव, सन्नात-सत्यग्राही-निष्पक्ष युक्त।
शुद्धभाव हेतु शुभ भाव सहित, शक्ति अनुसार तप-त्याग सहित॥
ओग को माने रोग समान, सत्ता-सम्पत्ति को न माने स्वगुण।
द्रव्य रूप से माने (स्व-को) सिद्ध समान, 'कनकनंदी' का लक्ष्य परिनिर्वाण॥

सम्यब्दृष्टि कविता

सम्यब्दृष्टि की श्रद्धा-प्रज्ञा-परिणति

-आचार्य कनकनंदी गुरुदेव

1. अच्छा सिला दिया..... 2. छोटी छोटी गैया.....)

सम्यब्दृष्टि की होती (है) परिणति, श्रद्धा प्रज्ञा सहित अलौकिक।

तो से परे ये परिणति, ऊँढ़ि-परम्परा-लौकिक रिक॥(1)

लौकिक नीति-नियम संविधान, परे होता है सामाजिक बन्धन।

परीर सहित होने पर श्री, परे होता है श्रद्धा का आयाम॥(2)

आत गोकर्म सह तथापि, स्वरं को मानता है इससे परे।

आत्मानंद अमूर्त स्वभाव, अनादि अनिधन ज्ञानमय॥(3)

स्वरं को मानता है निष्कर्य नय से, शुद्ध-बुद्ध व नित्य निरञ्जन।

द्रव्य आत गोकर्म से रहित, अनन्त तैतन्य-तैभववान॥(4)

मन माया लोभ कम मोह, ईर्ष्या तृष्णा घृणा को मानता पर।

मन इन्द्रिय भोग तैभव को, स्व-शुद्ध आत्मा से मानता पर॥(5)

स्वरं को न माने मानव तिर्यच, नारकी देव या धनी गरीब।

गोरा-काला या छोटा-बड़ा, दीनाहीन कारार नीच वाला॥(6)

असुन्दर मालिक-मजदुर, राजा-प्रजा या शोषक-शोषित।

मनता है निर्बल-बलवान्, बालक वृद्ध युवक तरण॥(7)

जन्म-जरा व मरण से परे, स्वरं को मानता है अजर-अमर।

दृश्यमान समस्त अवस्थाएँ, कर्मजनित मानता श्रद्धावान॥(8)

निर्धनी को भी न बड़ा मानता, निर्धनी को भी न छोटा मानता।

को आत्मा तो जीव द्रव्य/(समान)होते, छोटा-बड़ा कौन कोई न होता॥(9)

स्वरं को मानता यथा शुद्ध-बुद्ध, तथाहि मानता है हर जीव को।

द्रव्य अपेक्षा से हर जीव समान, न कोई क्षुद्र न कोई महान्॥(10)

मोह के वशवर्ती होकर, भले न धरता है श्रमणात्मा।

साधु बनने के लिये, सतत करता है यत्नाचार॥(11)

नहीं करता सप्त व्यासन सेवन, नहीं करता अष्टविद्य मद।

जीव मूढ़ता से भी रहित होता, द्रव्य-तत्त्वों का करता विश्वास॥(12)

आराधना देव शास्त्र गुरु की, करता है दया दान व सेवा।

न्याय-नीति से जीविका चलाता, कमल के सम निर्लिप्त रहता॥(13)
 मरण के अनन्तर स्वर्ग में जाता, स्वर्ग से तयकर मानव बनता।
 श्रमण बनकर साधना करता, कर्म नष्ट कर शुद्धात्मा बनता॥(14)
 सम्यग्नृष्टि न बनता नारकी, तथाहि तिर्यक्च व नीत देवा।
 निर्धन विकलांग रुपी न बनता, न करता दीर्घकाल संसार श्रमण॥(15)
 अनन्तमुहुर्त में बन सकता भी सिद्ध, श्रमण बनकर सम्यग्नृष्टि जीव।
 उत्कृष्ट से अद्दुपुदगल परिवर्तन में, मध्यम में भी कुछ भवों में॥(16)
 यह है सम्यग्नृष्टि की महिमा, ज्ञान चारित्र युक्त साधु की महिमा।
 अनन्त आत्म-शक्ति की महिमा, 'कनकनन्दी' की शुद्धात्मा महिमा॥(17)

प्रकरण 1

परम पूज्य आचार्य श्री भ्रतसागर जी महाराज की तीन दिन के पूर्वाभास में 'सचेतन अवस्था' में अद्भुत समाधि

-संघपति शिखरचंद पहाड़िया, मुम्बई
 लेखक प्रसिद्ध उद्योगपति, गुरुभक्त, सरलस्वभावी, दानवीर, सेवाभावी और प.पू. आ. विमलसागर जी से लेकर आ. भ्रतसागर जी की संघ सेवा, व्यवस्था में संलब्ध है।)

परम पू. वात्सल्य रत्नाकर आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज के प्रथम पद्धतार्थी, ज्ञान दिवाकर, उपर्याति, विजयी, परीष्ठहों के असीम विजेता आचार्य श्री 108 भ्रतसागर जी महाराज घोरोपसर्णों के बीच श्री अपूर्व शान्ति पूर्वक समाधि-मरण को प्राप्त हो गये। तीन दिन पूर्व ही आचार्य श्री भ्रतसागर महाराज को पूर्वाभास हो गया था। उन्होंने अपनी निंदा गर्ही करते हुए संघ को आगम अनुसार वर्या करने का आदेश दिया। दीपावली के पर्व के प्रथम दिवस 'धन-तेरस' के दिन आचार्य श्री ने सर्व संघ को आदेश दे दिया कि-'मैं अपनी साधना में लीन रहूँगा, आज से कोई भी मुनि-आर्थिका, श्रावक-श्राविका मेरे चरणों को नहीं छुए, सब अपने व्रतों को निर्दोष पालो। मध्याह्न की सामायिक सर्व संघ एक साथ हमारे पास 11.30 बजे से प्रारंभ करें।'

चतुर्दशी के दिन तत्त्वानुशासन ग्रन्थ का स्वाध्याय कराते हुए आचार्य श्री ने कठा-'अभिजित नक्षत्र' में होने वाली समाधि बहुत अच्छी व श्रेष्ठ होती है। आचार्य श्री गुरुदेव धर्मसागर जी, विमल सागरजी इस नक्षत्र में सामायिक प्रारम्भ किया

गया। सामायिक प्रतिक्रमण मध्याह्न 1.00 बजे से 4.00 बजे तक चला। प्रायोगिकता पूर्ण हुई। आचार्य श्री मौनधारण कर मात्र ध्यान में ही लीन रहे। सारे संघ को जोग दे दिया कि कठ प्रातः दीपावली के लड्डु सभी मन्दिरों में एक साथ चढ़ाने होता है। आहर के बाद सभी साधुगण ठीक 11.15 बजे पर प्रत्यारव्यान विधि सामायिक सामूहिक होगी।

गति 2.00 बजे से ही आचार्य श्री स्वाध्याय, जाप्य आदि क्रिया में लग गये। कठावली की प्रातः: कालीन बेला में चातुर्मास निष्ठापन क्रिया हृषेल्लासिक वातावरण में कठ आचार्य श्री ने सर्वसंघ के त्यागियों को कठा-'आप लोग प्रसन्न वित रहकर जीवी साधना किया करें। मैंने जीतन में तीन गलतियाँ की हैं, उनकी मैं निंदा गर्हा रहता हूँ।' इसी समय किसी ब्रह्मवारी ने उनके चरण स्पर्श किए, तभी आचार्य श्री के मृत मंडल पर शांति शंग होने का हल्का सा दोष ज्ञातकरे लगा। दूसरे ही क्षण गति श्री ने उस ब्रह्मवारी से क्षमा मांगी। मुझे क्षमा करना, मैंने तुम पर रोष भाव नहीं कियो।

तीन दिन से आहर, निहार, चर्या में अपना कमण्डल किसी को नहीं देना, जानि शान्ति का अनुभव करना, आदि परिणामों से वे युक्त हो रहे थे। उन सबको अब मैं बिलकुल ठीक हूँ, मेरे लिये जाप्य आदि न करें, अखण्ड दीप का निर्माण करें।

आचार्य श्री ने प्रातः 6.00 बजे से पार्वत्यनाथ के मंदिर में पंचमृत अभिषेक की तर्फ से निर्वाण लाडू की अग्रमोदना की। प्रातः 8.30 बजे मंदिर के बाहर आकर आचार्य श्री वही ध्यान करने बैठ गये। 10.00 बजे आहर की चर्या करके आये, भ्रतसागरा के कारण प्रतिदिन आहर के बाद अल्पनिद्रा लेते थे, वह आज नहीं ली। आहर से आकर कक्ष के बाहर छोटे से पाटे पर बैठ गये। सबने कठा- आचार्य श्री की आराम कर लीजिये। आचार्य श्री ने कठा-'अब आराम का समय नहीं रहा है, बस ध्यान में लीन हो गये।' ठीक समय 11.15 पर सर्व साधुसंघ आचार्य श्री के चरणों पर विमल भक्ति लेकर प्रत्यारव्यान विधि व सामायिक की तैयारी के लिये आ पहुँचे। प्रत्यारव्यान विधि, सिद्ध भक्ति, योगी भक्ति, ईर्यापथ भक्ति हुई। आचार्य श्री भक्ति का जन्म आया, तो आचार्य श्री ने कठा- आचार्य भक्ति नहीं होगी। सबने प्रार्थना की गति आचार्य भक्ति करने दीजिये, तब आचार्य श्री ने कठा 11.30/11.35 हो चुके गेरे पास समय नहीं है वर्या-वर्या करँ। सभी एक साथ प्रत्यारव्यान कर लीजिये, श्री ने एक साथ प्रत्यारव्यान किया।

आचार्य श्री- ने कठा- बस सामायिक प्रारम्भ कीजिये। आचार्य श्री ने कार्योत्सर्व गति किया और अपनी गर्दन टेक दी, स्वर्गवारी हो गये, उस समय अभिजित

बहुत था। चारों ओर हाहाकार मच गया, सन्नाटा छा गया। इशारे में ही अपनी समाधि का निर्णय बनकर, अनन्त में लीन हो गया—एक संत। संघ ही नहीं भव्य श्रावकगण अपने आपको अग्राथ अनुभव कर बहती अविरल अश्रुदाया को थाम नहीं पाये। जिसके कानों ने इन शब्दों को सुना—वे सब स्तब्ध रह गये। जैन जगत् का एक सूर्य अस्त हो गया। इस युग के संत की स्मृति युगों-युगों तक भव्यात्माओं की अपनी सहनशीलता, दृढ़ता, विनाशीलता, गुरुभक्ति से प्रेरित करती रहेगी। एवं विराग बुझ गया। अन्त में लगभग 40 हजार भव्यात्माओं ने श्री फल भेंट कर अपनी श्रद्धांजलि दी। सभी के नेत्र अविरल अश्रुपूरित थे।

तिशेष- (1) समाधि के उक्त समय पर अग्रानक बिजली कड़की, वह हल्ला सी हुई गिरी। (2) विमान यात्रा के समाधि स्थल पहुँचते ही अग्रानक मेघ आ गये। वह केवल उसी परिसर में वर्षा हुई वह तुरन्त समाप्त हो गई।

आचार्य श्री का व्यक्तित्व बहुआत्मा था। आपके व्यक्तित्व में दर्शन की अनुशूति, ज्ञान की उपरोक्तिता, चारित्र की परिपक्वता, योगी की समता, माँ की ममता योद्धा की क्षमता, शिष्य की विनम्रता, गुरु की गंधीरता, शिशु की सरलता और दैरणा की निष्पृष्ठता के साक्षात् दर्शन होते थे।

धर्म, दर्शन, कर्म, संस्कृति तथा आध्यात्म का पावन पंचामृत आपकी वाणी नियुत होता था। आचार्य श्री ने जीवन को संयमित रखने, जीवन की सत्यता को पहचानने और साधन बनाकर परम सत्य को प्राप्त करने का सदेश दिया था। अन्त समाज के सूर्य थे, जिनका ज्ञान दिवाकर की रथिमों से अलौकिक था।

ऐसे निर्बन्ध को व्या कहें-बस इतना कि आप महाब्रह्मन् थे, हमने आपको कह अर्थ लगाये, पर वह अर्थ नहीं लगा जो मूल था इसलिये अनुभव हुआ, शर्जाल में आपको बौद्धना सबसे बड़ी भूल थी।

हुई यो न सुसमाधि वृथा मरे, वृथा जीये,
मरा नहीं वही कि जो, जिया न स्वयं के लिये (साशार-जैन गीत)

प्रकरण 2

प.पू.आ. भरत सागर जी की श्रद्धांजली-सभा में

मुनि सुधासागर जी के अयोग्य कथन

(प.पू.आ. विमलसागरजी, प.पू.आ. भरतसागरजी तथा उनके भक्त के विरुद्ध अयोग्य आरोप)

श्रद्धांजली सभा में मुनि सुधा सागर जी ने कहा:-संघों की क

सभा सागर से मैं बहुत प्रभावित था उस समय मैं इस कार्य में नहीं था। समय मैं बहुत प्रभावित था। जब मैं आपकी अवस्था में था। वर्षोंकि वे किसी से कुछ बोलते नहीं थे, अध्ययन करना-करना एक ही काम था लेकिन कहकर बड़ा दुःख हो रहा ही एक अनतिरिंदना है, इसलिये मैं दो दिन से कुछ श्री नहीं बोल रहा था। वर्षोंकि वे कोई लेकिन आज अभी प्रसंग चल गया। नौ बार ज्ञानोकार मंत्र बोलकर उनकी सभा को श्रांति दी। जिससे मन में भ्रात आ गया कि देखो भक्त और संत एक सम्बन्ध की। इस प्रकार की दुविधा में और संकट में डाल सकता है। यह ज्वलंत उदाहरण है कि इनको अब आचार्य विमल सागर के बाद इनका श्री सम्यक् नहीं है। समाधि नहीं हुई सल्लोखना नहीं हुई वे मौत को श्री नहीं जान रहे आकस्मिक वो श्री गये, बेहोशी में गये बावजूद भक्तों ने देखो भक्त वह खतरनाक है कि गुरु का सब कुछ विनाश करा सकते हैं। शिष्यों ने श्री कितना होता है कि गुरु का सर्वनाश करा सकते हैं। शिष्य वो हो गुरु का किसी करे लेकिन शिष्य ज्ञानी ना हो तो गुरु का पतन श्री करा देता है। इनका उदासी आचार्य पद पर बैठना, कोई बात नहीं, आचार्य पद पर बैठना कोई पाप नहीं। लेकिन आचार्य पद देते समय सबने इनसे वरन कहलवाया कि जो विमलसागर वाणि फूँकी करते तुम श्री करना। इन्होंने कहा कि मुझे आते ही नहीं मैंने कोई अर्थी की है, सबने कहा आती हो या नहीं आती हो, तुम्हें औपचारिकता एक करना है करना पड़ेगा। महाराज ने आपको उपाध्याय बनाया था। इन्होंने बहुत किंदि देखो मेरे से कुछ बनता नहीं लेकिन लोगों ने, सीधे-साधे व्यक्ति साधु होता ही तुमिया दबाव में ले लेती है। थोड़ा तेज-तर्फ छोटा है तो कह देता है कि तुम्हारा पद रखो, नहीं तो मैं करने वाला नहीं हूँ।

महाराज बहुत भोले-भाले, सीधे थे इन्होंने बस हीं तो नहीं कहा मौन हो गये उस दिन से शुरूकर दिया। सत्त्वा साधु झूठा कार्य करता है तो भले कर तो लेता ही लेकिन अन्दर से घुटते रहे-घुटते रहे इतने घुटे कि आपको मालुम है कि अभी तक इनका मुँह बन्द हो गया था। मुँह कुछ बन्द नहीं हुआ था, लोगों ने कहा तग गये तो हमने तो कहा उनका तो भ्रूत है उनमें जबरदस्त भ्रूत है, तो उनके भ्रूत है इनको जूनियर आता है। कुछ श्री नहीं था, मात्र उनके अन्दर की किसी किसी भ्रूत है ये मुनि पद पर रहते नहीं करना चाहिए। लेकिन लोगों ने जबरदस्ती मेरे से वरन लेकर कराया है। उस घुटन में उस डिप्रेशन ने गठियों मौन रहे, वो डिप्रेशन चलता रहा। इतना डिप्रेशन चलता रहा कि रातों-रात नहीं आती थी।

उदयपुर में भी एक घटना घटी। उदयपुर में रात को नगर में चले गये। उन्होंने कुछ दिन पहले अणिन्दा में घटना घटी। इतने डिप्रेशन में तेल डाल लिया आग लगाई और लोगों ने वर्षा साक्षित किया कि भूत व्यतंर है। गन्दगी पर कब तक जिसे डालोगे, आखिर में गन्दगी की दुर्गन्धि तो आएगी और भूत सिद्ध कर दिये लगा बाधा सिद्ध कर दिए कुछ नहीं था। आचार्य भरतसागर की अन्तर्वेदना थी तो किसी ने बैठकर सुनी नहीं। किसी ने पूछा बताओ वेदना, बता देते पवका है। मैंने तो एक बार कहा था, तब तो मैंने हो गये थे दो साल से नहीं बोल रहे थे प्रवतन नहीं रहे थे मैंने कहा इनको यदि आचार्य विद्यासागर के पास भेज दिया जाता तो सबके अन्तर्वेदना पढ़ लेंगे और ये ऐसे आचार्य, ऐसे साधु बनेंगे ये विद्यासागर जैसे महाराज की बराबरी कर लेंगे।

बहुत आध्यात्मिक थे, लेकिन इतना वो जानते हैं कि यदि आचार्यी के पास चले गये तो हमारा गुरु का कल्याण नहीं हो जायेगा दुश्मन को कभी भी अपने तो कहते हैं ना कि सुनार अपनी माँ आशूषण में भी बद्य लगाता है। ऐसे ही आज के भक्त होते हैं। अपने स्वाक्षरी की सिद्धि के लिए ये जीव का अहित कर देते हैं और भरत सागर महाराज ने अपने अन्दर की वेदना को नहीं बताई किसी ने भी कहा कि महाराज अकेले मैं बैठके मैंने सैकड़ों के भूत उतारे हैं। लेकिन कुछ नहीं भूत उतारे का तरीका है। उनको कोई वेदना होती है, टीस होती है और वो टीस उनका डिप्रेशन में लाकर मरिता कमज़ोर कर देती है और वह किंकरत्वविमूढ़ हो जाता है। ऐसी रिथिति को लेकिन डिप्रेशन में चले गये थे और इसी का परिणाम यह निकला कि और मैं तो कई कहता हूँ कि जिसने यह मंत्र-तंत्र, दवाई, औषधि, झाड़ा-फूँकी करते हैं। इनका मरण आज तक एक का भी अच्छा नहीं हुआ। एक भी बता दो मैं तो चुनौती देता तुम्हें मालूम है मैं जो भी कहता हूँ डंके की चोट पर बोलता हूँ। किसे डरता नहीं हूँ, यदि किसी के पास एक भी नाम हो जिसने झाड़ा-फूँकी, मंत्र किया हो और उसका मरण अच्छा हो गया। समाधि पूर्वक मरण किया हो संलेख पूर्वक मरण किया हो तो उसका मुझे नाम बताओ। लेकिन जिन्होंने कुछ भी लिया, बहुत अच्छी तरह अपनी जिन्दगी व्यापीत की। आपके शान्तिसागर महाराज झानसागर महाराज, श्रुतसागर महाराज आदि, उन्होंने जिन्दगी में कभी किसी न झाड़ा, न फूँका ना मंत्र-तंत्र किया, इनकी ऐसी समाधि हुई है छः-छः महिलों पर अपने मौत के दिन बता दिये और कहा मैं चेतना में जा रहा हूँ ऐसा घोषणा कर गये।

खेद होता है दुःख होता है जब कोई आचार्य और साधु हार्ट अटैक से मर जाता है।

गांगिम क मरता है, और दुनियाँ के देवी देवता से उनकी अपनी मौत का दिन होता है। दुनियाँ का हम भविष्य बताते हैं कि मेरा भविष्य वर्षा है मैं कैसे मरँगा दिन मरँगा वर्षा है ये तमाशा। अपने गुरुओं को मंत्र-तंत्र के चक्कर में डाले जाने व्याप्ति के लिए, अपने संसार के लिए अपने व्याप्ति के लिए। तुम साधुओं को उन्होंने इसमें घसीटते हों। गुरुओं से कहते हो छमें कोई मंत्र दे दो तंत्र दे दो जाग तब दो बाजा लगा दो। यह कहकर के तुम उन साधुओं एवं गुरुओं के नहीं हो। तुम उनके महान् दुश्मन हो, जो साधुओं और मुनियों के लिए संसार कर्ता के लिए वाद्य करते हैं। ये दुश्मन हैं और इनका दुश्मन मानना, ये गुरुओं दुश्मन हैं, दुश्मनों ने आज भरत जैसे एक सरल सीधे, साधु की वर्षा नति की वर्षा दुर्गति कर रहे हैं। सालों से ये देख-देख कर मुझे वेदना होती थी, लेकिन कहूँ, कौन सुनने वाला है। इतनी वेदना होती थी इतने सरल साधु के लिए ये भक्त लोग तो उनकी बहुत बड़ी भक्ति करते हैं। जो अपने आपको जानते हैं, हम विमल सागर के भक्त हैं हम भरत सागर के भक्त हैं, इन लोगों ने एक साधु की जिन्दगी बर्बाद कर दी। उनको ये श्रमण संस्कृति कर्म माफ नहीं करेगे और इसका दण्ड उन्हें शोगना पड़ेगा। एक सरल साधु की इन्होंने समाधि बिगाड़ी है। जीवन बिगाड़ा है और ये बिगाड़ रहे हैं मात्र उनके साथ आचार्य करके, आचार्य पद से लाभ नहीं हुआ। जो वर्षन दिया तुमने झाड़ा, फुँकी करोगे, तंत्र, लिखोगे, पैसा इकड़ा करोगे, गाड़ीयाँ और भरत सागर को करना पड़ा इतना झानी व्यक्ति पैसा मांगे भरत सागर पैसा गिनने जौ कभी देखे नहीं उसकी तरफ वो साधु पैसा गिनने लगा पैसा लगा वर्षों वर्षन दिया है जा, संघ के पालन करने का संघ की रक्षा करने के लिए कुछ भी करना पड़े कोई जरूरी नहीं है। हमारे यहाँ स्पष्ट कहा गया है। एक शिष्य को शेरनी खा रही है अपने बचाव के लिये ध्यान में बैठकर और खेला था, शेरनी खा रही है, शक्ति थी बचाने की बचा लेते, बचाते ये मेरा है, मेरे जीते जी मेरे शिष्य का कोई कुछ नहीं कर सकता। ऐसा कहना चाहिए शिष्य को खा रहा है और महाराज ध्यान में बैठ गये वर्षा कर्ताव्य ठीक है? नहीं है। जब व्यक्ति स्वयं का सब कुछ नष्ट होने लग जाये उस समय संघ हो जाते शिष्य हों। 12000 साधुओं को छोड़कर शब्दबाहु चले गये। नहीं बनता तो नहीं गैरियाँ से जाऊँगा। हम से संघ का पालन नहीं होता तो संघ को प्री करो। का पालन नहीं कर सकता लेकिन मैं संघ के पालन के लिए से भीख नहीं मांग सकता। ये सब नहीं किया लेकिन सीधे साथे

महाराज थे इस के लिये वो उन भक्तों की बातों में आ गये और आज उनका इस तरीके से मरण हुआ। बोल ही नहीं पाए, ज्ञान ही नहीं कर पाए, एक मिनट वो अन्ज जल का त्याग नहीं कर पाए। आहार करके आएं और हृदयगति।

पहली घटना है जितना हमें ध्यान है भगवान् महावीर के वापहला साधु है जो हार्ट अटैक से मरे। आचार्यों की बात कर रहा जितना मुझे ध्यान है। साधुओं के हार्ट अटैक का सवाल ही नहीं उन्होंने सो अकाल मरण में आता है। विसभवखण्ण रत्तवर्खय हृदय गति रुजाना ये सब अकाल मरण कहते हैं। ये अकाल मरण है खुशी का नहीं बहुत बड़ी दुःख की वेदना का ठिन है बहुत बड़ी वेदना है कि उन्होंने बड़ा शोला साधु अकाल मरण में मरा यह बहुत बड़े दुःख की और भी की बात है और मैं इसलिए कह रहा हूँ तुम वेतो कहीं तुम्हरे गुरुओं को तुम अकाल मरण मत करवा देना गुरुओं को कहीं ऐसे कार्य करने के लिए बाध्य मत करना तो उनकी मर्यादा के विरुद्ध हो जिनके लिये वह नहीं चाहते। ऐसे कार्य करने के लिए तुम कभी बाध्य मत करना अन्यथा तुम्हरे गुरु की यही गति होगी। जो गुरु नहीं चाहते वो कार्य मत करो जबरदस्ती मत को अन्यथा तुम्हरे गुरु की जो दुर्दशा होगी साथ में तुम्हारी श्री वही दुर्दशा होगी।

मैं इस वेदना के साथ यह कहना चाहता हूँ क्योंकि भरतसागर से मैं वह परिचित हूँ बहुत आत्मीयता थी, बहुत लगाव था, एक-दो बार मैंने मिलने का भाव किया। लेकिन जब उनकी क्रियाएं देखी-सुनी तब मैंने भाव लिया। ऐसी क्रियाएँ नोट गिनने लगे, नोट मांगने लगे, तंत्र-मंत्र करने लगे तब मैंने भाव छोड़ दिया। क्या करना ठीक है तो ऐसी स्थिति में बड़े लोग और दुःख के साथ आज ये सांत्वनाओं जली अप्रित करते हैं। श्रद्धाजली नहीं प्रवाह के ओडियो कैसेट से उद्धृत।

पाठकों के ध्यान देने योग्य

सत्यग्राही महानुभावों! इस पुस्तक में आप लोगों को सत्य-तथ्य, आगम आ. श्रान्तिसागर जी की परम्परा अनुसार मुनि सुधा सागर जी की कथनी करनी यथार्थता का परिज्ञान हो जायेगा परन्तु यहाँ पर मैं केवल आपका ध्यानाकर्षण उन्होंनी और ओर्डी भाषा की ओर कर रहा हूँ। सामान्य जन भी सामान्य जन के सज्जनोचित, भद्र, विनम्र, आदरयुक्त, बहुमानयुक्त वर्चन प्रयोग करते हैं, परन्तु न

मान सागर जी ने स्वर्गीय आचार्यों के लिए श्री श्री, जी, भगवन् या बहुवर्चन/बहुमान/मान सूचक शब्द, वाक्य श्री प्रयोग नहीं किया है। मैं आ. विमलसागर जी, आ. विमलसागर जी के साथ मध्य-मध्य में 6-7 वर्ष रहा हूँ, एक साथ दो-तीन चारुमास हैं। आहार-विहार, स्वाध्याय, प्रवचन, तत्त्व-चर्चा, साहित्य सम्पादन आदि कार्य एक साथ हुए हैं। मैं उनके वात्सल्य, सरल-सहजता, हित-मित-प्रिया कथन, विनम्र के साथ विनम्र व्यवहार से श्री परिचित हूँ। वे ऐसा कहु, अप्रिय, कलहकारी नहीं बोलते थे। तो उनके प्रति एवं उनके भक्तों के प्रति ऐसा दिल दुःखाने(भाव) वाले वर्चन प्रयोग वह श्री श्रद्धाजली सभा में वरा सज्जनोचित है? भारतीय परानुसार प्राचीन काल से ही जब कट्टर शत्रुओं को श्री युद्ध क्षेत्र में मार निराया था तब उसके साथ शत्रुता का व्यवहार छोड़कर सज्जनोचित व्यवहार करते आप लोग रामायण(पद्मपुराण) महाभारत (पाण्डव पुराण, छरितंश पुराण) आदि होंगे, सुने होंगे। अभी श्री देश-विदेश में विपक्षी दल के नेतादि की मृत्यु में गन्तव्योचित सज्जनता का व्यवहार करते हैं। क्या अहिंसा प्रधान, विश्व-बन्धुत्व जीवन स्वरूप एक जैन साधु को प.पू. स्वर्गीय आचार्यों के लिए ऐसा भाव एवं विहार-कथन अपनी गरीमा, मर्यादा, शालीनता के अनुकूल है?

या मुनि सुधासागर जी को ऐसी कथनी-करनी करना योग्य है?

(1) आचार्य ही स्व शिष्यों के दोषों को प्रायशित्त ग्रन्थ के अनुसार एकान्त विवाह कर प्रायशित्त देते हैं? यह अधिकार दूसरे संघ के आचार्य आदि को श्री नहीं सुधा सागर जी केवल मुनि हैं और वह श्री अन्य संघ के। वे न आ. विमल सागर जी आ. भरतसागर जी के गुरु हैं तो यह अधिकार, अमर्यादित कार्य वर्यों? और श्री समाधि के बाद तथा समाधि की श्रद्धाजली सभा में। (2) सम्यक्तृष्टि गृहस्थ भावक का श्री धर्म होता है कि दूसरे धार्मिक जनों के दोष उपगृहन, विवाह, वात्सल्य, प्रभावना अंग के अनुसार दूसरों के दोषों को अन्य के सामने न करे फिर स्वर्गस्थ आचार्यों के लिए क्या एक सत्त्वा दि. जैन साधु श्रद्धाजली में ऐसा कथन कर सकता है? क्या दूसरों के द्वारा किया गया ऐसा व्यवहार के लिये या स्वगुरु के लिए वे या अन्य कोई योग्य मानते हैं? या मानेंगे? इस में वया वे खरे उतरे हैं? या आगे उतरेंगे? (3) क्या वे सर्वज्ञ हैं जो पहले के या जिनके पास वे नहीं थे उनकी समाधि सही हुई या गलत हुई इन्हें ज्ञात सर्वज्ञ होना तो अभी संभव नहीं परन्तु सर्वज्ञ की आज्ञा में (आगम में) श्री श्रद्धा तो ऐसा कथन भी नहीं कर सकते हैं। इतना ही नहीं समान्य सज्जन गृहस्थ कथन नहीं कर सकता है। (4) उन्होंने यह भाव प्रकट किया है कि आ. भरत सागर जी यदि आ. विद्यासागर जी के पास रहते तो श्रेष्ठ बनते। परन्तु स्वयं विवाह

करे-दीक्षा लेने के बाद कम से कम 12 वर्ष तक गुरु के पास रहकर ज्ञानार्जन, अनुश्रूति सीखना चाहिए। वह वर्षा स्वरां गुरु के पास 12 वर्ष मुग्नि दीक्षा के बाद रहे। इनकी मुग्नि दीक्षा सन् 1983 में हुई, 1994 से 2006 तक तो इनके चारुमास राजस्थान (एक सूरत) में हो रहे हैं। प्रायः 18-19 वर्षों से ये गुरु से अलग रिहाएं चारुमास कर रहे हैं। मुग्नि दीक्षा के बाद कुछ कम वर्ष ही गुरु के पास रहे हैं। किंतु स्वरां स्व-गुरु के पास श्रेष्ठ/आदर्श बनने के लिए क्यों नहीं जा रहे हैं? यह में आने के लिए न गुरु का आदेश/निर्देश है न स्वरां भी जाते हैं? कम से कम मुग्नियों का एक साथ रहना चाहिए परन्तु वे तो अनेक वर्षों से अकेला/दो थुल्ले हैं जो कि उत्कृष्ट श्रावक है। रह रहे हैं। (5) वर्षा मुग्नि सुधासागर जी मार्ईक आणि व्यावहार नहीं करते हैं? वर्षा इनके शिविर में शिविरार्थियों को धोती दुपट्टा से लेकर सोने की बैन नहीं दिलवाते हैं? ग्रन्थ प्रकाशन, विडियो कैसेट, ओडियो कैसेट, फोटो, क्लेप्ड-प्रमाण पत्र, प्रशस्ति पत्र का निर्माण एवं प्रदान नहीं करते? मुग्नि सुधासागर जी महाराज की प्रेरणा/आशीर्वाद/एवं सानिध्य में सारे भारत की दि. समाज ने उद्योगपति श्री अशोक पाटनी को ज्ञता/स्वर्ण एवं रन जडित 11 फुट ऊपरी क्रीड़ा-भैंस के साथ बेंट किया। इतना बड़ा बहुमूल्य प्रतीक विश्व में प्रथम में प्रथम बार भैंट किया गया। अतः यह प्रतीक भी गिनीज बुक रिकार्ड्स में रासायनिक रूप से लिखा गया। (सांगानेर वाले बाबा की कथा पृ. 57-58)

तुनियाँ की यह सबसे विशाल कलात्मक और रन जडित ट्रैफ़ी 3.429 लंबी 991.44 सेमी. चौड़ी है। 93 किलो चौड़ी से बनी है तथा ट्रैफ़ी पर 24 गोल्ड परत चढ़ाकर इसे नयानाश्रिम स्वरूप दिया गया है। इस अनुपम कलाकृति को बनाने का श्रेय किरण साह्र काप्ट जयपुर के अमित बाबुलाल को है। ट्रैफ़ी में जैन संस्कृति से जुड़ी त्रिलोक रहना को त्रिआयामी रूप से पेश किया है। जिस पर हीरा, पन्ना, माणक, मोती, नीलम, सुनेला जैसा कोई 20 बेशकीमती नहीं जड़े गये हैं।

तीनों ही छोंके बीच में एक-एक कलश अलग से हैं। जिसमें 24-24 वर्ष पत्थर फिक्स करे गये हैं। ट्रैफ़ी का अष्ट पहलुओं वाला पारा काष्ठ गिरित उल्लेखनीय है कि यह कृति 11 अक्टूबर, 1998 को सीकर में मुग्नि पुंगव सागर जी महाराज के सानिध्य में आयोजित एक धार्मिक समारोह में आर. के. के. के. अशोक पाटनी व विमल को उनके प्रशंसनीय धार्मिक सेवा कार्यों के कारण जैन समाज की तरफ से तत्कालीन उपमुख्यमंत्री हरिशंकर भाभा द्वारा जैन समान बतौर स्मृति विन्ह भैंट की गई थी। तभी से यह कलाकृति आर. के. के. के. के. स्थानीय मुख्यालय के स्वागत कदा में शोभायामान है। (जैन-पत्रिका से)

अभी तक आपके प्रवत्तन की 17 पुस्तकें, सुधासागर जी पर लिखित साहित्य 1. शोध संगोष्ठियाँ 14, प्रेरणा से हुए प्रकाशन-शोध-संगोष्ठी ग्रन्थ-11, अन्य 300 अधिक शोध परक एवं धर्म, समाज सबंधी कृतियों का प्रकाशन आपकी प्रेरणा से 2. विशेष कार्य में दि. जैन कन्या इंटर कॉलेज, ललीतपुर, श्री दि. जैन ऋषभादेव विश्वविद्यालय, सांगानेर, श्रमण संस्कृति संस्थान, सांगानेर, ज्ञानोदय तीर्थ, नारेली, वरगोशाला नारेली, शतांदि गोशाला, वृद्धाश्रम, ग्रन्थालय, छात्रावास आदि के गोण्ठी, गोण्ठी-द्वार में देवगढ़ से लेकर सांगानेर, चौदखेड़ी, बिजौलिया में किया गया जो कि तोड़-फोड़-परिवर्तन-विषमता के कारण बने हुए है, श्रावक संस्कार विधि 17, 32 पंचकल्याण-गजरथ समारोह हुए हैं (साभार-आध्यात्म सुधा) यदि यह तथाकथित आपके प्रेरणा/मार्गदर्शन सानिध्य में होना आगमोत्तम/उचित है तब तो यह साधु के प्रेरणा/दिसे उनके भक्त लोग करते हैं तो आगम बाह्य, अनुवित वर्णों पर सब दुर्गति, नरक निगोद में जारेंगे ऐसे मुग्नि श्री बार-बार अनेक वर्षों से बोलते हैं? स्वरां, स्वरां की ही कथनी-करनी, गुरु सरसंघ, भक्त, पंथ-मत-परम्परा है और सब नीच, भिस्या, पाप, अधर्म तथा नरक-निगोद के पात्र हैं- ऐसी कथनी-करनी करना वर्षा उचित है? जैन धर्म अनेकान्तात्मक, वस्तु स्वातंत्र्य, कर्म आणि धर्म है। जैन धर्म में दबाव, पर कर्तृत्वपना नहीं है। आप (मुग्नि सुधासागर जी) अनेक कथनी-करनी के कारण अनेक वर्षों से समाज में अशानित, दोष, विषमता उन सब विषमताओं को दूर करने के लिये अनेक वर्ष पहले “जैन संस्कृति देश की स्थापना हुई है” जिसके पठाधिकारी/कर्तृकर्ता हैं श्री एन.एस. कासलीवाल(पूर्व निवारीश, सर्वोच्च न्यायालय), श्री पानाचन्द, जैन(पूर्व न्यायाधीश उच्च न्यायालय) श्री मिलापचन्द डॉडिया(वरिष्ठ पत्रकार) तथा और भी अनेक वरिष्ठ अधिकारी, अधिक-धार्मिक कर्तृकर्ता हैं। जैसा कि अनेक वर्षों से अनेक लोग मानते हैं, ही अनेक जैन पत्र-पत्रिका आदि से लेकर इंडिया टु-डे आदि में प्रकाशित हुआ और इनके वक्तव्य और व्यवहार/कार्य से सिद्ध होता है कि वे प्रातीन आगमोत्तम/विधि (20पंथी) के मन्दिर, मूर्ति, शिलालेख, पूजा-पाठ-साधु-साधी-अनुयायियों फोड़, विद्वांस, भर्त्यना, अपमान, परिवर्तन करके अपने पंथ अपने नाम/वर्तन कर रहे हैं और यह सब आगम एवं आ. विद्यासागर जी के नाम पर कर रहे

अभी तक मैंने (आकनकनन्दी) मुग्नि सुधासागर जी के नाम लेकर न कृच्छा, न सआ में बोला था भले इनके विरोध में मेरी जिनार्वना। का द्वितीय प्रेरणा (1995) कुछ सज्जनों ने प्रकाशित किया है और इसकी 500 प्रतियाँ श्री कुमार सेठी संस्थान से खरीदकर महासभा साहित्य-विक्रय केन्द्र में रखा है।

उस में श्री नामोल्लेख नहीं है भले 12-13 वर्षों से अनेकों ने उनके विरोध में गुण बोला, पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ा परन्तु उन्होंने आ भरत सागर जी की श्रद्धाञ्जली सभा में (उनके अनुसार सान्तवनाभजली- वया स्वर्गीय आचार्यों के लिए सान्तवना दी जाती है? वया वे दीन-हीन हैं?) जो दोनों आचार्य एवं उनके भक्तों के लिये बोला है (उनके कारण उदयपुर भेवाड) सागवाडा(वगड) में बड़ी-बड़ी सभा हुई और मुनि सुधासागर जी के इस कथनी का विरोध हुआ तथा निन्दा प्रस्ताव पारित हुआ जो कि इस पुस्तक में प्रकाशित है) भेवाड-वगड के साथ-साथ राजस्थान से लेकर भारत भर में साधु संघ से लेकर श्रावकों में इस कारण से भावात्मक-अशांति और आक्रोश है, दोष है ऐसी पुनरावृत्ति नहीं हो जिससे समाज में विषमता न फैले तो पवित्र भाव से यह सब नामोल्लेख पूर्वक लिखा है। भले मुनि सुधासागर जी लेकर आ विद्यासागर जी संसंघ, उनके ब्रह्मचारीणी, ब्रह्मचारी, भक्त, अनुयायी, श्रेष्ठी वर्ग ने मेरे प्रति कभी भी अभी तक गलत व्यवहार नहीं किया है, अनादर नहीं किया है, वैर भाव नहीं है। इतना ही नहीं मैं जब साधु जीवन मैं पांचवीं कोटा में (1995) अंयंकर रूप से 3-4 महिना अखस्थ रहा रख्यं आ विद्यासागर जी ने फोन करवाकर मेरे बारे में जानकारी लेकर वैद्य? श्रावकों के साथ और जिजवारी थी। उनकी अनेक ब्रह्मचारीणीयाँ चौका लगाकर आहार देती हैं, नगों से विनय आदि करती हैं। इन सब कारणों से भी प्रेरित होकर वह सब लिख रहा कि जिससे उपगृहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना, समता, एकता, सधर्मअनुयायी हो और स्व-पर-संघ, समाज, राष्ट्र में सहिष्णुता, शांति फैले। जिससे छन से मिलकर जैन धर्म की अन्तरंग-बहिरंग समस्याओं के समाधान के लिए समर्थ वर्णों

प्रकरण 3

स्व-हितकारी ही सर्व हितकारी

(अशुद्ध एवं अनुदार भाव से परोपकार- पर सुधार का दुष्परिणाम)

जिस प्रकार कि सूर्य, दीपक आदि स्वर्यं प्रकाशित होते हैं तो उस प्रकाशित होने योन्य क्षेत्र के योन्य पदार्थं श्री स्वरमेव प्रकाशित हो जाते हैं जो प्रकार स्व-हितकारी से भी अन्य हिताकांक्षी जीव या प्रकृति भी हित कर लेती है परन्तु जिस प्रकार कि बुझाहुआ दीपक स्वर्यं को प्रकाशित नहीं कर सकता है तो दूसरों को भी प्रकाशित नहीं कर सकता है अथवा दूसरे कोशिष्ण करके भी उस प्रकाश प्राप्त नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार जो स्व-उपकार नहीं करता है तो दूसरों का उपकार नहीं हो सकता है या वह दूसरों का उपकार नहीं कर सकता है अथवा दूसरे कोशिष्ण करके भी उससे उपकृत नहीं हो सकते हैं। कहा भी है-

आद हिंदं कादव्वं यदि वैत परीहंदं कादव्वं।

आद हिंदं पर हिदादो आद हिंदं सुदुकादव्वं॥

अर्थात् आत्महित करना चाहिए। संभव हो तो आत्महित करते हुए परहित भी करना चाहिए। परन्तु आत्महित परहित में से आत्महित श्रेष्ठता से ज्येष्ठता से सतत करना चाहिए। इसके माध्यम से कोई संकीर्ण स्वार्थिनिष्ठ, मनमानी, पलायनवादी, अवसर्वादी पूर्ण भाव वरन् व्यवहार/कर्तव्य का वर्णन नहीं किया है परन्तु इससे पूर्ण विपरीत सार्वभौम, आध्यात्मिक, नैतिक, व्यावहारिक, नैतिक, सामाजिक, सिद्धान्त का वर्णन किया गया है जिस प्रकार कि दिव्दर्शन किया गया है। विशेष जिज्ञासु मेरे आध्यात्मिक मनोविज्ञान (इष्टोपदेश) मार्गसुख्यमृतम् (प्रवचनसार), पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि ग्रन्थों का अध्ययन करें।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से :- जैन धर्म के समस्त तीर्थकर, बौद्ध धर्म के गुरु वैदिक धर्म के महर्षि याज्ञवल्क्य आदि सब राजा, महाराजा या चक्रवर्ती थे। उन्होंने अपनी गृहस्थावस्था में अपनी सत्ता, सम्पत्ति, शक्ति, बुद्धि, प्रभुता, आदि के माध्यम से जो स्व-पर-राष्ट्र के हित कर्त्ता नहीं कर पाए उसके त्याग थे। उससे भी अधिक स्व-पर-राष्ट्र-विश्व के कर पाए। क्योंकि गृहस्थावस्था सत्ता-सम्पत्ति आदि के आकर्षण-तिकर्षण, बन्धन, संकीर्णता आदि के कारण आत्मा-उपकार नहीं कर पाए थे जितना कि उन्होंने सत्ता आदि के त्याग के बाट कर पाए। जिस प्रकार कि विज्ञान के अनुसार अणु के विस्फोट से $E=mc^2$ से प्रवृत्त ऊर्जा का उत्सर्जन होता है क्योंकि अणु परस्पर के बन्धन सुरक्षा होते हैं उसी प्रकार जीव जब सत्ता-सम्पत्ति आदि के बन्धन से मुक्त होता है तब स्वर्यं में निहित अनन्त आध्यात्मिक शक्तियाँ प्रकट होती हैं। उन अनन्त के कारण स्व-पर विश्व का उपकार संभव होता है। ऐसे व्यक्तियों के आदर्श, सत्यंग आदि से लाखों-करोड़ों मनुष्य, पशु, पक्षी यहाँ तक कि अनेक जीवों ने स्व-पर उपकार किया, अभी भी कर रहे हैं और अनेक भी करेंगे। इसके अलावा जो स्व-हितकारी होते हैं वे न पर अहित करते हैं या न उनसे पर अहित होता है। जिस प्रकार कि प्रकाश न अन्धकार लाता है, नहीं इससे अन्धकार होना होता है। स्व-हितकारी जीव तब बनता है जब वह अज्ञान, मोह, माया, राग, द्वेष, पृणा, तृणा, संकीर्णता, कठोरता, क्रूरता, काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, असत्य, परिघाह, अब्राहर्य, पक्षपात, भेद-भाव आदि से दूर होकर पवित्र, शान्त, सहिष्णुता, सत्यानिष्ठा, अहिंसा, क्षमा सहज, सरलता, आदि आध्यात्मिक युक्त होंगा। इसलिए विश्व के जितने भी महान् साधु-संत, महात्मा, धर्म

प्रवारक हुए हैं, अभी है और आगे भी होंगे वे सब उपर्युक्त गुणों से युक्त होकर स्व-हित पहले करते हैं जिससे उनसे पर-हित भी सहज होता है।

उपर्युक्त महान् गुणों से रहित होकर कोई भी पर-हित नहीं कर सकता। और करना चाहेगा तो उपकार तो कम कर पायेगा परन्तु अपकार/अहित अधिक करेगा या अहित अधिक होंगा जैसा कि दूध या मछली की सुरक्षा बिल्ली से करने से होता है। इसके अन्य उदाहरण हैं- अन्य देश के ऊपर आक्रमण करके परामर्श करके उस देश के ऊपर शासन करने वाले व्यक्ति राजा, देश या कम्पनी के हाथ होता है। इसी प्रकार क्रूर, आततारी, शोषणकारी, अयोन्य, धर्मान्ध, कटखाली हिंसक, अनुदार, असहिष्यु, असत्यग्राही, उदाढ़, चोर, डाकू, आतंकवादी आदि के बारे में भी जान लेना चाहिए। जीव तब तक स्व-हितकारी नहीं बन सकता है जब तक कि स्व-में निहित अहितकारी/अशान्तकारी उपर्युक्त अज्ञान आदि दोष/शृंग दूर नहीं हो जाता है। यथा-

स्व-दोष-शान्त्या विहितात्म शान्तेर्विद्याता शरणं गतानाम्।

भ्रूयाद भव वलेश भ्रोपशान्तयै, शान्तिर्जिनो में भवन् शरण्या।

(श्री शान्ति जिन स्तोत्र)

अर्थात् जो स्व-दोषों को शान्त/नष्ट कर देता है वह ही आत्म-शान्ति को प्राप्त करता है। ऐसे आत्म-शान्ति से युक्त महात्मा ही उनकी शरण में आगे वाले के लिए शान्ति के कारण बनते हैं।

देश-विदेश के विभिन्न साहित्यों के अध्ययन, वर्तमान की अनेक प्रायोगिक घटनाओं से तथा अनुभव से सिद्ध होता है कि देश-विदेश के प्रायः प्रत्येक धारणा पंथ के अनुयारी से लेकर साधु-संत, धर्माधिकारी, धर्म प्रवारक तक स्वहित नहीं करते हैं परन्तु स्व-पर-हित के बहाने या धर्म के प्रवार के नाम पर अहित अधिक करते हैं। ऐसे लोग केवल बाह्य धार्मिक क्रिया, काण्ड- रीति-रिवाज, परम्परा पंथ-मत को ही राथार्थ धर्म/आध्यात्मिकता/ईश्वर परायनता मानकर सत्य, अद्वितीयता, समन्वय, परोपकार, सहयोग, एकता, शान्ति, प्रगतिशीलता आदि निर्ममता से कुचल डालते हैं। यथा-

कुत्ता लड़े दातां सूं, मुरख लड़े लाता सूं संत लड़े बाता सूं॥

ऐसी परिस्थिति में स्व-हित चाहने वालों का परम कर्तव्य है कि सभी सत्यग्राही होकर समता भाव से शान्ति से स्व-आत्म को पवित्र बनाने में ही द्वारा संकलिप्त होकर सतत पुरुषार्थरत रहे अन्यथा ईर्ष्या, द्वेष, धृणा, विद्वेष, संवेष आदि के कारण स्व-समर्पण-शक्ति साधना आदि की क्षमता के साथ-साथ स्व-हित भी बाधा पहुँचती है। अज्ञानी, मोही, दुष्ट स्व-भाव एवं व्यवहार से स्व-अहित स्वर्यं का

है जिसका कुफल उसे स्वर्यं उसका कर्म ही देगा तब स्व-हित करने वालों को उसको निर्मित करके स्वर्यं कुविन्ता, कुव्यवहार, नहीं करना चाहिए जिससे स्वर्यं की कुफल मिलेगा परन्तु उसकी मंगल कमज़ा करना चाहिए जिससे स्वर्यं को उसका मिलेगा/स्व-हित होगा। यथा-

अप्या नई वेयरणी, अप्या में कूडसामली।

अप्या-कामदुद्धा धेणु अप्या में नन्दणं वणां॥36॥ अ. मनो

“मेरी अपनी आत्मा ही वैतरणी नहीं है, कूट शालमली वृक्ष, कामदुद्धाधेनु है जिन्दनवन है।”

अप्या कत्ता विकता य दुष्टाण य सुहाण या।

अप्या मित्तमित्तं च दुपट्टिय-सुपट्टिओ॥37॥ अ. मनो

“आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है और विकर्ता-भोक्ता है। सत् प्रवृत्ति विषय आत्मा ही अपना ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही शत्रु है।”

जो आत्महित करता है वह स्वर्यं तो पर-अहित नहीं करेगा तथा उससे जिन्दन ही नहीं होगा। उनके आदर्श से दूसरे भी शिक्षा प्राप्त करते हैं, उनके अनन्त को दूसरे भी महत्व देते हैं। इसके साथ-साथ स्व-हितकारी जब केवली बनते हैं तब वे प्रवचन (दिव्य ध्वनि) आदि के माध्यम से सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय विदेश देते हैं जिससे मनुष्य, पशु-पक्षी-देव तक सुनते हैं, स्वीकार करते हैं, पर-हितकारी भाव-व्यवहार को अपनाते हैं। स्वहित से फल स्वरूप प्राप्त केवली भावाया का प्रभाव यह होते हैं कि उनके गमन, प्रवचन, श्रीर आदि से भी दूसरे लोगों से लेकर स्थूल जीव तक किसी को भी किसी प्रकार का अहित नहीं होता है। किसी भगवान् जब मुक्त हो जाते हैं उनसे अनन्त काल तक दूसरे किसी भी जीव किसी प्रकार का अहित नहीं होता है जीव स्व-हित नहीं करता है वह तो अपरितर्ण रूपी अनन्त संसार में परम परतंत्र होकर स्व को अनन्त दुःख देता है। दूसरे अनन्त जीवों को भी दुःख देता है और उससे दूसरों को दुःख प्राप्त ही है। अतएव-

परः परस्तो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।

अत एव महात्मानस्तनिमित्तं कृतोद्यमा॥ 45

आत्मार्थ श्री ने इस श्लोक में सुख का आधार तथा उसे प्राप्त करने का अधिकार किन्तु सार गर्भित उपाय बताया है। उन्होंने यह बताया कि दुःख आत्मा द्वारा उत्पन्न नहीं है तथा सुख दूसरों से प्राप्त नहीं होता है वरन् दुःख पर स्वभाव ही सुख स्व-स्वभाव है। जो सुख के लिए दूसरों को अनात्म स्वरूप को अपनाता

है वह सुख के परिवर्तन में दुःखों को गले लगाता है। इसके विपरीत जो पर संरोग का त्याग करके आत्मा का ही आश्रय लेता है, आलम्बन लेता है वह सुख को प्राप्त करता है। इसका रहस्य यह है कि शुद्ध, स्वतंत्र आत्मा का स्वरूप ही अक्षय अनन्त सुख स्वरूप है तथा श्रीरादि पौद्गविक द्रव्य है, जिनमें सुख का सर्वथा अभाव है। उसका स्वीकार रूप में तो मोह, राग है वह दुःख के निमित्त है। वर्णोंकि उसके कारण जो कर्म बन्ध होता है, उससे आत्मा परतंत्र हो जाता है और सुखादि गुण भी दुःख रूप में परिणमन कर लेते हैं परन्तु भेद विज्ञान तथा भेद क्रिया रूप वीतरण चारित्र से पर संबंध रूप बन्धन कट जाता है तब आत्मा के सुखादि गुण प्रकट हो जाते हैं। इसे ही स्वतंत्रता/निःसंगत्व/स्वाधीन कहते हैं।

अर्थात् शरीर, तैश्वत, सत्ता-सम्पत्ति, प्रसिद्धि, परिवार, शत्रु-मित्र, राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि पर है, अनात्मा है, पर आत्मा है। अतः उनसे स्वयं को सुख प्राप्त नहीं हो सकता है, किन्तु उनके प्रति जो राग-द्वेष, ममत्व आकर्षण-विकर्षण ली संकलेश है उससे दुःख ही प्राप्त होगा। इससे भिन्न जो शुद्ध आत्मस्वरूप है वह सुख स्वरूप होने से उस की उपलब्धि से सुख की उपलब्धि होती है, इसलिए महात्मा पुरुष स्व-आत्म-उपलब्धि अर्थात् स्व-हित के लिए पुरुषार्थ करते हैं। नारायण कृष्ण ने भी कहा है-

प्रशान्तमसं ह्येन योगिनं सुखमुत्तमम्।

अैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ (27 गीता पृ. 76)

जिसका मन भली भौति शान्त हुआ है, जिसके विकास शान्त हो गये हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है।

युज्जत्रेवं सदात्मानं योगी विगत कल्मषः।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यनं सुखमऽनुते॥ 28

आत्मा के साथ अनुसंधान करते हुए पाप-रहित हुआ यह योगी सरलता से ब्रह्म की प्राप्ति-रूप अनन्त सुख का अनुभव करता है।

व्यवहारिक दृष्टिकोण से :- आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जो वर्णन किया गया है उसके प्राथमिक आंशिक भाव-वर्वन-व्यवहारिक दृष्टि से व्यवहारिक व्यक्ति(गृहस्थ, समाज, नागरिक) में होने पर ही आंशिक रूप से स्व-हित के साथ-साथ परहित (सर्वहित) कर सकता है अन्यथा नहीं। भारतीय आध्यात्म संस्कृति में (1) ब्रह्मवर्याश्रम (2)गृहस्थाश्रम (3)वानप्रस्थाश्रम (4)सन्यासाश्रम रूप में स्व-हित एवं सर्व-हित का वर्णन क्रम-विकास रूप में है। स्व-गृहस्थों की 108 क्रियाओं में से 53 गर्भान्वय, 48 दीक्षान्वय, 7 कर्त्रन्वय क्रियायें हैं जिसमें उपर्युक्त चारों आश्रम की क्रियायें गर्भित हैं। 52 क्रियाओं में प्रथम (1) आधार (गर्भाधान) से लेकर अनितम

52 अग्निवृत्ति (मोक्ष)है तथा दीक्षान्वय क्रियाओं में प्रथम (1) अवतार (जन्म) और अनितम (48) अग्निवृत्ति है तथैत व 7 कर्त्रन्वय में (1) सज्जाति और अन्त की (7) परम निर्वाण क्रिया में जन्म से लेकर मोक्ष तक गर्भित है। निष्कर्ष रूप में देखा जाये तो जन्म से लेकर मृत्यु तक ब्रह्मवर्याश्रम (विद्यार्थी) से लेकर सन्यासाश्रम (साध) तक व-पर-विश्व हित जपी आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। भले प्राथमिक आश्रम या क्रियाओं में यह गुण क्रम विकास रूप में गुप्त रूप में सुप्त रूप में कुछ कम मात्रा है जैसा मनुष्यात्व शिशु से लेकर प्रौढ़ तक में है। ऐसा नहीं कि मनुष्य शिशु पहले पृथु या कीट-पतंग रहता है और फिर युवक-प्रौढ़ अवस्था में मनुष्य बन जाता है। कहा भी है-

चतुभिंरपति चैतैतेनित्यमाश्रमिभीद्विजैः।

दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥१११ मनुस्मृति पृ. 219

इस ब्रह्मवारी आदि चारों आश्रमी द्विजों को सदा यत्न पूर्वक (आगे कहे) व्यविध धर्मों का सेवन करना चाहिए।

घृतः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिद्विग्रहः।

धीरिद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ११२

सज्जोष, क्षमा, मन-संयम, अन्याय से किसी की वस्तु न लेना, शारीरिक विप्रता, इन्द्रियों का निघट्य (विषयों से ऊँहें रोकता), बुद्धि (शास्त्रादि तत्त्व का ज्ञान), विद्या(आत्मबोध सत्य) (राथार्थ कथन), क्रोध न करना, ये दस धर्म के लक्षण हैं।

भाव-प्रदूषणकारी खलुः सर्व अनर्थकर खलुः:- उपर्युक्त गुणों के देश व्यक्ति न स्व-हित कर सकता है न ही परिवार समाज, राष्ट्र, विश्व का हित न सकता है। भगवान् ऋषभदेव, श्री रामचन्द्र, राजा युधिष्ठिर, राजा अश्वेन, राजा अक्षमादित्य, समाट चन्द्रगुप्त, प्रियदर्शी अशोक आदि राजा-महाराजा-समाटों ने भी योन्य उपर्युक्त गुणों से युक्त होकर परिवार से लेकर राष्ट्र पर शासन किया था। ऐसिए उनके राज्य में सुख, सम्वृद्धि, शान्ति थी। परन्तु किसी भी काल में किसी देश में किसी भी धर्म सम्प्रदाय में वाहे आस्तिक हो या नास्तिक, शिक्षित हो या नाशिक्षित, धनी हो या गरीब, राजतंत्र या प्रजातंत्र या साम्यवादी हो उपर्युक्त गुणों के देश सुख, सम्वृद्धि शान्ति संभव नहीं है। यथा हिण्यकश्यप, रावण, कंस, हिंटलर ने लेकर अभी के देश-विदेश के शोषणकारी, ब्रह्म, कूर, तानाशाही, स्वार्थी, संकीर्ण, ग्रासन, शासक, पूंजीपति आदि से लेकर परिवार, समाज, संगठन, संघ, राष्ट्र, विश्व की व्यवस्था, सेवा, सुरक्षा, सम्वृद्धि के लिए तत् योन्य नेता/मुखिया बनते हैं वहाँ बनाए जाते हैं। परन्तु प्रत्येक काल में देश-विदेश के अधिकांश नेता/मुखिया

प्रायः स्व-पर अहितकरी बनते हैं। राष्ट्र-प्रजा की सुरक्षा, शान्ति प्रगति के लिए राजा, नेता बनते हैं किन्तु प्रायः वे ही अधिक असुरक्षा, अशांति, विनाश के कारण बनते हैं। इसी ही प्रकार प्रत्येक दोष में होता है। केवल सत्ता, सम्पत्ति के दोष में इसे प्राप्त करने के लिए ही अनर्थ नहीं होता है परन्तु स्व-पर-विश्व-हित के कारणभूत धार्मिक दोष में भी होता है मानो औषधि ही रोग कारक, मृत्यु का कारण बनती है। धर्म प्रचारक से लेकर धर्म सम्प्रदाय तक जिस समय प्रभावशाली होते हैं वे अन्य पंथ-मत-सम्प्रदाय से धृणा से लेकर युद्ध तक करके उन्हें परास्त करते हैं। संहर करते हैं, गुलाम बनाते हैं, स्व-धर्म में परिवर्तन करने के लिए यातनाये देते हैं, नहीं परिवर्तित होने पर हत्या, बलाकर, तक करते हैं। ऐसा ही न्यूनतात्मिक हर धर्म प्रचारक, सम्प्रदाय अपनी क्षमता के अनुसार करते हैं। वे अज्ञान, गोली संकीर्णता, धृणा, क्रूरता, कठोरता के कारण इसे ही वे स्व-पर-हित या धर्म मानते हैं। इस से स्व-पर को इहतोक-परतोक में सुख प्राप्ति, स्वर्ण-मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं। इसलिए कहा है-

धर्म शब्द मात्रेण प्रायेणः प्राणीनः अधमा।

अधममेव येवन्ते विचार जउ वेतसः॥

देश-विदेश के धार्मिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, सामाजिक, कर्मसिद्धान्त से लेकर आधुनिक विभिन्न वैज्ञानिक शोध (जिनोंम स्थिरान्तः, अपराध मनोविज्ञान, मानसिक रोग, असाधारण व्यवहार आदि) तथा मेरा (आकनकनन्दी) विभिन्न दोष के प्रयोगिक दीर्घ अनुभाव से परिज्ञात होता है कि जो स्व-हित नहीं करके (अर्थात् स्वयं को सत्यनिष्ठ, सरल-सहज, उदार, सहिष्णु, क्षमावान, गुणवाही, धैर्यवान, दूर दृष्टि सम्पन्न, अनुभवी बनाये दिना) किसी प्रकार के हित (आध्यात्मिक या व्यवहारिक हित) करता है तो वह निश्चयतः अन्तर्गत में कुछ क्षुद्र लक्ष्य (प्रसिद्धि, स्वार्थसिद्धि, अहंभाव, दूसरों को नीचा दिखाना, धृणा प्रतिशोध, आवेग, आवेश, मनोविकार, धर्मान्धिता आदि) को लेकर करता है। इसलिए साधन-साध्य, भाव-व्यवहार, अन्तर्गत- बहिरंग पवित्रता तथा साम्यता के दिन अन्ततोगत्वा उस पर हित से स्व-पर अहित ही होता है जैसा कि पूर्व में वर्णन किया है। इसलिए सम्पूर्ण महापुरुषों ने अपने समग्र अनुभाव से कहा है "आद दीपो भाव पर दीपो भव" अर्थात् पहले स्वयं प्रकाशित करके ही दूसरों को प्रकाशित करो। अत जो स्व-हित बिना पर हित कर रहा है उस से स्व-हित चाहने वालों को बहका रहना चाहिए।

दुर्जनं परिहर्तव्यं विद्याया अलंकृतोऽपि सन्।

मणीनां भूषितं सर्वः किमप्याषु न भयंकर॥ वाणक्य

इसलिए राग-द्वेष, पक्षापात, अज्ञान, मोह, प्रलोभन, भय, धृणा से रहित नितप्रिय-वचन-बोलने वालों और सद् व्यवहार करने वालों को आप्त (प्रामाणिक, अनिवार्य, धर्मोपदेशक) कहा है।

ण्यात्यर्ये विलङ्घे तिव्व-कसायं करेदि जह जीवो।

तो दुग्गईसु गच्छदि पण्ड-रसणत्ताओं होउ॥ 296 का.अ.

रत्नात्र को प्राप्त करके भी यदि वह जीव तीव्र क्रोध, इर्ष्यादि कष्टाय को है तो रत्नात्र को गष्ट करके दुर्गति में नमन करता है।

प्रकरण 4

कैसे हो जैन धर्म की सुरक्षा एवं सम्वृद्धि

(जैन धर्म की ज्वलन्त अन्तरंग-बहिरंग समस्यायें एवं समाधान)

जैन धर्म अनेकान्तात्मक, उदारवादी, सहिष्णु, गुणवाही, समता प्रधान वैज्ञानिक, अहिंसा पूर्ण, नित्य-गृतन, नित्य पूरातन, वैज्ञानिक, सर्वजीवहिताय, सुखाय, सरल, सहज, निष्कपट, विश्व-मैत्री, वात्सल्यमय है। इन गुणों साथ जैन धर्मस्तु स्वाभावात्मक, उत्पाद-व्याय-द्वौत्वात्मक बहु आयामी धर्म है। महान् गुणों से युक्त होने पर भी कतिपया अन्तरंग एवं बाह्य कारणों से जैन धर्म की सुरक्षा एवं सम्वृद्धि सम्बन्धी समस्यायें जो समाधान चाहती हैं। दीर्घ अनुभव परिज्ञान होता है कि अन्तरंग समस्याओं के कारण बाह्य समस्यायें प्रभावित होती हैं। जिस प्रकार कि विश्व गुरु भारत के छोटे-छोटे कारणों से अन्तरंग कलह, भ्रातृता होने से विदेशी आक्रान्ताओं ने भारतको गुलाम बनाया उसी प्रकार जैन धर्म के अन्तरंग अनेक कारणों से जैन धर्म की सुरक्षा एवं सम्वृद्धि सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न होती हैं। इसके मूल अन्तरंग कारण है भेद-विज्ञान के बदले में भेद-भाव, मोक्ष पथ के बदले में पंथवाद, वीतशगता के बदले में वित्तराग, साधाना के नाम पर रुखापन, ग्राहीता के परिवर्तन में गुण ढेही, आत्म शोधन के बदले में प्रतिशोध, समता परिवर्तन में इर्ष्या से परस्पर-उपकर नहीं करना दूर-दूर कटकर रहना, नितप्रिय वचन, दोषवादे च मौन, "गुण ग्रहण के भाव रहे सदा दृष्टि पर दोष पर जावें" के बदले में कटु, अप्रिय, कलहकारी, निन्दात्मक वचन-व्यवहार प्रायोगिक रूप से बहुतायत से पाया जाता है। इन सब कारणों भाव में प्रदूषण होता है, शक्ति क्षीण होती है कर्त्ता क्षमता घटती है, द्वेष, विद्वेष बढ़ता है, संगठन का विघटन होता है। इससे धर्म की सम्वृद्धि क्या होगी कि इससे धर्म की सुरक्षा संभव नहीं है। सम्वृद्धि के पहले सुरक्षा अनिवार्य है।

चतुर्विंश संघ में उपगृहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना अंग के अनुसार दोषों के परिमार्जन हो इस दृष्टि से धर्म की प्रभावना के लिये वात्सल्य भाव से अपने गुणों को बढ़ाना, दूसरों के दोषों को अन्यों से गुप्त रखकर दूर करना तो चाहिए। निन्दा, दोषप्रकट नहीं करना चाहिए। यहाँ तक कि आचार्य को भी स्व-प्रिणार के वास्तविक दोष को भी दूसरों के सामने प्रकट किये विना प्रायशिष्ठ देने का सक्त निर्देश/आदेश आगम ग्रन्थों से लेकर प्रायशिष्ठ ग्रन्थों तक में कहा है अन्यथा आचार्य ही महान् दोषी हो जाते हैं फिर अन्य गृहस्थ, शावक, पंडित, साधु से लेकर आचार्य जो दूसरों के दोष प्रकट करते हैं वे तो अत्यधिक अपराधी हैं। वर्णोंकि अनाधिकार चेष्टा/आक्रमण है। भगवती अराधना में कहा है -

निन्दा का दुष्परिणाम

भिक्षु विष्वास पूर्व अपने आचार्यों से कहता है। कोई आचार्य जो जिन भगवतों के द्वारा कहे गये धर्म से भ्रष्ट होता है, वह भिक्षु के द्वारा आलोचित दोषों को दूसरे से कह देता है कि इसने यह अपराध किया है अर्थात् ऐसे करने वाला आचार्य जिनधर्म से बाह्य होता है। उस आलोचित दोष को प्रकट करने वाले आचार्य ने उसके उस साधु का ही त्याग कर दिया। वर्णोंकि उसने अपने वित्त में यह तिवार किया कि मेरे द्वारा इसके दोष प्रकट कर देने पर यह लज्जित होकर दुखी हो अथवा आत्मघात कर लेगा, अथवा क्रुद्ध होकर रत्नत्रय को ही छोड़ देगा। तथा आचार्य ने अपनी आत्मा का त्याग किया, गण का त्याग किया, संघ का त्याग किया। इतना ही नहीं उसके भिष्यात्त की आराधना का दोष भी होता है। निर्यापकावान द्वारा दूसरे साधु के गुप्त दोष कहने पर कोई क्षपक लज्जावश या मान गुरुतावश विपरीत परिणाम कर सकता है। यह मेरा गुरु नहीं है। यदि मैं इसे कहता तो यह मेरा दोष कर्यों कहता। यह गुरु मेरे चलते-फिरते प्राण है ऐसा जो सोचता था वह आज नष्ट हो गया, इस प्रकार की विंता विपरीत परिणाम है। अपने दोष प्रकट कर देने से कुप्रिय होकर रत्नत्रय को छोड़ सकता है। रहस्य भेद करने पर कोई क्षपक द्वेषी बनकर उस आचार्य को मार सकता है अथवा गण में भेद कर सकता है कि इस खेड़हित आचार्य से वया लेना देना है? जैसे इसने अपराध प्रकट कर दिया उसी प्रकार तुम्हें भी अपराध निवेदन करने पर दोष लगेगा। ऐसा कहकर अन्य साधुओं को विरोधी बनाकर गण में भेद डाल सकता है। अपने विरोधी हो सकता है। जैसे इस आचार्य ने अमुक साधु का दोष प्रकट किया उसी प्रकार यह हमारा दोष भी प्रकट कर देगा, ऐसा सोचकर समस्त गण-गण से अलग हो सकता है अथवा आचार्य का त्याग कर सकता है। शुंका :- इस गाथा में तो का

गण आचार्य को छोड़ देता है और पूर्व गाथा में कहा है कि आचार्य ने गण का प्रकट करने वाले आचार्य की संगति नहीं बैठती? समाधान :- अतः दोषों का प्रकट करने वाले आचार्य ने गण का त्याग किया अतः गण भी उसे छोड़ देता है। रत्नत्रय "प्रोत्येते" कहा जाता है वह प्रवचन है इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द का अर्थ यहाँ संघ है। सभी संघ आचार्य के विरुद्ध हो सकता है और उपर वर्णित पद को छीन सकता है अथवा उसका त्याग कर सकता है। यदि आचार्य शिष्य को ही इस प्रकार दोष प्रकट करके दूषित करते हैं तो इन धर्मवाले श्रमणों को धिक्कार है ऐसा भिष्यादृष्टि लोग कहेंगे। आचार्य पूछने पर अथवा बिना पूछे दूसरे द्वारा प्रकट किये दोषों को दूसरों से नहीं वह रहस्य को गुप्त रखने वाला आचार्य अपरिस्ती होता है और उसे ऊपर दोष जरा भी नहीं हूँता।(भा.आ. गाथा 490 से 497)

अपने गण में अथवा दूसरे गण में दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। यदि आसादना से विरत रहो और सदा पाप से डरो। पर आरास, वैर, भरा, दुःख, शोक और लघुता को करती है, पाप रूप अभ्यंग लाती है और सज्जनों को अप्रिय है। जो पर की निन्दा करके उसे गुणी कहताने की इच्छा करता है वह दूसरे द्वारा कड़वी पीने पर अपनी निरोगता चाहता है। अर्थात् जैसे दूसरे के अभियानी पीने पर आप निरोग नहीं हो सकता है। वैसे ही दूसरे की निन्दा करके कोई स्वयं गुणी नहीं बन सकता। सत्पुरुष दूसरों के दोष स्वयं लज्जित होता है लोकापवाद के भ्रा से वह अपनी तरह दूसरों के भी गुणों को विष्याता है। दूसरे का छोटा सा भी गुण सत्पुरुष को पाकर अति महान् हो जाता है। जैसे तेल की बूंद पानी में फैल कर महान् हो जाती है। जब वह सत्पुरुष के दोष को कैसे कह सकता है। यह समस्त उपदेश का सर है। ऐसा यत्न करो। सज्जनों में तुम्हारे गुणों से उत्पन्न हुई कीर्ति सर्वत्र फैलो।(भा.आ.331 से 375)

जो ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारों में भी अविवल है, धीर है, अगम विपुण है और रहस्य अर्थात् गुप्त दोषों को प्रकट नहीं करने वाले हैं, वे आचार्य अपना सुनने योग्य हैं इससे अपरस्ती गुण कहते हैं। (मुचा शा-न गा. 57)

धर्म प्रभावना के लिए आधुनिक माध्यम

अतः उपर्युक्त समस्त दोषों से रहित होकर जैन धर्म की सम्वृद्धि के लिए उपदेश में प्रभावना के लिए स्व-आगम के साथ-साथ अन्य धर्म के साहित्यपृष्ठों विवाच के भ्रा से अन्य धर्मग्रन्थों का अध्ययन नहीं करते थे, अभी अनेक साधु, गुरु अपने करते हैं।) आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का भी तुलनात्मक परिणाम करना चाहिए।

जिससे जैन-धर्म का प्रस्तुतिकरण एवं प्रवार-प्रसार आधुनिक-युगानुकूल, वैज्ञानिक दृष्टि से प्रभावी से हो सकें। इसके साथ-साथ देश-विदेश के स्कूल, फौजी विश्वविद्यालय, प्रयोगशाला, संविधान, कानून, इतिहास में प्रायोगिक रूप से प्रयोग ढंग से प्रवेश करवाने के लिए शोधपूर्ण साहित्य-लेखों का प्रकाशन देश-विदेश की भाषा में करना चाहिए। आधुनिक उपकरण, संचार माध्यम गथा-प्रेस, कम्प्यूटर, TV (धार्मिक, वैज्ञानिक, शिक्षाप्रद) वेबसाईट, E-mail का भी सहयोग लेना चाहिए। सब अन्तरंग-बहिरंग कारणों से व्यक्ति से लेकर समाज, चतुर्विधि संघ, संगठन में गुणतता, एकता, प्रखरता, कार्यक्षमता आयेंगी, धर्म की सुरक्षा, सम्बृद्धि जैसे कारण जैन धर्म, तीर्थ, मन्दिर, मूर्ति, मुनिसंघ, संगठन सम्बन्धी जैसा है वह शब्द: शब्द: दूर होगी। हम बहुत वर्षों से उपर्युक्त अनेक उपायों का आवश्यक ले रहे हैं जिसके कारण हमारे पास देश-विदेश के दिग्मवर, श्रवे जैनों के साथ अजैन, वैज्ञानिक, प्रोफेसर्स, जज, R.S.S., विहिप, अन्तर्राष्ट्रीय गायत्री परिवर्तिभिन्न राजनीतिक दल के मंत्री आकर विचार-विमर्श, मार्गदर्शन प्राप्त करता है। तथा हमें भी विभिन्न प्रकार के सहयोग दे रहे हैं। विश्व विद्यालयों में साहित्यों के ऊपर जैन, वैदिक, मुसलमान शोधार्थी शोध कर रहे हैं। पाठ्य पुस्तकों में जैन धर्म सम्बन्धी गलतियों का संशोधन भी हो रहा है। विदेश में भी मेरे वैज्ञानिक शिष्य जाकर धर्म प्रचार कर रहे हैं। साहित्यों को भी पहुँचा रहे हैं। अनेक विश्व विद्यालयों में 'आग कनक नन्दी साहित्य कक्ष' की भी स्थापना हो गई है और भी होगी। आओ। सब मिलकर पंथाभ्यु, मताभ्यु, छठाभ्यु, ईर्ष्याभ्यु, परदोष प्रकटीकरण, देवाभ्यु छोड़कर उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग के समन्वय से जैन धर्म की सुरक्षा एवं समृद्धि में सतत सत्प्रयास करें। कुछ वर्ष पहले जब प्रथम बार शास्त्र प्रेस प्रकाशन का प्रारंभ हुआ तब बहुत वाद-विवाद, पेपर बाजी हुई। धवला, जय धवला ग्रन्थी भी प्रकाशन के लिए भट्टरक जी नन्ही दे रहे थे। वर्षोंके प्रेस में छपने से अपवित्र हो जायेगा। पहले दृष्टि शक्ति मन्द होने पर जब कोई साधु चथमा था उसका भी विरोध हुआ। पहले माईक, टेप रेकार्ड, टी.वी. वेबसाईट, फोटोफाउंटेन पैन, रिफिल, कानज, पेंसिल, बिजली, रसोई गैस, चीनी (शवकर, प्लास्टिक के उपकरण-चटाई-पैन आदि, स्टील का आविष्कार नन्ही हुआ। इसलिए प्रयोग नहीं होता था। अभी शावक से लेकर अनेक साधु माईक प्रयोग है, गैस का भोजन करते हैं (जो प्रदूषणकारी, स्वास्थ्य के लिए अहितकारी, कारक) टी.वी. में प्रोग्राम, प्रवचन आता है, प्रवचन के टेप-कैसेट बनाते हैं, प्लास्टिक के पैन तथा चटाई (स्वास्थ्य के लिए हानि कारक), स्टील के बर्तन आदि प्रयोग

होते हैं। इसी प्रकार धर्म ज्ञान प्राप्ति के लिए एवं देश-विदेश में धर्म प्रभावना के लिए शब्द वढ़ती, अच्छे उद्देश्य से वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग करना युगानुकूल तीर्थानिक यंत्र एवं विद्युत निर्जीव होने से इसके प्रयोग धर्म के लिए करने से 'न मात्रात्मेष्येन न स्यात् धर्म प्रभावना' के अनुसार गुण अधिक है दोष कम होता है। कि तीर्थ यात्रा, आहार दान, मन्दिर, निर्माण, जिरो-द्वार, साहित्य प्रकाशन, कल्याणिक, गजरथ महोत्सव, विद्यालय निर्माण, धर्मशाला, प्रवचन सभा मण्डल, संगोष्ठी आदि में होता है।

युगानुकूल मुनि संघ की रक्षा एवं प्रभावना

युगानुकूल मनुष्यों की भावना के अनुसार हमारे 22 तीर्थकरों के प्रतिपादन पढ़ते हैं अलग रही और आदि एवं अन्त के तीर्थकर की पढ़ती पृथक रहती। तीर्थकरों ने द्रव्य-दोष-काल भाव-शक्ति आदि के अनुकूल उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग समाजकर्य करते हुए ध्यान-अध्ययन-मुनिधर्म, त्याग-तपस्या-प्रवचन-व्यवहार करने लिए निर्देश/आदेश दिया है। इसलिए पंचम काल में आतापन योग, अश्वावकाश पद्मास-वर्षोंपवास आदि निषेध है तथा साधु जंगल में रहना, वर्षा काल में वृक्ष नींवे खड़े होकर तप करना आदि नहीं करते हैं। चतुर्थकाल में भी व्यापक वकुश-कुशील-निर्बन्धः-स्नातक निग्रन्थः। लघी साधु होते थे। जो उत्तर की भावना से रहित तथा कभी-कभी मूल गुणों में भी दोष लगा देते हैं वे पुलाक भार गुणों की विराघना सहित किन्तु मूल गुणों को निर्देश पालन करते हैं किन्तु उपकरण आदि में राग है उसे "बकुश" कहते हैं। जिनके मूलगुण-उत्तर गुणों की विवरण जाता है उसे प्रतिसेवना कुशील कहते हैं और जिन्होंने संज्वलन कषयाभ्यक्त उदय को वश में नहीं किये उन्हें "कषय कुशील" कहते हैं। 11-12 गुणस्थान वर्ती को निग्रन्थ तथा 13 वें गुणस्थानवर्ती को स्नातक कहते हैं। ये भी सम्यन्तर्षित भाव-लिंगी, (मूलसंघी) 6 से लेकर 14 गुण स्थानवर्ती हैं। 12 अन्ते के तो तदभव मोक्षगमी निश्चय से होते हैं परन्तु अन्य पुलाक, वकुश, वक्षील भी तदभव मोक्षगमी हो सकते हैं। तब हुण्डावसर्पिणी लघी विचित्र पंचम में हीन संहनन, अति शीत, अति ऊष्ण, अति प्रदूषित वातावरण, बुखार के अन्त मध्य आदि के कारण जिन साधुओं को खांसी, जुखाम, हैजा, पिलीया, डेंगू, विकनगुनिया, दिमानी बुखार, चक्कर, अकाल समाधि, बेहोशी, बित, अलरसर, जलन, एलेझी, पागलपन, दीक्षा छेद, पीडा, संवत्सर, आर्त-रैदू आदि हृत्या, कुविहार आदि हो जाते हैं तब इस सब से बचने के लिए यादि उपचार (प्राकृतिक चिकित्सा, औषधि के समान पंखा) आदि किया जाता है। "सावध लेश्यो बहुपुण्य राशी दोषायनातं" के अनुसार ज्यादा दोष कारक नहीं

करोतु न चिरं धोरं तपः वलेशासहो भवान्।

चित्त साध्यान् कषायारीन् न जयेदत्तदज्ञाता॥ ३०.३०.३०. 212

यदि आप हे: मुनि! काय - वलेश लघी तप अधिक समय तक नहीं का सकते हो तो मन के द्वारा ही जीतने योग्य ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, तृष्णा, छल-कपर, श्रेद-आत, रण-द्वेष आदि शत्रुओं को जीत! यदि इन्हें भी नहीं जीतते हो तो आप की बड़ी अज्ञानता है, वर्योकि उपर्युक्त कषाया जीतने में तो कोई काय-वलेश नहीं करना पड़ता है। परन्तु कर्म की निर्जरा अधिक होती है, आध्यात्मिक शान्ति मिलती है। दूसरों के ऊपर अच्छे प्रभाव पड़ता है, प्रभावना-एकता-सहयोगिता बढ़ती है।

हे! धर्म रक्षक - प्रभावक ! पहले स्वर्यं बडे-बडे पापों से बचो !

पंथाग्रह, मताग्रह, परम्पराग्रह, अहंकार, संघवाद, संघटनवाद, मोह, रण-द्वेष, ईर्ष्या, श्रेद-आत दूसरों को अपमानित करने की भावना, स्व-ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि की भावना के करण सत्त्वे आगम-परम्परा-पूजा पद्धति को नहीं मानना महान् दोष है। वर्योकि इससे सर्वज्ञ (आगम) की आज्ञा का उल्लंघन होने से मिथ्यात्व का दोष लगता है। परन्तु द्रव्य-द्वेष-काल-शुक्ति-परिस्थिति-विवशता के करण उत्तर्यग-अपवाह मार्ग के अनुसार चलते हुए यदि कोई दोष लगता है तो वह कम पाप है वर्योकि उसकी श्रद्धा/उद्देश्य सही है भले गति में मनदत्ता है। यथा-आगमोक्त पंचमृत अशिषेक, पुष्प-पूजा, चन्दन भगवान् की मूर्ति के चरण में लगाना, आम-नारियल-केला आदि पूजा में प्रयोग करना, योग्य-शुद्ध स्त्री-द्वारा अशिषेक आदि का निषेध, मिथ्यात्व की आस्रव-बन्ध में अकिञ्चित्कर मानना, आर्थिकाओं की पूजा का निषेध करना, समाज विधि के अनुसार वात्सल्य आत से अन्य संघर्ष साधुओं से नहीं मिलना, उन्हें लेने के लिए नहीं जाना-नमोऽस्तु-प्रतिनगोऽस्तु नहीं करना, आर्थिकाओं को आचार्य (गुरु) संघ में रहने का निषेध करना, निनशासन-देवी-देवताओं को आगमोक्त मन्दिर में विराजमान-करना-सम्मान करने का निषेध करना। पूर्व से स्थापित इनकी मूर्ति का निकलवाना, अन्य संघ के साधुओं को अपने प्रवास-ग्राम-नगर-तीर्थ, पंचकल्याणक विधान आदि में नहीं आने देना, प्राचीन मूर्ति, मन्दिर, शिला-लेख में मनमानी तोड़-फोड़-परिवर्तन करके अपना-मत-परम्परा को स्थापित करना, अन्य-पंथ-सम्म की कट्ट आलोचना (व्यक्ति से लेकर सभा में) करना, समाज में वाद-विवाद, लडाई-झगड़ा-विषमता-फूट पड़ने योग्य वर्चन एवं व्यावहार करना आदि महान् दोष है। भले अपना-पंथ-मत-परम्परा को माने तथा जो सहजता से मानता है उसे मानो दें परन्तु दूसरों के ऊपर लादना, दूसरे पंथादि की निंदा करना और कलहकर आदि वर्चन बोलना आगम विरुद्ध, लोक विरुद्ध, सत्य विरुद्ध, भाषा समिति विरुद्ध, भाषा हिंसा है। जिससे मुनि के मूलगुण ही नष्ट होते हैं।

पैशून्य-हास, गर्भ, कर्कशमसमंजसं प्रलापितं च।

अन्यदपि यदुत्सूत्रं, तत्सर्वं गर्हितं गदितमा॥ पु.सि. 96

जो वर्चन पैशून्य अर्थात् चुगलखोरी/अहृष्टार्य से भरा है उसे गर्हित वर्चन होता है। पुनः जो कर्कशः, कठोर, असमंजस, संदेहात्मक, असश्य, अर्योग्य वर्चन भी गर्हित वर्चन है। इसी प्रकार जो बकवास से भरा, गप्पेबाज, अधिक बोलना, अप्पाजन बोलना, भगवान् के प्रामाणिक वर्चन से बाह्य वर्चन बोलना ये सब वर्चन गर्हित वर्चन हैं।

अरतिकरं भीतिकरं घोदकरं वैरशोक-कलहकरम्।

गदपरमति तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं श्रेयम्॥ 98

जो वर्चन अरतिकर अर्थात् द्वेषकरक है तथा भीतिकर अर्थात् भयकरक है जो खेद को करने वाला वैर को करने वाला, शोक को करने वाला, कलह को करने वाला है ये सब वर्चन अप्रिय वर्चन हैं। वर्योकि इन वर्चनों से दूसरे जीवों को पहुँचता है, कष्ट पहुँचता है।

जैन गृहस्थीं से लेकर पंडित, समाज, यात्रा, विश्व में व्याप्त आतंकवाद, भ्रष्टचार, तनाव, भूखमरी, फैशन-व्यसन लघी बडे-बडे दोषों को दूर करने के बाद छोटे दोषों को भी दूर करना चाहिए न कि अपनी बडे दोष तो व्याप्त है परन्तु पंथ भिन्नता के करण ईर्ष्या-द्वेष, दोषों को बढ़ाना चाहिए। साधुओं को भी पहले ज्ञान-वैराग्य, भगवान्-सहजता-समता-सहिष्णुता, क्षमा, दौर्य से युक्त होकर बाद में प्रभावना करनी चाहिए। उपर्युक्त प्रत्येक विषय सम्बन्धी मेरी अलग 262 पुस्तकें हैं। सत्य जिज्ञासु के लिए अध्ययन योग्य है।

प्रकरण 5

मकल जैन (दि., श्वे. जैन) धर्मावलम्बिओं से अपील

(जैन धर्म के विभिन्न संकटों का निवारण तथा सुरक्षा एवं समृद्धि)

मेरे पास कुछ वर्चों से तथा विशेषतः कुछ महिनों और दिनों से देश-विदेश के जैन धर्म के विभिन्न पंथों (दि. तथा श्वे.-जैन) के विभिन्न कार्यकर्ता, साधु-साधिनी स्वर्यं आकर मेरे से साक्षात् सम्पर्क करके जैन धर्म के विभिन्न अन्तरंग एवं अन्तर्गत संकटों, समस्याओं के बारे में सुझाव और मार्गदर्शन मांग रहे हैं। इसी प्रकार विभिन्न पत्र, फोन, E-mail, पत्रिका, पांचलेट, पुस्तिका आदि मेरे पास समस्याओं का समाधान के लिए आती रहती है। वैसे तो मैं (आचार्य कनकनंदी) विभिन्न

समस्याओं का कुछ समाधान साक्षात् करता हूँ तो कुछ मेरे साहित्य, लेख, प्रतिकार, फोन, E-mail, website, प्रवचन, कक्षा, शिविर, वैज्ञानिक संगोष्ठी, स्कूल, कॉलेज आदि में प्रवचन, पाठ्य पुस्तकों में संशोधन, विभिन्न पंथों के 250-300 आवार्य, उपाध्याय, साधु-साधित्यों को पढ़ाते समय देता रहता हूँ परन्तु-हर-त्याग के समस्या सम्बन्धी उत्तर देने के लिए मेरे पास समयाभाव है क्योंकि मैं जैन धर्म की वैज्ञानिक शोधपूर्ण पढ़ति से देश-विदेश में प्रवार-प्रसार करने के लिए शोधपूर्ण ग्रन्थ, लेख लेखन में, स्व-संघ, अन्य संघ के आवार्य से लेकर ब्रह्मात्मा देश-विदेश के दि. श्रवे. जैन, अजैन, वैज्ञानिक, प्रोफेसर, विद्वानों को पढ़ाने में देश-विदेश में धर्म प्रवार-प्रसार में, शिविर, संगोष्ठी, स्कूल, कॉलेज, जेल, निवासी कैंप में प्रवचन, मेरे व्यक्तिगत देश-विदेश के विभिन्न साहित्यों पत्र, पत्रिका, website, विभिन्न वैज्ञानिक, धार्मिक, शिक्षाप्रद चैनल, Discovery, National geographic, संस्कार, आस्था के अध्ययन करना और उसके गुण-दोष की समीक्षा करनी जैन धर्म के परिषेक में साहित्य आदि लेखन में, जैन एकता एवं विश्व शान्ति के लिए अत्यन्त व्यस्त होने से समयाभाव होने से इस अपील के माध्यम से सबका उपरांत दे रहा हूँ। पहले भी मेरे कुछ लेख कुछ समस्याओं के समाधान के लिए 50-60 लिखे जैन तथा समाचार पत्रों में प्रकाशित हो गये हैं। विस्तार से परिज्ञान के लिए मैं द्वारा लिखित 260 ग्रन्थों का स्वाध्याय करें। इस लेख में मैंने जो विद्यार्थी जीवन से लेकर उपाध्याय, आचार्य जीवन तक देश-विदेश के विभिन्न साहित्यों के अध्ययन, विभिन्न दोषों का परिज्ञान, 16 प्रदेशों के लाखों व्यक्तियों का अनुभव, धार्मिक-वैज्ञानिक-राजनीति, कानून, इतिहास, पुराण आदि के साहित्य, संस्कृत, व्यक्तियों से अनुभव लिया उसके आधार पर संक्षिप्त से लिख रहा हूँ। इससे प्रत्येक संस्थान से लेकर व्यक्ति साधु-संत अपना-अपना उत्तर/समाधान प्राप्त करे ऐसा मेरा उद्देश्य है।

1) जैन धर्म के विभिन्न संकट (समस्याएं)

(1) जैन तीर्थ भिरनार, समेदिशिकर आदि की समस्या)(2) जैनधर्म (जैन धर्म हिन्दू धर्म की शाखा-गुजरात-सरकार-कर्नाटक हाईकोर्ट का फैसला)(3) जैन आचार (संस्थारा, समाधि मरण आत्म हत्या समान) (4) जैन सिद्धान्त एवं महापुरुष (23 तीर्थकर काल्पनिक, भ. महावीर मांस भक्ति, उनके बारे में अभद्र तर्णन आदि) (5) जैन समाज (अल्प संख्यक की मान्यता नहीं) (6) जैन एकता (जैन धर्म के विभिन्न पंथ-मत-परम्परा-गुरु के कारण विषमता, फूट, लडाई-झगड़ा) (7) प्रभावना (प्रभावना के नाम पर प्रसिद्धि, अर्थसिद्धि, वर्वस्व, पंथवाद, एकान्तवाद धनादि का दुरुपयोग, दूसरों को नीचा दिखाना) (8) प्रभावशालियों का दुष्प्रभाव (प्रभावशालियों की विभिन्नता, पंडित, साधु-उपाध्याय, आचार्य आदि की प्रवृत्ति) आदि (9) जैन धर्मावलम्बी (आव अहिंसा, उदारता, सहिष्णुता, अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण, स्यादाद युक्त कथन, संतोषवृत्ति, सरल-सहजता में कभी तथा धन-मान-सम्मान-पंथवाद की प्रबलता) (10) जैनागम-जैन संस्कार विभिन्न के निष्पक्ष अनेकान्तात्मक, उदारवादी, वैज्ञानिक युग्मानुकूल प्रगतिशील तथा कभी, रनन्द्र, पंचवत, दस धर्म, निर्वासन रूपी संस्कार की कमी) आदि समस्याएं हैं।

2) संकटों का निवारण एवं समस्याओं का समाधान

(1) उपर्युक्त कमियों, दुर्गुण, दुष्प्रवृत्ति को दूर करना। (2) एक विशाल वृक्ष विभिन्न शाखा-प्रशाखायां जिस प्रकार रक्षण से जुड़ी रहती है और जड़ों से तत्त्व प्राप्त करती है उसी प्रकार प्रत्येक जैन धर्म के पंथ-मत-सम्प्रदाय, संघ, आनंद, जाति-गुटों को जैन धर्म रूपी स्वरूप से जुड़कर रहना चाहिए और पवित्र ग्रन्थ, मठान् लक्ष्य, सतत श्रेष्ठ पुरुषार्थ से पोषक तत्त्व प्राप्त करते रहना चाहिए। जैन धर्म रूपी विशाल वृक्ष की सुरक्षा, समृद्धि होनी। पारसी धर्म विदेशी होते ही और प्रायः 2 लाख से कम संख्या वाले सम्पन्न वर्ग होते हुए भी भारत में आनंद, समृद्धि से वास कर रहे हैं; उनसे जैनियों को शिक्षा लेनी चाहिए। (3) जैनागम के निष्पक्ष, अनेकान्तात्मक सूक्ष्म-व्यापक ज्ञान के साथ-साथ दूसरे धर्मों का अध्ययन, दूसरे धर्मावलम्बियों से विचार-तिमर्श, समन्वय, आधुनिक विज्ञान के साहित्य, वैज्ञानिक उपकरण (कम्प्यूटर, Website, E-mail, T.V. CD.) का आवलम्बन एवं प्रयोग करना चाहिए। इसके द्वारा जैन धर्म का प्रवार-प्रसार, प्रायोगिक करण, देश-विदेश के धार्मिक, सामाजिक, ज्ञानप्रणाली, संविधान, कॉलेज- विश्वविद्यालय, वैज्ञानिक क्षेत्र आदि में होने से जैन धर्म की विभिन्नता, ग्राहता, श्रेष्ठता, सर्वजीव हितकारी, सर्वजीव सुखकारी, उदारता, मौलिकता, प्रामाणिकता, प्राचीनता को मान्यता मिलेनी जैसा कि विभिन्न उपकरण, औषधि आदि को मिलती है। जिससे उपर्युक्त समस्याएं उत्पन्न होनी और जो है उसका सहज समाधान होगा। जो इससे भी समाधान नहीं होता तो उसको सामूहिक रूप से प्रवचन, सत्याग्रह, रैली, ज्ञापन, लोकहित याचिका, नागरिक-न्यायालय आदि के माध्यम से दूर करना चाहिए। कुछ समस्याओं का आवश्यकता, प्राथमिकता, गंभीरता के अनुसार भी तत्काल करना चाहिए। औषधि, पानी आदि की सुरक्षा के लिए पात्र के समान धार्मिक बाह्य क्रिया-काण्ड, मत को महत्व देना चाहिए परन्तु आवश्यक्ति, शान्ति, समता समन्वय, एकता

रुपी औषधि स्थानीय धर्म को नष्ट करके नहीं। जैन तीर्थकरों, आचार्यों ने युगानुकूल धर्म प्रवर्तन किया। धत्वादि ग्रन्थों में कहा है कि आचार्य, उपासना स्व-धर्म और पर-धर्म तथा तात्कालिन ज्ञान से युक्त हो।

'एमो आइरियाण' पञ्चविद्यामाचारं चरति चारयातीत्याचार्यः चतुर्दशिविद्यास्थानपाठः एकादशांगधरः अतारंगधरो वा तात्कालिकरवसमयपरसमय-पाठग्रन्थमेलित निश्चलः द्वितिरित सहिष्णुः सागर इव बहिः द्विष्टमलः सप्तमय विप्रगुणाचार्यः।

'एमो आइरियाण' आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार हो। जो दर्शन, ज्ञान, चारितप और वीर्य इन पांच आचारों का स्वर्ण आवरण करता है दूसरे साधुओं से आवरण करता है उसे आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्यास्थानों में पारंगत है, भ्यारह अन्य वाले धारी हैं, अथवा आचारंग मात्र के धारी हैं, अथवा तत्कालीन स्वसमय (जैन सिद्धान्त) और परसमय (अन्य धर्म के सिद्धान्त) में पारंगत है, मेर के समान निश्चल है, पुरुषों के समान सहनशील है, जिसने समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को बाहर फेंक दिया है, और जो सात प्रकार के भ्रा से रहित है, उसे आचार्य कहते हैं। (पृष्ठ 49-50)

'एमोउत्कर्जायाण' चतुर्दशिविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्यायः तात्कालिकप्रवर्तनव्याख्यातारो वा आचार्यस्योत्काशेषलक्षणसमन्विताः संब्रह्मनुब्रह्मदिगुणहीनः।

'एमोउत्कर्जायाण' उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कारहो। चौदह विद्यास्थान के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागत (जैन धारा के सिद्धान्त) को व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं। वे संब्रह्म, अनुब्रह्म आदि गुणों को छोड़कर पहले कहे आचार्य के समस्त गुणों से युक्त होते हैं।

द्रव्य-धेत्र-काल-भ्रात, शक्ति, अवस्था, रोग, आयु, परिस्थिति के अनुगम उत्सर्ग-अपवाद के समन्वय के तप, त्याग, साधना आदि कोई साधु आदि करते हों तो उनकी सेवा, व्यवस्था करनी चाहिए न कि निंदा, विरोध। जैन साधु और विषेश दि, जैन साधु पूर्ण नज्बर रहते हैं, एक बार भोजन अन्तराय टालकर करते ही श्रीत-उष्ण- मच्छर आदि के काटने से विभिन्न रोग हो जाते हैं। इसलिए रोग न के ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए और रोग होने पर चिकित्सा करनी चाहिए। साधु स्वरूप, ज्ञानी, योग्य होने पर जैनधर्म, जैन समाज, श्री तज्जोग्य बनता है।

3) जैन धर्म के सभी संप्रदायों में परस्पर सौहार्द और मैत्री का विकास-

(1) आयतनों का अनादर नहीं करे। एक संप्रदाय के मन्दिर, तीर्थों, गुरुओं, शास्त्र, पूजा पद्धति और परम्पराओं का अनादर नहीं करे। (2) आचार्य, मुनि और श्रावकों

परस्पर संयक्त और सामंजस्य स्थापित हो, सामूहिक कार्यक्रम और विद्यालय निर्माण आयोजित की जायें, जैसे महावीर जयंति, ऋषभ जयंती, गुरुपूजा, सम्मेलन, शिविर, प्रवर्चन आदि। (3) एक संप्रदाय के आचार्य और श्रावकगण अपने अपने के विलङ्घ किसी भी प्रकार का वक्तव्य नहीं हों। (4) सभी तीर्थस्थलों पर विद्यालय, वैज्ञानिक, सामाजिक विवाद सौहार्दपूर्ण और शांतिमय वातावरण में परस्पर विवाद और सहमति से सुलझा लिए जायें। इस प्रयोजन हेतु एक जैन लोक सभा की स्थापना की जा सकती है। (5) जैन धर्मशाला, पाठशाला, छात्रावास, संस्थाओं का विकास एवं उन में सभी सम्प्रदायों की भागीदारी का प्रयास। हम इसी और हमारे दोनों संस्थान के देश-विदेश के दि, श्वे. जैन एवं अजैन कार्यकर्ता वैज्ञानिक, प्रोफेसर, न्यायिता, उद्योगपति हैं उपर्युक्त कार्य कर रहे हैं जिससे हमें सफलता मिल रही है।

प्रकरण 6

हितोपदेशी के मध्यर/स्नेहील गुण

गिद्धं मध्यरुं हिद्यंगमं च पल्हादिज्जमेगंते।

तो पल्हावेदत्वो ख्वओ सो पण्णवतेण॥ 477 श. आग.

जो अपना अपराध नहीं कहता उस क्षपक को समझाने वाले आचार्य को नेह से भेर, कानों को सुखकर और हृदय में प्रवेश करने वाले सुखदारक से विक्षा देगा चाहिए। प्राप्त सन्मार्ज रत्नत्रय के निरतिवार पालन में आयुष्मन् लज्जा, भ्रा और मान छोड़कर दोषों को निवेदन करो। गुरुजन विता के समान होते हैं उनसे कहने में लज्जा कैसी? वे अपने दोष की तरह वितियों के भी दोष किसी से नहीं कहते। जो यति धर्म पर मिथ्या दोषारोपण गत करने में तत्पर रहते हैं वे क्या अपराश फैला सकते हैं? मोक्ष मार्ग में सम्यन्दर्शन है और यतिजन में द्रुष्ण लगाना सम्यन्दर्शन का अतिवार है। लघुरुपी कमलों का वन यदि अतिवार लघु छिमपात से नष्ट हो तो वह शोभित होता। पर निन्दा से नीचगोत्र कर्म का आश्रय होता है। जो दूसरों की निन्दा करता है वह स्वयं अनेक जन्मों में निन्दा का पात्र बनता है। दूसरे के मन को असह्य देने वाले के असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है। साधुजन श्री निन्दा करते हैं अपने धर्मपुत्र को यह इस प्रकार अपराश झप कीचड़ से वर्णों लिप्त करता है। इस तरह दूसरों के दोषों को प्रकट करना अनेक अनेकों का मूल है। कौन निन्दा उसे करना पसंद करेगा?

हितोपदेशी के दूसरों को दोष न कहने का गुण
लोहेण पीठमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा।
ण परिस्सवंति अण्णतो सो अप्परिस्सवो होदि॥ 488

जैसे तपाये हुए लोहे के द्वारा पिया गया जल बाहर नहीं आता वैसे ही आचार्य से कहे गये दोष अन्य मुनियों पर प्रकट नहीं होते, वह आचार्य अपराध गुण से युक्त होता है।

दोष कथक जिनधर्मी नहीं

आयरियां वीत्थदाए भिक्खु कहेदि सगदोसे।
कोई पुण णिद्रम्मो अणोसि कहेदि ते दोसे॥ 490

भिक्षु विश्वास पूर्वक अपने दोषों को आचार्यों से कहता है। कोई आचार्य जिन भगवान् के द्वारा कहे गये धर्म से भ्रष्ट होता है वह भिक्षु के द्वारा आलोचित दोषों को दूसरों से कह देता है कि इसने अपराध किया है अर्थात् ऐसे करने वाले आचार्य जिनधर्म से बाह्य होता है।

दोष कथन से मिथ्यात्व की आराधना

तेणं रहस्यं भिदंतएण साधु तदो य परिचत्तो।
अप्या गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा वैव॥ 491

उस आलोचित दोष को प्रकट करने वाले आचार्य ने ऐसा करके उस साधु ही त्याग कर दिया। क्योंकि उसने अपने वित्त में यह विश्वार नहीं किया कि मेरे हाथ इसके दोष प्रकट कर देने पर यह लज्जित होकर दुखी होगा। अथवा आमघात कर लेगा, अथवा क्रुद्ध होकर रत्नत्रया को ही छोड़ देगा। तथा उस आचार्य ने अपनी आत्मा का त्याग किया, गुण का त्याग किया, संघ का त्याग किया। इतना ही नहीं उसकी मिथ्यात्व की आराधना दोष भी होता है।

दोष कथक साधु को संघ से बहिष्कार करने योग्य लज्जाए गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोवि।

विपरिणामिज्ज उद्धावेज्ज व गच्छेज्ज वाध मिच्छतं॥ 492

निर्यापकाचार्य के द्वारा दूसरे से साधु के गुप्त दोष कहने पर कोई लज्जा वश या मान की गुलतावश विपरीत परिणाम कर सकता है। यह मेरा गुण नहीं है। यदि मैं इसे प्रिय होता तो यह मेरा दोष क्यों कहता। यह गुरु मेरे बारे में चलते-फिरते हितैषी ऐसा जो मैं सोचता था वह आज नष्ट हो गया, इस प्रकार वह चिंता विपरीत परिणाम है। अथवा दोष प्रकट कर देने से कुपित होकर रत्नत्रया को छोड़ सकता है।

दोष कथक आत्मा के त्यागी

कोई रहस्यभेदे कदे पदोसं गदो तमारिं।

उद्दावेज्ज व गच्छ भिंदेज्ज व होज्ज पडिणीओ॥ 493

सहस्र भेद करने पर कोई क्षपक द्वेषी बनकर उस आचार्य को मार सकता है। उसने भेद डाल सकता है कि इस स्नेह रहित आचार्य से वया लेना देना उसने मेरा अपराध प्रकट कर दिया उसी प्रकार तुम्हें भी अपराध निवेदन करना चाहिए। दोष लगाएगा ऐसा कहकर अन्य साधुओं को विरोधी बनाकर गण में भेद बनाता है। अथवा विरोधी हो सकता है।

दोष कथक गण/संघ के त्यागी

जह धरिसिदो उमो तह अम्हं पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति।

सत्वो वि गणो विप्परिणमेज्ज छंडेज्ज वायरियं॥ 494

जैसे उस आचार्य ने अमुक साधु का दोष प्रकट किया उसी प्रकार यह हमारा दोष प्रकट कर देगा, ऐसा सोचकर समस्त गण-गण से अलग हो सकता है अथवा दोष का त्याग कर सकता है।

श्रुका:- इस गाथा में तो कहा है कि गण आचार्य को छोड़ देता है और पूर्व कहा है कि आचार्य ने गण का त्याग किया। इन दोनों कथनों की संगति क्या है?

समाधान:- अतः दोषों को प्रकट करने वाले आचार्य ने गण का त्याग किया गण भी उसे छोड़ देता है।

तह वैव पवयणं सत्वमेव विप्परिणयं भवे तस्स।

तो से दिसावहारं करेज्ज णिज्जुहणं चावि॥ 495

जिसमें रत्नत्रया "प्रोच्येते" कहा जाता है वह प्रत्वतन है इस व्युपत्ति के प्रत्वतन शब्द का अर्थ यहाँ संघ है। सभीसंघ आचार्य के विलङ्घ हो सकता है और आचार्य पद को छीन सकता है अथवा उसका त्याग कर सकता है।

सग्णे व परग्णे वा परपरिपवादं च मा करेज्जाह।
अत्वासादणविरदा होह सदा वज्जभीरु य॥ 371

अपने गण में अथवा दूसरे गण में दूसरे की निंदा नहीं करनी चाहिए। तथा आसादना से विरत रहो और सदा पाप से डरो।

आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्ताणाणि य करेऽ।

परणिंदा वि हु पावा दोहनगकरी सुयणवेसा॥ 372

पर निंदा आयास, वैर, भय, दुःख, शोक और लघुता को करती है, पाप रूप आन्य को लाती है और सज्जनों को अप्रिय है।

किच्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिछेज्ज।

सो इच्छिति आरोग्नं परम्मि कदुओसहे पीए॥ 373

जो पर निन्दा करके अपने को गुणी कहलाने की इच्छा करता है वह दूसरों के द्वारा कड़वी औषधी पीने पर अपनी निरोगता चाहता है। अर्थात् जैसे दूसरों की औषधी पीने पर आप निरोग नहीं हो सकता है। वैसे ही दूसरे की निन्दा करके वह खायं गुणी नहीं बन सकता।

दरठुण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ संयं होइ।

रकखई य सयं दोसंवं जयं जणजपणश्चएण॥ 374

सत्पुरुष दूसरों के दोष देखकर खरयं लज्जित होता है। लोकापवाद के लिए वह अपनी तरह दूसरों के भी दोषों को छिपाता है।

अप्पो वि वरस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होइ।

उदए व तेललबिंदु किंह सो जंपिहिंदि परदोसं॥ 375

दूसरे का छोटा सा भी गुण सत्पुरुष को पाकर अति महावृ हो जाता है। तेल की बुंद पानी में फैलकर महावृ हो जाती है तब वह सत्पुरुष दूसरे के दोष की वैसे कह सकता है?

एसो सब्बसमासो तह जतह जह हवेज्ज सुजणमिमा।

तुज्जां गुणेहिं जणिदा सत्वत्थ कि विस्सुदा किती॥ 376

यह समस्त उपदेश का सार है। ऐसा यत्न करो जिससे सज्जनों में गुणों से उत्पन्न हुई कीर्ति सर्वत्र फैले।

एस अखंडियसीलो बहुस्सुदो यह अपरोवतावी य।

चरण गुण सुरिठदोत्तिय घण्णस्स खु धोसणा भमदि॥ 377

यह साधु अखण्डित समाधि के धारी है, बहुश्रुत है, दूसरों को कष्ट नहीं लेने और चारित्र गुण में अच्छी तरह स्थित है। पुण्यशाली का यह यश सर्वत्र फैलता लाढति भणिदूणं ऐंदं णो मंगलेति य गणो सो।

गुरुगुणपरिणद भावो आणंदंसं णिवागेह॥ 378

इस प्रकार गुरु का उपदेश सुनकर संघ "हमें स्वीकार हैं" ऐसा कहता है। आपके ये वचन हमारे लिए अत्यन्त मंगल करके हैं, ऐसा कहता है। तथा गुरु गुणों में मन लगाकर आनन्द के आसूं गिराता है।

भगवं अणुग्नहो में जं तु सदेहोत्व पालिदा अम्हे।

सारणवारणपडिचोदणाओ धण्णा हू पावेति॥ 379

भगवान्! आपका हम पर बड़ा अनुग्रह है। आपने अपने शरीर की तरह हमारा पालन किया है। तथा "यह करो" और "वह मत करो" इत्यादि शिक्षा दी है।

ज्ञानाती ही ऐसी शिक्षा प्राप्त करते हैं।

अम्हे वि खमावेमो जं अण्णाणा पमादरागेहिं।

पडिलोमिदा य आणा हिदोवंदेस करिताण॥ 380

आपकी आज्ञा और हित का उपदेश करने पर हमने जो अज्ञान, प्रमाद और उसके प्रतिकूल आवरण किया, उसके लिए हम भी आपसे क्षमा माँगते हैं। सहिदय सकण्ण याओ कदा सचक्षु य लङ्घसिद्धिप्रवाण॥

तुज्जा वियोगेण पुणो णद्यदिसाओ भविस्सामो॥ 381

आपने हमें हृदय युक्त अर्थात् विवार शील बनाया। हमें संपूर्ण बनाया अर्थात् अपदेश सुनकर कानों का फल प्राप्त किया आपने हमें आँखे प्रदान की अर्थात् गाल स्वाध्याय में लगाया। तथा आपके प्रसाद से हमने मोक्ष का मार्ग प्राप्त किया। अब आपके वियोग से हम दिशाहीन हो जाएंगे। हमें कोई मार्ग दिखाने वाला नहीं रहेगा॥

दोष कथन से मिश्यात्व की आराधना क्यों?

जटि धरिसनमेरिसंवं करेदि सिस्सस्स चेव आयरियो।

थिद्धि अपुदरथमो समणोति भणेज्ज मिच्छजणो॥ 496

यदि आवार्य अपने शिष्यों को ही इस प्रकार दोष प्रकट करके दूषित करते हों तो इन अपुष्ट धर्म वाले श्रमणों को धिकार है ऐसा मिश्यादृष्टि लोग कहेंगे। इच्छेवमादिदोसा ण होंति गुरुणो रहस्सधारिस्स।

पुदरेव अपुदरे या अपरिस्साइस्स धीरस्स॥ 497

जो आवार्य पूछते पर अथवा बिना पूछे शिष्य के द्वारा प्रकट किये दोषों को दूसरों से नहीं कहता वह रहस्य को दूसरों से नहीं कहता। वह रहस्य गुप्त रखने वाला अपरिश्रावी होता है। और उसे ऊपर कहे दोष जरा भी नहीं होते।

प्रकरण 7

भाव विशुद्धि उत्कृष्ट तप से भी श्रेष्ठ

अज्ञवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगदंतंपि।

कुवंति बहिल्लेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी॥ 259 अ. आरा.

परिणमो की विशुद्धि को छोड़कर जो उत्कृष्ट भी तप करते हैं उनकी वित्वृत्ति पूजा सत्कार आदि में ही लगी होती है। उनके अशुभ कर्म के आस्रत से उत्त शुद्धि नहीं होती। अर्थात् दोषों से मिली हुई शुद्धि होती है।

अविगदं यि तवं जो करेऽ सुविसुद्धसुकलेस्साओ।

अज्ञवसाणविसुद्धो सो पावदि केवलं सुद्धि॥ 260

जो अतिविशुद्ध शुचललेश्या से युक्त और विशुद्ध परिणाम वाला अनुष्ठान तप करता है वह केवल शुद्धि को पाता है। यह गाथा का अर्थ है।

अजञ्जवसाणविसुद्धी कसायकतुसीकदस्स णतिथतिः।

अजञ्जवसाणविसुद्धी कसायसल्लेहणा भणिदा॥ 261

जिसका वित कषाय से दूषित है उसके परिणाम विशुद्ध नहीं होता। परिणाम विशुद्ध को कषाय सल्लेखना कहा है।

विशेषार्थः- जिस मुनि का वित क्रोधाभिन के द्वारा कतुषित है उसके परिणाम विशुद्ध नहीं है। अतः उसके कषाय सल्लेखना नहीं है। कषाय के करने को कषाय सल्लेखना कहते हैं। और कषाय के कृश्ण हुए बिना परिणाम नहीं होते। अतः परिणाम विशुद्धि के साथ कषाय सल्लेखना का साध्य साक्षमता सम्बन्ध है।

क्रोधं खमाए माणं च मद्वेणाजजवेण माणं च।

संतोसेण य लोहं जिणह ख्यु चत्तारि वि कषाया॥ 262

जो शुभ परिणामो के प्रवाह में बहता है वही चार कषायों की सल्लेखना है। यह कहकर, सामान्य से चारों कषायों को कृश्ण करने का उपाय उनके प्रतिक्रिया चार प्रकारके परिणाम हैं, यह कहते हैं-

क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जत से और लोभ सन्तोष से, इस प्रकार चारों कषायों को जीतो।

कोहस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण ऐटि वसं।

जो ताण कसायां उत्पत्ति वैव वज्जेऽ॥ 263

उन कषायों कर उत्पत्ति को ही रोक देता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ वश में नहीं होता।

तं वथ्युं मोजत्वं जं पडि उप्यज्जदे कसायग्निः।

तं वथ्युमलिलेज्जो जत्थोवसमो कसायाणं॥ 264

उस वस्तु को छोड़ देना चाहिए जिसको लेकर कषाय लघी आग उत्पन्न है। और उस वस्तु को अपनाना चाहिए जिसके अपनाने से कषायों का उपशमन जड़ कहवि कसायग्नी समुटिर्दो होज्ज विजञ्जवेदत्वो।

रागहोसुप्तनी विजञ्जादि हु परिहंरतस्स॥ 265

यदि थोड़ी भी कषाय लघी आग उठती हो तो उसे बुझा दें। जो कषाय करता है उसके राग-द्वेष की उत्पत्ति शान्त हो जाती है। नीच जनकी संगति की कषाय हृदय को जलाती है। अशुभ अंगोपांग नामकर्म के उदय से जो मुख पिछोता है जैसे धूल पड़ने से और लाल हो जाती है वैसे ही क्रोध से मनुष्य का

होता है। जैसे शराबी शराब पीकर जो चाहे बकता है वैसे ही क्रोध में मनुष्य जो तोहा देता। जैसे जिस पर भूत का प्रकोप होता है वैसे ही क्रोधी मनुष्य जो चाहे रहता है। कषाय समीकृत ज्ञानरूपी दृष्टि को मतिन कर देती है। सम्यन्दर्शन लघी जाग देती है। चारित्ररूपी सरोवर को सुखा देती है। तपरूपी पत्रों को जला जानी अपेक्षकर्म लघी बेल की जड़ जमा देती है। शुभकर्म फल को रसहीन कर जानी अग्ने मन को मतिन करती है। हृदय को कठोर बनाती है। प्राणियों का घात जानी है। वाणी को असत्य की ओर ले जाती है। महाकृष्णों का श्री निरादर करती रहनी जानी है। नष्ट करती है। दुसरों को दोष लगाती है। महापुरुषों के श्री नामों की लौकती है, भिन्नता की जड़ खोदती है। किये हुए श्री उपकार को शुलाती है। अपने गरक के गढ़े में निराती है। दुःखों के भूंवर में फँसाती है। इस प्रकार कषाय करती है। ऐसी भावना से कषाय को शान्त करना चाहिए।

प्रकरण 8

मुनि सुधासागर जी संसंघ से मेरी अपील

मुनि सुधासागर जी पहले स्व-दोष सुधारे.....

एवं आ. शान्तिसागरजी के नाम पर उनका श्री विरोध क्यों?) हमें धर्म की सुरक्षा एवं प्रभावना के लिए उपगूहन, रितिकरण, वात्सल्य, समता, भाषा समिति को अपनाना अनिवार्य है। इससे संगठन बढ़ेगा और हम सम्बन्धी समस्याओं (तीर्थ रक्षा, समाधिमरण-आत्महत्या, जैन धर्म छिन्दू की शार्वा, 23 तीर्थकर काल्पनिक, श्री महातीर मांस भक्ती, अल्पसंरक्षा की नहीं, जैगर्धम में विशिन्न फुट-लडाई-डंगडा-जैन आगम सम्बन्धी पथ-भिन्नता, जैन संरक्षक की कमी, प्रभावना के नाम एकान्तवाद, पंथवाद, आवाना धनादि का दुर्लपारोग आदि) को दूर करके जैन धर्म की सुरक्षा करते जैन धर्म की समृद्धि कर सकते हैं।

मोक्षमार्ग स्वरूप रत्नत्रय में सम्यन्दर्शन लघी प्रारम्भ ईकाई में प्रभावना लघी अंग के पहले (1) निःशक्ति (2) निःकंठित (3) निर्विविकित्सा (4) दृष्टि लघी मुख्यतः अन्तरंग (व्यक्तिगत) अंग के साथ-साथ (5) उपगूहन (6) रितिकरण (7) वात्सल्य लघी मुख्यतः सामाजिक अंग की अनिवार्यता है। छिन्दीय लघी सम्यन्दर्शन है जो हित की प्राप्ति अहित के परिहर स्वरूप है। आन्दोलन से सम्यन्दर्शन एवं सम्यक्त्वारित्रि प्रकाशित होता है, निर्मल होता है, इसे ज्ञान, वीतराग विज्ञान कहते हैं। सम्यन्दर्शन लघी ईकाई जो कि राग, द्वेष,

मोह, ईर्ष्या, पक्षपातादि से रहित, शत्रु-मित्र प्रति भी समता स्वरूप है।

मुनि सुधासागर जी आपकी दस धर्म सुधा प्रवचन की पुस्तक लिखा है-

(निम्न में आपका सही कथन भी जो आपकी कथनी-करनी के गलत सिद्ध करता है)-

"दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे।" तुम भले ही सज्जन हो, पर दूसरे की दुर्जनता पर क्षुश्रित मत होना। आचार्य कहते हैं- निंदा कुमार्गी है उन पर भी क्षोभित होने की आवश्यकता नहीं। उनके प्रति माध्यस्य की आवश्यकता है। उन कुमार्गियों के ऊपर सम्यादृष्टि की निंदा की बात तो निंदा मिथ्यादृष्टि की भी निंदा करने की बात मत कहो। मिथ्यादृष्टि को भी देखने क्षुब्ध होने की बात मत कहो। (पृ. 18 लाइन 13 से 15 एवं 18 से 21) "कठिन वचन मत बोला।" हँसी-हँसी में भी अपने मित्र को कठिन वचन मत बोलो। वह अन्याय हो सकता है। द्रोपदी के दो शब्दों ने इतना अन्याय कर दिया कि दुर्योधन कहता है- "बता दुंगा तुम्हें कि अन्धों के पुत्र अन्धे कैसे होते हैं?" एक वाचा, श्रीलक्ष्मी के एक कठिन वचन से भी सआ में चीर हरण की नौबत दी। दुर्योधन कहता है कि द्रोपदी हम लोग अन्धेहैं। अन्धों के सामने नग्न होने में शर्म की वया वह है? एक वाचा से एक स्त्री की सतीत के लुटने की नौबत आ गयी थी। एक वाचा ने महाभारत जैसा युद्ध खड़ा कर दिया था। कितना संग्राम हुआ, कितना खून-खूना हुआ? सारा झगड़ा महाभारत में मात्र बातों बातों का है। महाभारत को खोजो तो कोई सार नहीं। (पृ. 120 लाइन 5 से 11 एवं 13 से 17 तक)

सम्पूर्ण सावधानी रखने वाला साधु, जो महाकृ पूजनीय है, वह भी तीन बोलता है कि कभी अबुद्धि पूर्वक मन, वचन, कार्य की प्रवृत्ति हो नई हो तो तो दोष नष्ट हो। यह है जैन दर्शन का संयम। जिसने अपने आपके कान पकड़ना पूरा कर दिया, अपने आप से अपने आपको देख लिया उसको बोलते हैं संरामी। दूसरी को अपनी औँखों से देखना अनजलों बार हुआ, दुनियाँ देखती है, लैकिन थोड़ी तो के लिए अपनी औँख से अपने को देखो सब लोग। अपनी औँखों से दूसरों को मादेखो 'आई फूँ' हो जायेगा। (पृ. 133-134 लाइन 133 की अंतिम लाइन से 134 की 7 ती लाइन तक)

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्ताजानाश्राम्।

वाच्यात् यत्प्रमार्जनित तद्वदन्त्युपगृहनम्॥

अर्थात् स्वयं शुद्ध मार्ग को ग्रहण करता है तथा अज्ञानियों द्वारा मार्ग में दूष लगता है तो उसे गुप्त रूप से दूर कर देता है। देखा कितनी बड़ी बात कही? लग

कर दूसरे के दोष सुधारे।

दशनाच्वरणाद्वापि चलातं धर्मवत्सलैः।

पत्यवस्थानं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्चते॥

वह है जैन दर्शन का सम्यादर्शन। दर्शन एवं चारित्रादि से कोई भ्रष्ट हो जावे ही मत उडाओ, उसे अपमानित मत करो। उसे वास्तव्य भाव से सद्मार्ग परिवर्तन करो। (पृ. 169 लाइन 11 से 15 एवं 20 से 24 तक)

(आगे के वक्तव्य सुधासागरती की प्रवचन संग्रह 'अध्यात्म सुधा' में इस ग्रन्थ से दिया गया है)

अपने जीवन का प्राण निकल जाये, सामने वाला उनके शरीर का विनाश कर ले, चमड़ी उद्घेड दे तो भी धर्मात्मा उसके ऊपर वक्र दृष्टि नहीं करेगा, उसके विषय का परिणाम नहीं करेगा। (पृ. 110 लाइन 14 से 17 तक दशाधर्म- 4, 6-8)

अपने आचार्य शान्तिसागर जी गुरुदेव (दक्षिण) को महान्, श्रेष्ठ, मूल संघी और स्वयं को उसकी परम्परा का माना। यथा - शान्तिसागर जी महाराज की परम्परा को मैं सिद्ध करना चाहूँ मैं शान्तिसागर जी महाराज का परम्परा हूँ, परम शक्ति हूँ और उनका-पोता-पड़पोता हूँ, उनकी परम्परा को मूरे भी कहने का अधिकार है, मैं भी उसी वंश का हूँ और उसी वंशी लक्षा करना मेरा कर्तव्य है। जैसे एक बाप के दो बेटे हों, एक बेटा भी अपने भाई की रक्षा करना चाहे तो कर सकता है, मैं भी उसी वंश का हूँ। मेरी परम्परा शान्तिसागर जी महाराज की है, तो मैं कहता हूँ कि शान्तिसागर जी महाराज के का गौरत करना है। (पृ. 134)

इस उपर्युक्त कथनी से विपरीत आपकी निम्नोक्त कथनी-करनी-आवार्यी (आ. कनकनन्दी) आवाना-हम-आपके साहित्य, कार्य, प्रवचन, कैसेट के विषय निम्न में कुछ प्रस्तुत कर रहे हैं जो उपर्युक्त विषयों से विपरीत है। आप लोग को समता, निष्पक्षता, सत्याग्रहिता, आगम, आ. शान्तिसागर जी की परम्परा के विषय में आपके वचन (प्रवचन) पुस्तक, कार्य की समीक्षा कर के स्व-पर-विवारण संघ, मनिदर-मूर्ति, तीर्थ, जैन साधु, जैन-समाज, जैन एकता, राष्ट्र के हित में ऐसी मेरी आनंदिक पवित्र भावना है-

आप (मुनि सुधासागर जी) के कुछ विषय जिसके सुधार की विवार्यता है-

- 1) समाधि के बारे में अनर्गत कथन

आप ने पृष्ठ. आ. भरतसागर जी गुरुदेव की श्रद्धांजली सभा में अत्यन्त ही देकर बार-बार कहा कि आ. भरत सागर का अकाल मरण हृदयाघात के करण हुए जो महावीर अगवान् से अभी तक किसी साधु का नहीं हुआ। इतना ही नहीं आप जयपुर (1996) की सभा में कहा- जो हमारे यहाँ

आगम के अनुसार मूल सल्लेखना कहलाती है, प्रसिद्ध आचार्यों में मात्र ही आचार्यों ने ली है, अन्य साधुओं को मुझे पता नहीं। किंहीं आचार्य कल्प ने ली हो मुझे पता नहीं, मैं तो मूल आचार्यों की बात कर रहा हूँ। प्रसिद्ध आचार्यों की आशांतिसागर महाराज और आ. ज्ञानसागर महाराज ने आगम अनुसार पूरी साधारण करके सल्लेखना पूर्वक मरण किया है। किसी और प्रसिद्ध आचार्य का मुझे पैमाना उल्लेख नहीं मिला जिसने सल्लेखना पूर्वक मरण किया हो। (अ.सु.पृ.139 तात्पुरा 3 से 10)

यथार्थ से यह सब सर्वज्ञ ही जानते हैं। कोई समान्य व्यक्ति मरता है तो उसे श्रद्धार्थी कहते हैं तो इतने आचार्यों (आ. वीरसागरजी, आ. शिवसागरजी, आ. गेमिसागरजी, आ. महावीरकीर्ति जी, आ. देशभूषण जी, आ. धर्मसागरजी, आ. सुमित्रसागरजी, आ. अजितसागर जी, आ. विमल सागरजी) की समाधि आ. शांतिसागरजी के बाद में हुई उनके प्रति धर्म सभा में ऐसा कहना वया जैन मुनि के योन्य है?

आप आ. भरत सागर जी को सरल, शान्त मानते थे परन्तु उनके गलत कहा जैसा कि आपने कहा जो यहाँ लिखने योन्य नहीं से आप के भाव में विपरीत प्रभाव पड़ा तो उनकी समाधि के बाद में, जो कहा वही विषय परिव्रत्र भाव से उपगृहण स्थितिकरण आदि अंग से युक्त होकर अग्निदंता में जाकर एकान्त में बोलना चाहिए था। जब आचार्य भरत सागर जी अस्वस्थ थे और आप उनसे कुछ ही दूरी से विदा कर गये परन्तु पास जाकर न नमोऽस्तु किया, न सेवा की फिर समाधि के बाद या साधु के अर्योन्य व्यवहार वयों? आप अनेक वर्षों से तथा आचार्य पदवी प्राप्त होने के बाद आप आ. भरतसागर जी से नहीं मिले तो उनके दोष आपको बिना सर्वशत कैसे ज्ञात हुए? यह क्या हमारे परम पूज्य आचार्य परमेष्ठीयों के प्रति आदर, श्रद्धा, बहुमान, गौरव है? आगम में एवं आ. शांतिसागर जी ने श्री शिथिलावारी साधु वो एकान्त में समझाने के लिए कहा है (देखें अट्ठम संस्करण चारित्रिकवर्ती पृ. 149 से 151 तक)-यथा-

साधुओं के अलोचकों का कर्तव्य

कुछ समालोचना के शौकिन साधुओं को ही अपनी लौह लेखिनी के आक्रमण का केन्द्र बनाते समय यह नहीं विचारते कि समस्त व्यासगों में निपट अत्यन्त दूरवारी दुष्ट व्यक्ति के प्रति उनके मन में वात्सल्य पैदा होता है, उपगृहण का श्री

जन्म नहीं है स्थितिकरण की दृष्टि उत्पन्न होती है; किन्तु इस श्रीष्ण काल में अत्यन्त सेवा भी श्रीतिप्रद दिग्म्बर मुनि का जीवन बिताने वाली वीर आत्माओं के श्री तिक्ति श्री आत्मीयता का भाव उत्पन्न न होकर जन्म जन्मान्तर के शत्रु सदृश अपार कहने की कुबुद्धि उत्पन्न हो जाया करती है। साक्षरों की विपरीत प्रवृत्ति विद्या विद्यारण समाज मार्ग निश्चय नहीं कर पाती है।

शिथिलावारी साधु के प्रति वया किया जाये ?

इसे ध्यान में रखकर मैंने एक बार आचार्यश्री से पूछा- " शिथिलावरण वाले को प्रति समाज को या समझदार व्यक्ति को कैसा व्यवहार रखना चाहिए?" महाराज ने कहा- " ऐसे साधु को एकान्त में समझाना चाहिए। उसका विद्यारण करना चाहिए।"

मैंने पूछा- " समझाने पर श्री यदि उस व्यक्ति की प्रवृत्ति न बदले तब वया क्या है? पत्रों में उसके सम्बन्ध में समाचार छ्याना चाहिये या नहीं ?

महाराज ने कहा- " समझाने से काम न तो, तो उसकी उपेक्षा करो, उपगृहण का पालन करो, पत्रों में वर्ता वर्तने से धर्म की हंसी होने के साथ-साथ मार्गस्थलों के लिए श्री ज्ञानी लोगों द्वारा बाधा उपस्थित की जाती है।" महाराज ने यह भी कहा कि " मुनि अत्यन्त निरपराधी है। मुनि के विरुद्ध दोष लगाने का अव्यंकर विभारिणम होता है, श्रेणीक की नरकायु का करण निरपराध मुनि के गले में सर्प लगा जाना था। अतः सम्यक्दृष्टि श्रावक विवेक पूर्वक स्थितिकरण, उपगृहण, वात्सल्य अंग का विशेष ध्यान कर सार्वजनिक पत्रों में वर्ता नहीं चलाएगा।" आचार्य जी का उपरोक्त मार्ग दर्शन सत्पुरुषों के लिए विरस्मरणीय है। उच्चंखल तथा श्रितिगमी जीव की निन्दा की ओट में सर्वे साधु के मार्ग में श्री कंटक बिछ जाते हैं। अतः सार्वजनिक पत्रों में उत्सूत्र वर्तने वाले की श्री वर्ता छपना उवित नहीं है। मात्र स्वच्छद वृत्ति वाले पर तो वया असर पड़ेगा, सर्वी आत्माओं को कष्ट होगा। शिथिलावरण विद्यमी श्री सत्साधु की निन्दा पर उत्तर आते हैं। सम्यवत्ती जिनेन्द्र भक्त विठ्ठल का कथानक इस तत्त्व को हृदयांगम करने में सहायक है। अतः गुरुदेव जी आदेश पालन करना प्रत्येक सज्जन धर्मात्मा श्रावक का पावन कर्तव्य है। वह आदेश दुरदर्शितापूर्ण है।

साधु जीवन से रिवलाड की वस्तु नहीं है। मैंने कहा- महाराज एक धनी, किन्तु विवेक शून्य सेठ जी मेरे पीछे लग गये कि एक मुनिराज उनको ठीक नहीं बताते, उनके विरुद्ध आन्दोलन करो, तब मैंने उनसे कहा था कि एक दिगंबर मुनि जीवन समान्य वस्तु नहीं है। सर्व साधारण के समक्ष उनके विरुद्ध वर्ता का ढोल लीटना मैं ठीक नहीं सोचता। हां! एकान्त में उनके विषय में कड़ी वर्ता करना उवित

होंगा।

मैंने यह भी कहा था- शरीर पर फोड़ा होने से डाक्टर उस पर चाकू मार देने उसके विकार को दूर करने में संकोच नहीं करता है, किन्तु सर्व साधारण जीव मक्खी उस पर न लैठे और घाव के जहर को न बढ़ावे, इसी कारण उस पर वही बांधा उपबूष्ण की दृष्टि का उपयोग लेना लाभप्रद होंगा, अन्यथा हानि की संभावना है।

"इस पर महाराज ने कहा -ठीक है, सम्यकत्वी शावक ऐसा ही कर्य करेगा।

इस प्रसंग में यह भी चर्चा करना उपयोगी दिखता है कि कभी कभी ऐसी व्यक्ति होते हैं? जो न शास्त्र जानते हैं न जिन्होंने स्वाध्याय ही किया है, जिन्हें वे भी बड़े-बड़े शास्त्रज्ञों के गुरु बनकर त्याजी और व्रती व्यक्तियों के चरित्र को लेनी कहते हैं और दूसरे की नहीं सुनते। उनको पूज्य आचार्य महाराज की बात ध्यान में रखना चाहिये कि इस विषय को सार्वजनिक चर्चा का विषय न बनाकर लेना विकित्सा करनी चाहिये। कुछ शास्त्रज्ञों को भी साधु निन्दा में बड़ा माना जाता है। वे कल्पित दोषों को लगाकर शारिर धारी सत्युर्खों पर कीचड़ उछला करते हैं कोई-कोई अखबार वाले उनके सहयोगी बन जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे निर्दोष हिरण की हत्या में तत्पर शिकारी को जीवाशम में मजा मिलता है, ऐसे ही वे दूरावार प्रेमी दुरावारी की तो स्तुति करते फिरते हैं, किन्तु सच्चिदि व्यापित वीरुद्ध को बुराई को अपने दुष्ट स्वभावता तैयार रहते हैं। जोक प्रवृत्ति के ऐसे दुष्टों की कोई दवा नहीं है। मरणे के बाद वे नरक पर्याय में जाकर अपने कुर्कम का फल भोगते हैं।

जिस प्रकार बड़े महत्व और सावधानी के साथ कोई अपनी निधि की रक्षा करता है, इसी प्रकार इस रन्नक्रया निधि भूषित आत्मा के विषय में ध्यान रखना चाहिये। आज के युग में महाकृतों के पथ पर चलना यथार्थ में आग के साथ लेने करना है। दुर्दम्यवासनाओं का दमन करके उनको दास बनाने का कम लम्बी वारी करने से या आज के नेतृत्व की गहीं पर समासीन होने से या सरस्वती सदों से सम्मान प्राप्त करने से कई गुना कठिन काम है। इस अद्यात्मकला के कार्य के जारी वैज्ञानिक प्रतीणता तथा अविष्करण कला नगण्य दिखती है।

जिस जिनेन्द्र भक्त की दृष्टि में मुग्नि जीवन निधि से भी बड़ा दिखेगा, वह तो उसके साथ खिलवाड़ न कर उसके विषय में प्राणाधिक यथाशक्ति और यथागति सावधानी एवं सतर्कता रखेगा। मिथ्यात्व-ग्रस्त जीव की बात निराली है।

आशाधर जी ने लिखा है- "विवेकी गृहस्थ का कर्तव्य है, कि वह जगत् की बंधु जिन धर्म की परम्परा को चलाने के हेतु दिग्म्बर मुग्नियों के उत्पन्न करने का प्रयत्न करे तथा विद्यमान मुग्नियों के श्रुत ज्ञानादि गुणों के द्वारा उन्नत करने के लिए।

करना करे, जिस प्रकार गृहस्थ अपनी संतति की उत्पत्ति द्वारा वंश परम्परा चलाने का प्रयत्न करता है तथा संतान को गुणी बनाने का उद्योग करता है।"

जो व्यक्ति अपने प्रयत्नों की विफलता देखकर उत्साह हीन हो रहे हैं, उनके लिए रिश्रुता के लिए वे कहते कि पंचम काल के दोष से मुग्नियों के गुणों के विभासा की सिद्धि नहीं होने पर भी इस विषय में प्रयत्नशील श्रावक श्रेयोशाजन होता है। कदाचित् गुणों के द्योतन कार्य में सिद्धि हो गई तो गुणों के द्योतन करने वाले सामग्री जैसों का तथा साधारण जनता का महान् उपकार होंगा, कारण सच्चे गुणों के कारण ही धर्म की रक्षा, रिश्रुति, वृद्धि तथा सत्त्व प्रभावना होती है। इससे गुणों संख्या के निर्माणार्थ तथा उसे गुण मंडित बनाने में प्रयत्न करना चाहिये।

2) साधु संघ में आर्थिकाओं का निषेध-

(मुग्नि सुधासागर जी) आप ने प्रस्ताव रखा कि आर्थिकाओं का मुग्नि संघ में रहना सही नहीं। परन्तु आ. शांतिसागर जी के संघ में, दक्षिण से उत्तर भारत की ओर उत्तराखण्ड में भी आर्थिकारों, भूलिंकारों थीं। देखें अष्टम संरक्षण चारित्र चक्रवर्ती पृष्ठ 188 से 188) आ. शांतिसागर जी की शिक्षा विदुषी भूलिंका अंजितमती तथा उनकी शिक्षा (सरस्वती आरवाडे) आदि से मेरी 20 वर्ष पूर्व विभिन्न विषय में चर्चा हुई है। आ. वीरसागरती, आ. शिवसागर जी, आ. महावीरकीर्ति जी, आ. देशभूषण जी, आ. वर्णसागर जी से लेकर अभी भी अनेक संघ में आर्थिकारों हैं तो वहाँ वे सब आगम संस्कृति बाह्य हैं? उन्हें सम्मान नहीं करना चाहिए, आहार नहीं देना चाहिए। यह अवर्णवाद तथा अन्तराय कर्मबन्ध के कारण है, प्राचीन ग्रंथों में संघ में आर्थिकाओं का रहने का विद्यान है और संघ में रहती थी। विशेष वर्णन मेरी श्रमण सहिता से अध्ययन करें।

आ. शान्तिसागरजी संसंघ की व्यवस्था

शिखरजी विहार की विज्ञापित

संपूर्ण बातों को विचार कर ही शांतिसागर जी महाराज ने शिखरजी की ओर के साथ विहार की स्वीकृति दी थी। यह हृष्प्रद समावार कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा संवत् 2453 संव. 1927 के दिन विज्ञापित रूप इन शब्दों में प्रकाश में आया।

संघ विहार (शिखरजी की यात्रा)-(संघ में आर्थिका)

"संपूर्ण दि. जैन समाज को सुनाते हुए आनंद होता है कि हम कार्तिक के लालिक पर्व के समाप्त होते ही मुग्नि, आर्थिका, शावक, श्राविका समतेर गुरुविधसंघ को चलाने वाले हैं। यह संघ कुंओज (बाहुबली पहाड़) कोल्हापुर दक्षिण की तरफ से निकलेगा और शिखरजी की यात्रार्थ प्रयाण करेगा। श्री रनन्द्रायपूत गणशांत दशलाक्षणित धर्म विश्वासित 108 श्री आचार्य शांतिसागरजी महाराज मुग्नि संघ

सहित साथ में विहार करेगे। इस संघ में तीन चार मुनि, तीन ऐलक व एक धूता व करीब 5.6 ब्रह्मवारी तथा दो तीन आर्यिकाओं ने विहार करना निश्चय कर लिया है। इसके सिवाय और श्री कुछ मुनि, ब्रह्मवारी, ऐलकों के इस मुनि संघ के साथ में निकलने का अंदाज है। चतुर्थकाल के मुनीश्वरों का जैसा कुछ स्वरूप था तीक वैसा ही स्वरूप परमशंत आवार्य श्री 108 शांतिसागर जी महाराज का है। अब पर्यन्त यह संघ दक्षिण में ही विहार करता था, परन्तु भ्रतों के पुण्योदय से अब उन्हें इनका विहार उत्तर प्रांत में होगा। इस कारण सर्व ही समाज को धर्म का लाभ होगा। (1) यह संघ दक्षिण महाराष्ट्र से श्री शिखरजी पर्यन्त पैदल रस्ते से जारेगा। (2) संघ के साथ आने वाले धर्म बांधवों की सर्व प्रकार की व्यवस्था की जारेगी। (3) किसी प्रकार का कष्ट न हो ऐसी सावधानी रखी जारेगी। (4) संघ खक्का के लिए पोलिस का इंतजाम साथ में किया गया है। (5) संघ के साथ में श्री जिनेन भगवान् की प्रतिमा का समवशरण रहेगा। (6) संघ में धर्मोपदेश तथा धर्मवर्चा का लोग रहे, इसलिए विद्वान पंडितों की योजना की गई है। (7) संघ में औषधि द्वारा जैव चिकित्सा का इंतजाम रहेगा। (8) संघ में भोजन सामान का इंतजाम रहेगा। जिनमें कि अतिथियों को योन्य शुद्ध सामान भी मिल सके। (9) संघ में जो जितने हिंदू पर्यन्त रहना चाहेंगे, रह सकेंगे। जो पूरी यात्रा करना चाहेंगे, उनका खास इंतजाम किया जारेगा। सर्व बांधवों को इस प्रकार से विशेष लाभ होना समझाकर ही ऐसा इंतजाम रखा गया है। गरीबों की भी सर्व प्रकार की तजीवीज रहेगी। इसलिए उन बांधवों को चाहिए कि वे इस मौके को जाने न दें। पुनः ऐसा लाभ न मिलेगा। जो के साथ यात्रा करने वाले श्रावकों को धर्मोपदेश, सुप्रातान, तीर्थवंदना, आदि उन्हें लाभ होंगे। त्यांनी ब्रह्मवारी जनों को विशेषता से सूचित किया जाता है कि वे जगत् में आकर शामिल हो, जिससे संघ की शोआ बढ़े। इसी प्रकार विद्वानों को भी जगत् के साथ शामिल होना चाहिए। यही हमारी प्रार्थना है।

समाज सेवक पूनमवन्द घासीलाल जोहरी
जोहरी बाजार, बम्बई न.

यह समाचार महत्वपूर्ण तो था ही साथ में एक नवीन बात का घोटक था उत्तर की और दिग्मध्य मुनि संघ का विहार कई पीढ़ी से लोगों के कर्ण गोवर जी हुआ था, अतएव ऐसी शंका उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है कि स्वाधीन वृति की मुनिराज का गृहस्थों के आश्रित संघ का बनकर चलने में उनकी स्वाधीनता की यही होगी अतः यह कर्य कैसे निर्देश तथा उज्ज्वल समझा जायेगा?

इसका समाधान यह है कि मुनिराज अपने मूल गुणों का बराबर पालन करीजाएं यह मुख्य बात है, उसमें दोष नहीं आना चाहिए। संघ में सम्मिलित होना

गुणों वर्ग के साथ विहार करने में रलनत्रयाधर्म की वृद्धि होती है, जिनधर्म की विवादों होती है, सामुदायिक पवित्र शक्ति के द्वारा बहुत जीवों का हित होता है, कि उसमें वादा की कल्पना अयोग्य है। श्रावकों के आधीन मुनिराज की प्रवृत्ति नहीं है। मुनिराज के सुविधा को देखकर ही भक्त, संघ व्यावस्थापक सेवक के रूप में काम करते हैं। स्वामी के रूप में मुनिराज शोभित होते हैं। धर्मात्मा श्रावक तो स्वयं उनके परणों का दासानुदास सोचता है। जो गृहस्थ अपने को रत्नामी समझाकर दिखाने का प्रयत्न करे, वह विवारण श्रावक नहीं कहा जा सकता है। संचालक गुरुचरणों का सेवक बनने में कृतार्थता मानता है।

तीर्थयात्रा संघ

यह संघ की पद्धति नवीन नहीं है। शास्त्रों में इसके उदाहरण मिलते हैं। उत्तराखण्ड चरित्र में लिखा है कि महाराजा अरविन्द ने राज्य का परित्याग करके उत्तराखण्ड धारण कर लिया था। अपनी आयु शोषी जानकर उन्होंने संघ को छोड़कर उत्तराखण का कर्य प्रारम्भ कर दिया। दयानिधि मुनिराज अरविन्द गुण्युक्त संघ का लेखक आत्मा को संस्कृत करने के लिए जिन शतांशों की वन्दना हेतु श्रीमन्ति अतिथियों के साथ गए। वे मुनिराज पाप पंक विनाशन करने में समर्थ आगमनानुसार उत्तराखण को विनाशील शशिगुप्त आदि वैश्यवरणों को कहते थे। संघस्थ श्रावकों में उन्हें ऐस्तर शशिगुप्त थे।

पूर्व विदेह की पुंडरीकणी नगर की के वैश्यग्रामक ने सागरसेन मुनि राज का विहार करते समय साथ दिया था, ऐसा प्रसंग कवि महावीर चरित्र से ज्ञात होता है।

आज के युग में परमार्थ भावना का प्रतीप स्नेह का अभाव होने से बुझता जा रहा है। लोग स्वयं तीर्थयात्रा तथा धार्मिक प्रवृत्तियों के विषय में शैशिल्य संपन्न होते हैं ऐसे समय पर एक व्यक्ति का विशाल संघ को शिखरजी तक ले जाने का विषय अवश्य आश्वर्यप्रद होगा। कोई यह सोचते होंगे कि संघ-संचालक अनेक शरणों के अधिष्ठित होंगे तभी बड़े विशाल संघ चलाने के लिए उन्होंने रूपयों को उन्होंने की तरह बहाया होगा, यह कोई कल्पना ही है। संघ संचालक महानुभाव उन्होंने पुण्य शाली जिनधर्म के प्रगाढ़, श्रद्धालु और आवार्य शांतिसागर महाराज के गुणों में अनन्य अनुराग रखने वाले थे। उनके पास यदि पूंजी थी तो पुण्य की उपयोगी थी। जिनेन्द्र देव की स्तृति में कवि मगनलाल ने लिखा है।

जाके धन तेरे चरन दोय, ता गेह कमी कबहुं न होय॥
संघ संचालक का परिवार

शारीर में उस समय संघ संचालक सेठ पुनमवन्द घासीलाल जी के पास यही

पूंजी ही वास्तविक पूंजी थी। इसका कारण है कि प्रतापगढ़ से व्यापार निभिता में 1960 सन् 1903 में बम्बई आये थे। उस समय इनके पास शतक प्रमाण भी जागे मुद्राएं नहीं थी। दो वर्ष पर्यन्त चांदी की ढलाली के पश्चात् घासीलाल जी ने अच्छाभाष्य शाली ज्येष्ठ पुत्र गेंदमल जी के साथ मुक्ता की ढलाली प्रारम्भ की। 1969 में गेंदमल जी तथा उनके अनुज दाडिमहन्द जी केवल दो सहस्र रुपया लेने मोती लेने को अरबस्थान गए। वहाँ से आगे पर मूल धन टिकुणित हुआ। उन्होंने मधुर स्वभाव, प्रेमपूर्ण वाणी, सचे व्यवहार से मोती बाजार में लोगों का प्रेम लगाया। इनकी साख खूब बढ़ती गई। अरबस्थान में भी इन जवेरी बंधुओं का प्रेम प्रभाव तथा प्रमाणिकता का स्थान बढ़ता जाता था। जो भी इनके सम्पर्क में आ वह इनके गुणों के कारण अथवा पुण्य के कारण आकर्षित हो इनका बने लिना चाही रहता था। व्यापार को चमकाने के लिए जो जो साधन आवश्यक माने जाते हैं वे सभी यहाँ थे, इनसे विकास हो चला। इनका बढ़ते हुए वैभव की स्थिति प्रारंभिक अच्छाभाष्य पूंजी को देखते हुए पाश्वरतरी लोगों को विस्मित करती थी। सुभाषितकर का कानून अक्षरशः सत्य है "व्यापारे वसते लक्ष्मी (व्यापार में लक्ष्मी का वास है।)" अंगेज कहीं गोल्ड सिमथ ने इसे बुरा कहा है— "जहाँ धन की वृद्धि होती है, वहाँ मनुषों के सदगुणों का ह्रास होता है।" यहाँ ऐसी स्थिति नहीं थी, देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, दान आदि आवश्यक करों में तीनों भाई सेठ गेंदमल जी, दाडिमहन्द जी, मोतीलाल जी अंतःकरण पूर्वक संलग्न रहते थे। धन की मादकता ने उनको और असर नहीं डाला था। लक्ष्मी ने उनके विवेक वक्ष्यों को बन्द नहीं किया। प्रत्युत लक्ष्मी ही पुण्य करने वाले इस धर्मशील परिवार का अनुगमन कर रही थी। जैसे-जैसे धन बढ़ता था, वैसे-वैसे त्याग, परोपकार, धर्म, भक्ति, नम्रता, सदगुण वृद्धिंगत होते जा रहे थे। प्रतीत होता है, इनके हृदय में धन के विषय से राह बात धर कर गई थी कि पुण्य क्षय होने पर लक्ष्मी का नाश होता है, दान के से धन कभी भी नष्ट नहीं होता, अतः सदा पात्र दान करना चाहिए।

संघ परिचय:-

सेठिसिंज्ञावार्यवार्यान् श्री शांतिसागरप्रभेष्ठिनः सेवमानारत्रयो दिग्मवन् मुनिशेष्ठाः शिष्योत्तमाः श्री 108 परम्पूज्यो वीरसागरैनेतिसागरैः अनन्तकीर्तिशेष्यान् चन्द्रसागराद्यश्वत्वार ऐलकपदधरास्तथाऽन्ये च आरिकाक्षुलक ब्रह्मचारिष्यान् गृहविरतास्तस्विनः पंचदशः सहासन्। गृहनिरतास्तु शावका: श्राविकाणः शतशोधनिनश्व प्रयाणप्रारम्भाद् गुरुन् सेवामानाः सहाजम्भुः।

देवाधिदेवस्यार्ह्यप्रभोः समवसरणस्युवताः प्रतिमाः शावकाणां देवपूजाकर्मनिवासी संघेन सहनीताः। तट्यवस्थापनाय कोल्हापुरात् स्वस्ति श्री ऊगरकर-पायसागरस्थानी

स्थानाः।

॥ तत्रत्यकार्यविवरणम् ॥

श्री शांतिसागरचार्यवार्यरौः षट्दद्वय- सप्ततत्त्व- गवदार्थ- अहिंसा- स्यादादाति- निवासीकरिष्येषु तथाऽष्टादशदोषविनिर्मुक्ते सर्वज्ञापोषदिष्ट - रत्नत्रयस्वरूप - गुरुनामस्युणं रक्षितुं सज्जातिविधायक - आगमविहित - अनादि - सिद्धवर्णव्यावस्था गुरुनाम - उच्चकुलभेद - व्यवस्थादिविष्येषु व सततम् धर्म उपदेश्यते स्मा गुरुनामपदेशादेव संघपतिनाइत्र विपुलतानं व्यापोकृत्य अर्हत्प्रभोः पंचकल्याणक महोत्सव फाल्गुलशुद्ध- दशमीदिने प्रतिष्ठा करिता। श्री समेतैलरत्योपरि प्रत्यहं गुरुनामगैरेभिषेकपूजनादिविद्यानं सततं क्रियतेस्म।

अखिलभारतवर्षीय दिग्मवर जैन महासभाया दि. जैन शारिपरिषदशत्वात् गुरुनामेतत्वे संघपतिनाइतिवेशने करिते। तत्र धर्मसमाजरक्षणोपरामेतत्वे निर्णीताः।

असिन् महामहमहोत्सवे दक्षिण कर्णाटक द्राविड महाराष्ट्र वन्हाड बुन्देलखंड गुजरात- राजपूताना- पंजाब- बंगाल - आसाम- आगरा - दिल्ली- नारायणा- मुम्बई-प्रमुखेभ्यः सर्वप्रातेभ्यो दिग्मवर जैनसमाजो लक्षावधि- समागत्या गुरुनाम आसीत्।

एतत्समये अखिलभारतवर्षीयदिग्मवर जैन महासभाया: संघसंचालन दिग्मवरतजनिताखिलजननार्थमालाभ्रप्रदानेन कृतज्ञातां प्रदशितुमरिलजन- नामानुमोदनपूर्वक श्रेष्ठी घासीलालस्तपुत्राश्व ऋयोति गेंदमलो दाडिमहन्दो विलालश्व) "संघभवतिशेषमणि:" इति पदव्या समलंकृताः।

एतन्मुगिसेधेन वतुः संघसमितिवेतन दिग्मवरजैनधर्मस्य वर्णनातीता महती नामाना संजातेत्यखिलविदितमास्तामिति स्म।

ध्युलिका दीक्षा (पृ.279)

उदयपुर चातुर्मास के बाद महाराज ने धर्म प्रभावना करते हुए इंदर के सात द्वी पर गोरल नामक स्थान में सन् 1635 में चातुर्मास किया था। वहाँ सोलापुर कंक्षुबाई ने ध्युलिका दीक्षा ली थी। उनका नाम जिनमती अम्मा रखा गया। अम्मा प्रख्यात कोट्याधीश महाकृ उद्योगपति सेठ बालचन्द्र हीराचन्द्र की बहिनी। आवार्य महाराज ने पवित्र प्रभाव से बड़े-बड़े लोगों ने संयम की सत्त्वी महत्ता के बारण जानकर उसकी श्रण ली।

प्रतापगढ़

इसके अंतर महाराज ने संघपति सेठ पूनमचन्द्र घासीलाल के निवास स्थान प्रतापगढ़ में चातुर्मास किया। यहाँ आवार्य महाराज के संघ में महाराज के सबसे छोटे वंश कुंगौडा पाटील भी थे। दोपहर के समय व्र. कुंगौडा का उपदेश हुआ करता

था। यहाँ से विछर कर महाराज का संघ बडवानी सिद्धकरकृत होता हुआ मुक्तांग पदारा था।

शिथिलाचर सम्बन्धी आहर दान-उनसे तत्त्वचर्चा में बहुत आनंद मिला था। सदा जैनधर्म के अनुपम रहस्यों की चर्चा चला करती थी।

एक दिन किसी ने पूछा - महाराज! कोई व्यवित निर्णय मुद्रा को लाने करके उसके गैरत को भूलकर यदि अकार्य करता है, तो उसको आहर देना चाहिए या नहीं?

उन्होंने कहा - "आगम का वावय है, कि भूवितमात्र-प्रदाने तु का परीक्षा तपस्तिनाम्-अरे! दो ग्रास भोजन देते समय साधु की क्या परीक्षा करते? उसको आहर देना चाहिए। बेचारा कर्मोदयतश प्रमत्त बनकर विपरीत प्रवृत्ति का रहा है। उसका न तिरस्कार और न पुरस्कार ही करे भूवितपूर्वक ऐसे व्यवित की सेवा नहीं करनी चाहिए।" वाच. पृ.511

3) चन्दन-लेपन (वरणा-अंगुठा में लगाने) को आप ने मिथ्यात तक मानते हो- परन्तु जय धवला(पृ.91) तिलोयपण्णति (बा. 105) आदि अनेक ग्रंथों में इस का विधान है। चंदणसुगंध लेओ जिण्वर वरणेसु जो कुण्ड भावितो (आ. देवसेन कृत आवसंग्रह) रजनानन्तरं प्रोक्तं गंधलेप जिनेशिनाम् पुनः उदाहरणा दृष्टव्य है। विशेष परिज्ञान मेरी जिनार्थना पुष्ट 1.2 से प्राप्त करे।

4) जिनशासन यक्ष-यक्षाणी के विशेष:- मन्दिर समोशरण का प्रतीक है, मूर्ति तीर्थकर का प्रतीक होने से यक्ष यक्षीणी की मूर्ति केवल मंदिर के द्वारा नहीं होती है परन्तु मंदिर के अन्दर और मूर्ति के साथ संयुक्त भी होती है। यह तीर्थकर की तिलोयपण्णति, त्रिलोकसार आदि अनेक श्रावकावार प्रतिष्ठा ग्रंथों में है। यथा-

रौद्रादिदोषानिर्मुक्तप्राप्तिहार्याक यक्षायुक्। (प्रतिष्ठा सारोदारा)
प्राप्तिहार्याष्टकोपेतां यक्षायक्षीसमन्विताम्। (जिनेन्द्र कल्याण)

अतो यज्ञांशदानेन् माननीया सदृष्टिभिः॥ य.ति. 242

वर्णा- आ. श्राविसागरजी आदि मूलसंघी आवारों ने निषेध किया? श्राविसागरजी के जन्मस्थान से लेकर समाधि स्थान के प्राचीन मंटिशों में तीनों की मूर्तियों में संयुक्त रूप से यक्षी-यक्षाणी की मूर्तियाँ थीं तो उन्होंने विशेष न किया, निकालकर फेका नहीं। तो आपको भी (सुधासागरजी) और अन्यों को भी उनकरना विषमता, पंथाश्रव को फैलाकर समाज को तोड़ने का कार्य अविधेय है। तो कोई संकीर्ण, पंथवादी, पूजा, पाठ को बढ़ावा देने वाले नहीं हैं। हम तो वैशाखी, उदारवादी दृष्टि से जैन धर्म को देश विदेश में फैला रहे हैं। परन्तु यथार्थता के

दृष्टि

पूरिक्षुरस-धारोदै-धृतदध्युदकादिभिः अभिविच्य जिनेन्द्रार्चार्मर्तिं
पुरायुरैः॥

हरिवन्दन-गंधाद-र्यैर्निधशाल्यक्षताक्षतैः।
पृष्ठैर्नानाविशैरुद्धर्थैः कालागुरुदभवैः॥
दीपै दीपशिखाजालैर्नैवैर्निरवद्यके :।
तावानर्वतुर्चा तामर्वनाविधिकोविदौ॥

पूजा के अंत में वसुदेव ने अढाई ढीप के 170 धर्मदोओं में त्रिकाल जिनेन्द्रादि की इन भावय शब्दों द्वारा वन्दना भी की थी।

दीपेष्वर्धतृतीयेषु- ससप्ततिशात्तमके।
प्रमक्षोत्रे त्रिकालेभ्यो जिनादिभ्यो नमोस्तिवति॥ 27

समाज का अत्यन्त आदरणीय ग्रन्थ पञ्चपुराण भी इस विषय में हरिवंशपुराण मार्गिन करता है (लौलतरामजी की आषा-टीका, पृ. 308, पर्व 32):

गम के वनवास के पश्चात् भरत शासन करते थे। भरत ने युति नाम के आवार्य के समीप नियम लिया कि "पञ्चदर्शनमात्रेणा करिष्ये मुनिताम्" गम के दर्शनमात्र से ही मुनिवत धारण करँगा। उस समय आवार्य युति महाराज कहा था कि इसके पूर्व तुम्होंके श्रावकों के व्रत धारण करना चाहिए। उन्होंने गम में कहा था- " अरे! जो रात्रि कूं आहर का त्याग करै, सो गृहस्थ पद के विषे प्रवृत्त है, तो शुभगति के सुख पावै। जो पुरुष कमलादि जल के पुष्प की फूली, मालती आदि पृथ्वी के सुगन्ध पुष्पनिकरि अगवान् कूं अर्हे सो पुष्पक फूं पाय यथेष्ट कीड़ा करे"

यविषेणावार्य रवित मूल पञ्चपुराण के वाक्य ध्यान देने योग्य है (सर्व 157, 156):

करोति विभावर्यामाहापरिवर्जनम्।
सर्वरिंश्चवृत्तोपि यात्यसौ सुखंदा गतिं॥
सामोदैर्भू जलोद्धूतैः पुष्पैर्योजिनमर्चयति।
विमानं पुष्पकं प्राप्य स कीडति यथोप्सितम्॥

इस आगम के प्रकाश में पुष्पों द्वारा भी अगवान् की पूजा का निषेध नहीं होता। ये सिद्धपूजा को श्रावक लोग बडे चाव से पढ़ते हैं, उसमें भी मंदार, कुंद, आदि वनस्पति से उत्पन्न पुष्पों द्वारा सिद्धक्र की वंदना की गई है - मन्दार-कुंद-कमलादिवनस्पतीनां, पुष्पैर्यजे श्रुभतमैर्वरसिद्धक्रम्॥ अभिषेक का महाफल

आचार्य महाराज ने कहा था " विवेकपूर्ण कार्य करना चाहिए।"

पंचामृताभिषेक

धातव्य है कि- तिलोयपण्णति के कर्ता आचार्य यतिवृषभ है। इनका काल इसी सं. 400 से 600 के मध्य में है। धवला में तिलोयपण्णति की ग्रन्थों का उपरोग खूब हुआ है और उसे धवला के रखिता वीरसेनाचार्य ने तिलोयपण्णतिसुतादो (धवला अ. 143) कहकर सूत्र रूप में महत्व दिया है। कथाय प्राभृत सिद्धान्त ग्रन्थ के तूर्णिसूत्र के रखनाकार भी आचार्य यतिवृषभ हैं। वीरसेनाचार्य अन्य आचार्य के मत से भी तूर्णिसूत्र को अधिक महत्व देते हैं। ऐसे मूलसंघ के प्राचीन प्रामाणिक मठों आचार्य कृत तिलोयपण्णति में वर्णित पूजा प्रकरण में से कुछ अंश उद्धृत किया है। इसी प्रकार आचार्य वसुनन्दी भी मूलसंघ के प्रामाणिक प्राचीन आचार्य है। दोनों आचार्य मध्यकालीन भट्टारक परम्परा के प्रारंभ के पहले के आचार्य हैं। अतः भट्टारक परम्परा के आचार्य नहीं हो सकते हैं। इसलिए यह कहकर प्राचीन पूजा पद्धति को नहीं नकार सकते हैं कि यह भट्टारक परम्परा है। 20 पंथी परम्परा को प्रकार प्रकरण है। मिथ्यापरम्परा है। अजैन से प्रभावित परम्परा है। यदि कोई नकाराता तो उसके भाव एवं भाव्य का कर्ता-भोक्ता वह है। यदि कोई मानता है उसके भाव एवं भाव्य का कर्ता-भोक्ता वह है। इसलिए आगमानुसार पूजा करने वालों का तिरेध करके विषमता न फैलाए। विशेष परिज्ञान के लिए मेरी " जिनार्जिना" ॥।।।

कलस चउकं ठाविय चउय वि कोणेसु णीरयरिपुण्णं।

घरा दुदु दहिय भरियं णतं स्यदलच्छणं मुँह कमलां॥ 438 व.श.आ। वर्षा

तदनंतर चारों कोनों में जल से भेरे हुए चार कलश रखना चाहिए तथा ग्रन्थ में पूर्ण कलश स्थापना करना चाहिए। इनके सिवाय घी, दूध, दही, इनसे भेरे कलशों भी स्थापना करना चाहिए। इन सब कलशों के ऊपर नवीन सौ ढल वाले कणा रखना चाहिए।

दिक्पालों का वर्णनः

आवाहिक्षण देवे सुरवड सिंहिकाल ऐरिए वरणो।

पवणे जख्ये ससूली सपियासवाहने ससत्थे या॥ 439

तदनंतर इन्द्र, अग्नि, यम, नेत्रत्या, वरुण, पवन, कुबेर, ईशान, धरणी और चन्द्र इन दश दिक्पालों की स्थापना कर अर्घ्य चढ़ाना चाहिए। इन दिक्पालों को उनकी पत्नी वाहन और शरणों सहित स्थापना करनी चाहिए।

दिक्पालों का सम्मान

दाऽण पुज्जदव्य बलि चर्यं तह य जण्णायां च।
सव्वेसिं मंते हि य तीयवर्खर णाम जुतेहिं॥ 440

इन सब दिक्पालों को पूजा द्रव्य, बली, नैवेद्य, यज्ञभाग देना चाहिए। सबका नामाकार सहित अलग-अलग नाम लेकर मंत्र पूर्वक आहान, स्थापना, सन्निधीकरण तर यज्ञ भाग पूजा द्रव्य और नैवेद्य देना चाहिए। इनके स्थापना करने आदि के मन्त्र हैं।

ओ ही आं क्रौं प्रशस्त वर्ण सर्व लक्षण संपूर्ण स्वारुप वाहन युक्त सविन्ह महित इन्द्र देव अत्र आगच्छ-आगच्छ संतौष्ट, अत्र तिष्ठ-तिष्ठ ठःठः अत्र मम महितो भ्रव भ्रव वषष्ट ओं आं क्रौं-ही इन्द्र देवा इदं अर्घ्य, पावां, ग्रां, पुष्पं, दीपं, वेणुं, वर्णं, बलिं, स्वस्तिकं, अक्षतं यज्ञभागं च यज्ञमहे यज्ञमहे प्रतिगृहातामिति

यह मंत्र पढ़कर अलग-अलग देवों की स्थापना करनी चाहिए। इन्द्र पूर्व दिशा में स्थापित कर बारी ओर से आठों दिशाओं में आठ देव, अधो दिशा में धरणेन्द्र, उत्तर दिशा में चन्द्र की स्थापना करनी चाहिए। शेष विधि अभिषेक पाठ में से कर दी चाहिए।

पंचामृत अभिषेक

उच्चरित्तण मंते अहिसेयं कुण्ड देवदेवस्य।

णीर घर खीर दहिय विवर्ज अणुवकमेण जिणसीसे॥ 441

तदनंतर देवाधिदेव भगवान् अरिहंत देव का अभिषेक करना चाहिए। वह अभिषेक अनुक्रम से जल, घी, दूध, दही आदि पदार्थों से मन्त्रों का उत्तरण करते भगवान् के मस्तक पर से करना चाहिए।

अभिषेक क्रम

ण्हवणं काऽण पुणो अमलं गंधोदयं च वंदिता।

सवलहणं च जिणिदे कुण्ड कस्सीर मलणहिं॥ 442

इस प्रकार अभिषेक कर निर्मल गंधोदक की वन्दना करनी चाहिए और फिर अभिषेक के सर तथा चन्दन आदि से भगवान् का उद्वर्तन करना चाहिये। अभिषेक अनंतर चन्दन, केसर आदि द्रव्यों की धूप बनाकर उससे प्रतिमा का उबतन बना चाहिए। फिर चतुष्कोण कलशों से पूर्ण कलशों से तथा अभिषेक करना चाहिए। यह विधि अत्यन्त संक्षेप में कही है। इसकी पूर्ण विधि अभिषेक पाठ से जान ली चाहिए।

जलधारा

पसमइ रयं असेसं जिणपसकमलेसु दिणं जलधारा।
भिंगारणाल णिङइ भमतंभिनेहि कब्बुरिया॥ 470

सबसे पहले जल की धारा टेकर भगवान् की पूजा करनी चाहिए। वह जल की धारा भृंगार (झारी) की नाल से निकलनी चाहिए तथा वह जल इतना सुगंधित होना चाहिए कि उस पर भ्रमर आ जाय और जल धारा के चारों ओर घुमते हुए उन होना चाहिए कि उस पर भ्रमर आ जाय और जल धारा के चारों ओर घुमते हुए उन भ्रमरों से वह जल की धारा अनेक रंग की दिखाई देने लगे, ऐसी जल की धारा भगवान् के चरण कमलों पर पड़नी चाहिए। इस प्रकार जल की धारा से भगवान् की पूजा करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं अथवा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, कांशान्त हो जाते हैं।

चन्दन पूजा

चंदण सुगन्ध लेओ जिणवर चरणेसु जो कुणि भविओ।
लहड तणुविकिरियं सहावसुयंधर्यं अमलं॥ 471

जो भ्रत्य पुरुष भगवान् जिनेन्द्र देव के चरण कमलों पर जिन प्रतिमा के वरण कमलों पर सुगंधित चन्दन का लेप करता है उसको स्वर्ण में जाकर अत्यन्त निगेन्द्र कमलों पर सुगंधित चन्दन का लेप करता है उसको स्वर्ण में जाकर अत्यन्त निगेन्द्र वाला भ्रत्य जीव स्वर्ण में जाकर उत्तम देव होता है।

अक्षत पूजा

पुण्णाण पुजो हि य अवग्ने पुञ्जेहि देवपरापुरओ।
लभंति णावणिहाणे सुअवग्ने चक्कवत्तितं॥ 472

जो भ्रत्य जीव, भगवान् जिनेन्द्र देव के सामने पूर्ण अक्षतों के पुंज चढ़ाता अक्षतों से भगवान् की पूजा करता है वह पुरुष चक्कवत्ती का पद पाकर अक्षय नव निधियों को प्राप्त करता है। चक्कवत्ती-को जो निधियां प्राप्त होती है उसमें चाहे जितना सामान निकाला जाए निकलता ही जाता है कम नहीं होता।

पुष्पों से पूजा

अलि चुंविएहिं पुज्जइ जिणपराकमलं च जाइमल्लीहिं।
सो हवइ सुखरिदो रमेइ सुरततरुवर वणेहिं॥ 473

जो भ्रत्य पुरुष, भगवान् जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की, जिन पर भ्रमर रहे हैं ऐसे चमली, मोगरा आदि उत्तम पुष्पों से पूजा करता है वह स्वर्ण में जाकर अनेक देवों का इन्द्र होता है और वह वहाँ पर विरकाल तक स्वर्ण में होने कल्पत्रुटों के बगों में, बगीचों में क्रीड़ा किया करता है।

नैवेद्य पूजा

दहिखीर सप्ति संभव उत्तम चरुरगहि पुज्जए जो हु।
जिणवरपाय पओरुह सो पावड उत्तमे भोए॥ 474

जो भ्रत्य पुरुष दही, द्रूध, धी आदि से बने हुए उत्तम नैवेद्य से भगवान् जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा करता है उसे उत्तमेतम श्रोणों की प्राप्ति होती है।

दीपक पूजा

कप्पूर तेल पर्यालिय मन्द मल्पहयणडिदीवेहिं।
पुज्जह जिणं पय योमं ससि सूरवि सम तणुलहई॥ 475

जो दीपक, कप्पूर, धी, तेल आदि से प्रज्जवलित हो रहा है और मन्द-मन्द वायु से नाच- सा रहा है ऐसे दीपक से जो भ्रत्य पुरुष भगवान् जिनेन्द्र देव के चरण करता है।

धूप से पूजा

सिल्लारस अयरु मिस्सिया णिङइ धूवेहि वहल धूमेहिं।
धूवड जो तिण चरणे स लहई सुहवताणं तिजए॥ 476

जिससे बहुत आरी धूओं निकल रहा है और जो शिलारस (शिलाजीत) अगुरु, फन्दन आदि सुगंधित आदि द्रव्यों से बनी हुई है ऐसी धूप अग्नि में खेकर भगवान् जिनेन्द्र देव के चरण कमलों को धूपित करता है वह तीनों लोकों में उत्तम पद को प्राप्त करता है। धूप को अग्नि में खेना चाहिए और उससे निकला हुआ धूओं दरीं हाथ से भगवान् की ओर करना चाहिए।

फल से पूजा

पवकेहिं रसइढ समुज्जलेहिं जिणचरणपुरओ।
णाणा फलेहिं पावड पुरिसो हिय इच्छियं सुफलं॥ 477

जो भ्रत्य पुरुष अत्यन्त उज्ज्वल रस से भरपूर ऐसे अनेक प्रकार के पवके से भगवान् जिनेन्द्र देव के चरण कमलों के सामने समर्पण कर पूजा करता वह अपने हृदय अनुकूल उत्तम फलों को प्राप्त होता है। (ता. च. पृ. 457, 466, पृ. 114)

अष्ट द्रव्य से पूजा

तिलोय पण्णति में वर्णित जिनार्वना (आ. यतिवृषभ विश्वित)
"नन्दीश्वर रिथत जिन-प्रतिमाओं के अभिषेक, विलेपन और
आदि का कथन"-

जलाभिषेक

कुर्वते अभिसेयं, महाविभूदीहि ताण देविंदा।
कंचण-कलस-गदेहिं, विउल-जलेहिं सुगंधेहिं॥104
देवेन्द्र, महाबृ विभूति के साथ उन जिन प्रतिमाओं का सुवर्ण-कलशों में ॥
हुए विपुल सुगंधित जल से अभिषेक करते हैं।

सुगंधित द्रव्य से विलेपन

कुंकुम-कप्पूरेहिं, चन्दण-कालागरुहि अणोहिं।
ताणं विलवणाई, ते कुर्वते सुगंधा-गंधेहिं॥105
ते इन्द्र कुंकुम, कप्पूर, चन्दन, कालागरु और अन्य सुगंधित द्रव्यों से उन प्रतिमाओं का विलेपन करते हैं।
कुंदेदु-सुंदरेहिं, कोमल-विमलेहिं सुरहि-गंधेहिं।
वर-कलम-तंडिडुतेहिं, पूजांति जिणिंद-पडिमाओं॥106
ते देव, कुण्डपुष्प एवं चन्द्र सदृश्य सुन्दर, कोमल, निर्मल और सुगंधित उत्तम कलमधान्य के नन्दुलों से जिनेन्द्र-प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।

सुगंधित पुष्प मालाओं से पूजा

सरवंतराय चंपया-माला पुण्णा-णाग पहूदीहिं।
अचंति ताओ देवा, सुरहिं कुसुम-मालाहिं॥107
ते देव सेवनीराज, चम्पकमाला, पुण्णाग और नाग आदि सुगंधित पुष्प-मालाओं से उन प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।

नैवेद्य से पूजा

बहुविह-रसवंतेहिं, वर-भवखेहि विचित-रुवेहिं।
अमर्या-सरच्छेहि सुरा, जिणिंद-पडिमाओं महयंति॥108
ते देवगण, बहुत प्रकार के रसों से संयुक्त, अद्भुत रूप वाले और अमृत गमन उत्तम शोज्य-पदार्थों से नैवेद्य से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।

रत्न दीपक से पूजा

विषुरिद किरण मंडल-मंडिद भवणेहि रण-दीवेहिं।
णिवकज्जल-कलुसोहिं पूजांति जिणिंद-पडिमाओं॥109
दैतीयमान किरण समूह से जिन-भवनों को विभूषित करने वाले कज्जल व कालुष्य रहित ऐसे रत्न-दीपकों से इन प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।

धूप से पूजा

"तासिद-दियंतरेहिं, कालागरु-पमुह-विविध-धूवेहिं।
रिमलिद-मंटिरेहिं, महयंति जिणिंद-बिंबाणि॥110

देवगण मन्दिर एवं दिग्-मण्डल को सुगंधित करने वाले कालागरु आदि अनेक प्रकार के धूपों से जिनेन्द्र बिम्बों की पूजा करते हैं।

फलों से पूजा

दक्खा-दाडिम-कदली-णारंगय-माहुलिंग-चुदेहिं।
अणोहिं पवकेहिं फलेहिं पूजांति जिणणाहं॥111
दारव, अनार, केला, नारंगी, मातुलिंग, आम तथा अन्य भी पके हुये फलों से देवगण जिननाथ की पूजा करते हैं।

5. मठिदर, मूर्ति, शिलालेख में तोड़-फोड़

जिणेंद्रार के नाम पर (1) संघीजी मन्दिर (सांगानेर) (2) बिजौलिया (3) गैलेडी (4) कुण्डलपुर (आ. विद्यासागर द्वारा भी प्राचीन मन्दिर आदि को तोड़ा गयीय प्राचीन मूर्ति की प्रशस्ति, विन्ह, शिलालेखों को भिटाकर अपनी प्रशस्ति देते लिखना यक्ष-यक्षाणी की मूर्तियों को छाटाना यह सब पंथवाद, प्राचीन डिठास-गौरव परम्परा को नष्ट करना, पुरातत्व कानून (विझुद्ध राज्यातिक्रम) का उल्लंघन, जन-समर्य का दुरुपयोग (इससे अन्य योग्य धार्मिक कार्यों से वंचित होना) के साथ समाज में विषमता फैलाना, लडाई-जगडा, फूट का निर्माण करना है। कारण भाव हिंसा के साथ-साथ एकेन्द्रिय से लेकर पर्येन्द्रिय तिर्यक्च और यत्क तक की हिंसा होती है, हुई है। इसके लिए अनेक प्रबुद्ध व्यक्ति विरोध करते हैं, केस चल रहे हैं। विभिन्न- जैन पत्रिका, समाचार पत्र, इण्डिया टुडे, पांलेट, इतिका (कुण्डलपुर कोहराम) आदि में पक्ष-विपक्ष में लेख छ्य रहे हैं।

6. समाचार विधि (नमोऽस्तु, प्रतिनमोऽस्तु) नहीं करना

प्रायः आप के पूर्ण संघ (आ. विद्यासागर जी संघ) यहाँ तक कि कुछ इरिणी यहाँ तक कि आपके कट्टर अनुयायी बडे-बडे मूल संघ के आवार्यों (आ. विद्यासागर जी, आ. अजितसागर जी, आ. विमलसागर जी, आ. सन्मति सागर जी, आ. अभिनन्दनसागरजी, आ. वर्धमान सागर जी, आ. भरत सागर जी) को नमोऽस्तु, प्रतिनमोऽस्तु आदि नहीं करते हैं, न आहार आदि देते हैं, उन्हें देने का, आहार देने दान देने का विरोध करते हैं। आगम में कहा है-

षमण को देखने के बाद करने योग्य क्रिया

आवार्य महाराज किसी ऐसे साधु को जो भीतर वीतरण शुद्धात्मा की भावनाको करने वाली निर्ग्रथ के निर्विकार रूप का धारी है आते देखकर उस अभ्यागत आवार के अनुकूल ऊर्ध खडा होना आदि क्रियाओं से उसके साथ वर्तन करें। तीन दिनों के पीछे उसमें गुणों की विशेषता के कारण से उसके साथ रत्नत्रय गवाना की वृद्धि करने वाली क्रियाओं के द्वारा विशेष बर्ताव करें। ऐसा सर्वज्ञ

भगवान् व गणधरदेवादि का उपदेश है।

आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द देव ने आगत(पादोष) साधु के लिये उस स्थान में स्थिर आचार्य तथा अन्य श्रमणों का वया कर्त्तव्य होता है? इसका वर्णन किया है। आगन्तुक श्रमण स्थानीय श्रमणों के लिए अपरिचित रहता है एवं स्थानीय श्रमण जी आगन्तुक श्रमण के लिए अपरिचित रहते हैं। टीका के अनुसार तथापि आगम वी आज्ञा के अनुसार आगन्तुक श्रमण का यथारोप्य आदर सत्कार आचार्य सहित अन्य श्रमण भी करते हैं। इस टीका से सिद्ध होता है आचार्य भी अभ्यागत श्रमण को देखने लाने के लिए जाते हैं, खड़े होते हैं, और यथारोप्य विनय आदि करते हैं। आगन्तुक श्रमण मार्ग के परिश्रम से थका (वलान्त) रहता है इसलिए उन्हें कुछ अवधि तक विश्राम लेने के लिये योग्य अवसर दिया जाता है। उस समय संघरथ श्रमण आदि उनकी सेवा आदि के साथ-साथ उसके आहार विहार आदि की परीक्षा भी करते हैं। परीक्षा से यदि वे उत्तम गुणधारी सिद्ध होते हैं तो उनका और विशेष विनय आदि करते हैं और कम गुणधारी की भी उसके योग्य विनय करते हैं और किसी प्रकार तुम्हें होने पर आचार्य उनकी तृटि का परिमार्जन करके उनका रिश्तिकरण करते हैं।

वर्तमान समय में कुछ ऐसा देखने में सुनने में आता है कि आगन्तुक योग्य श्रमण को भी कुछ संघरथ श्रमण खड़े होकर उसका अभ्यागत करना(स्वागत) विनय करना आदि आगम क्रियाएँ नहीं करते हैं। यदि अभ्यागत साधु ब्रह्म है तब अन्य विकल्प है परन्तु योग्य साधु का विनय नहीं करना यह आगम विरुद्ध है। यहीं साधु परस्पर योग्य विनयात्मा आदि नहीं करते हैं तब आगम विरुद्ध तो है ही और इसका प्रभाव दूसरे साधु व श्रावकों के ऊपर भी उत्तम नहीं पड़ता है। अन्य लोग भी उनकी देखा देखी अविनया, अनुदार, वात्सल्य रहित बनते हैं। यदि ऐसा साधु विनय, सदाचार आदि का उपदेश भी करते हैं तो भी उनका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है। श्रोता वर्ग विचार करते हैं ये जो "परोपदेशी पांडित्या" हैं ये केवल दूसरों को उपदेश देने के लिए परिषिद्ध हैं परन्तु ख्यात आचरण नहीं करते हैं। मेरा खुद का अनुश्रूत है जब श्रमण परस्पर विनय वात्सल्य से युक्त होते हैं तब उनका महान् प्रभाव बिना उपदेश के भी दूसरों पर पड़ता है और वे भी वात्सल्य एवं विनय गुण से युक्त हो जाते हैं। अहंकार से युक्त होने के कारण ही एक श्रमण दूसरे श्रमण का विनय नहीं करते हैं। वात्सल्य भाव है जो धर्मात्मा को जोड़ देता है और ऐसी एक डोर धर्मात्मा को धर्म प्रेम में बांध देती है। अहंकार ऐसा एक वज्र है जो धार्मिक समाज की पर्वत को ध्वस्त कर देता है। अतः हमें यदि धर्म की प्रभावना करनी है, आगम की प्रभावना करनी है तो यथारोप्य वात्सल्य एवं विनय गुण से युक्त होना चाहिए। कुन्दकुन्द देव ने इस गाथा में एक महत्वपूर्ण शब्द दिया है "ति उपदेशो-

उपायी टीका करते हुए यथेनावार्य ने कहा- "इत्युपदेशः सर्वज्ञगणधरदेवादीनामीति" अर्थात् ऐसा सर्वज्ञ भगवान् व गणधरदेवादि का उपदेश है। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द देव वता रहे हैं कि यह उपदेश मेरा नहीं परन्तु वह सर्वज्ञ की प्रातीन परम्परा एवं उपदेश है। अतः इसे सर्वश्रमणों को अवश्य आचरण में लाना चाहिए।

उपरोक्त समस्त आगम प्राणी से यह सिद्ध हो गया कि आचार्य आदि भी श्रमण के यथारोप्य विनय करते हैं। विनय गुणपरक होता है, व्यक्ति परक नहीं होता, विनय गुणों का विच्चा जाता है व्यक्ति का नहीं। इसलिए रत्नत्रय से समृद्ध विनय करते हैं अर्थात् रत्नत्रय का विनय करते हैं। अतः आचार्य भी जब 'ण्मो त्रिए सत्प साहूणं' बोलते हैं तब रत्नत्रय स्वरूप आत्मा को या रत्नत्रय धारी को अनुसरकर करते हैं और रत्नत्रय तो सतत तंदनीय है परन्तु ध्यान देने योग्य बात है जब आचार्य जब अन्य शिष्यादि श्रमण या अन्य संघरथ श्रमण का विनय करते हैं तब उस समय आज्ञा की रक्षा होनी चाहिए। वह यह है कि आचार्य जब अन्य शिष्यादि श्रमण या अन्य संघरथ श्रमण के विनय करते हैं तब उस समय अन्य श्रमण प्रस्तुत आचार्य से छोटे हैं तब पहले छोटे श्रमण सर्व प्रथम भक्ति आदि पूर्वक गम्भुवित हस्त में पिछिका धारण कर विज्ञापन सहित मनसा, वचसा, कर्मणा गुणोऽस्तु करे तथा आचार्य भी अहंकार कुटिल भाव आदि से रहित हो सहृष्ट प्रणिनोऽस्तु करके उसका यथारोप्य विनय करे। छोटा श्रमण तो बड़े श्रमण का पद प्राप्ति करके भी विनय कर सकता है परन्तु बड़ा श्रमण छोटे श्रमण का पदप्राप्ति आदि नहीं कर सकता इत्यादि विषयों का ध्यान रखें।

प्रायाधिवत आदि ग्रंथ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कुछ विशेष परिस्थिति में लौकिकाचार को ध्यान में रखकर धर्म की अप्रभावना न हो, संघ की रक्षा हो, धर्म की प्रभावना हो इस दृष्टि से अयोग्य का भी यथारोप्य विनय किया जाता है। यथा-

वन्दारः शुद्ध एवासौ पाश्वर्स्थगणिनो गणी।

संघ मेलापकेऽन्यत्र मासिक दण्डमशुभ्रोऽ। 73 सिद्धान्तसागर

संघ में सब मुनियों का समूह होने से पाश्वर्स्थ गणी को यदि आचार्य तंदन करें तो शुद्ध ही है परन्तु जब अकेले पाश्वर्स्थ को आचार्य तंदन करें तो वह मासिक प्रायाधिवत के योग्य है।

राजादिराजलोकानां स्नेहमुत्पादयननपि।

नैव दुष्टो गणी कृष्णतस्यापालनेतुः॥ 74 पृ 550

(संघपालनार्थ, राजराजेन्द्र करने वाले आचार्य निर्देश हैं।) राजादिक और उनके नेपकों का स्नेह रखने वाले आचार्य दोषी नहीं हैं, वर्योक्ति संघ का पालन राजादिकों

के साथ र्णेह रखने से होगा ऐसा उद्देश्य मन में रखकर वैसा र्णेह पालन करो है।

अभ्युत्थानादिकं कुर्वन्नहस्थेष्वन्यलिंगिषु।

दीक्षादिकारणाच्छुद्धो मासिकं चान्यथा भजेत्॥ 75
कोई गृहस्थ दीक्षा आदि कार्य के लिये आया है, तो उसका अभ्युत्थानादि यदि करें तो वह दोषी नहीं है और अन्य धर्मी यदि साधु दीक्षा ग्रहण के लिए आया होते हैं तो वह दोषी नहीं है और अन्य धर्मी यदि साधु दीक्षा ग्रहण के लिए आया होते हैं। यदि इन कारणों के बिना आवार्य उसका भी आदर करने में आवार्य दोषी नहीं है। यदि इन कारणों के बिना आवार्य उसका भी आदर करने में आवार्य दोषी नहीं है। यदि इन कारणों के बिना आवार्य आदर करे तो वह मासिक प्रायशित्व के योन्या आदर करे उठकर खड़े होना आदि विनय करे तो वह मासिक प्रायशित्व के योन्या है।

राजासन्नासंस्थेऽपि धर्मदिः कारणश्रावात्।

अभ्युत्थानेऽथवा तस्य सूरिसूर्यो न दुष्प्रतिः॥ 76

भूपत्याद्याः समागत्य पूर्यन्ति यतीश्वरम्।

पूजितस्य च तैर्विं मासिकं तस्य जायते॥ 77

राजा आसन पर बैठा है और धर्मादि कारण से आवार्य राजा की शभा में जाने और राजा आदर के लिए आसन से उठने या न उठने पर आवार्य को दोष नहीं है। राजा मंत्री आदिक आवार्य की पूजा करने से मेरी पूजा राजादि आकर करते हैं ऐसा गर्व यदि आवार्य करे तो उनको मासिक प्रायशित्व है।

आर्थिकासंयतानां च ग्रहस्थानामहेतुकम्।

अभ्युत्थानं करोत्यस्य प्रायशित्वं भवेत्पुनः॥ 102

आर्थिका, असंरामी तथा गृहस्थ आने पर बिना हेतु तो अभ्युत्थान करता है। तो उस आवार्य को प्रायशित्व कहा है।

उपर्युक्त सिद्धान्तसार के वर्णन से आवार्य यह निकलता है कि कारण वशतः यदि आवार्य भी पाश्वरस्थ या गृहस्थ आदि का यिन्या करता है तो दोष करक नहीं है परन्तु अकारण करता है तो दोष कारण है। ऐसी अवस्था में क्या आवार्य योन्या श्रमणों का योन्या विनय आदि नहीं करेगा। यदि नहीं करता है तो वह अवश्य जिनाज्ञा का उल्लंघन अपितु अवश्य ही करेगा। यदि नहीं करता है तो वह अवश्य जिनसूत्र के विलङ्घ आवश्य करेगा। जो जिनसूत्र के विलङ्घ प्रतिपादन करता है या जिनसूत्र के विलङ्घ आवश्य करता है वह श्रमण ही नहीं है वर्णोकि जिनाज्ञा को न मानना ही मिथ्यादर्शन ही करता है वह श्रमण ही नहीं है जीव यथार्थ श्रमण नहीं हो सकता है। जिनाज्ञा का उल्लंघन करने का प्रायशित्व आवार्यों ने मूलच्छेद बतलाया है।

जिनसूत्रापरिज्ञानादुत्सूत्रंविणियेत्पुनः।

स्वच्छन्दस्य भवेत्तस्य मूलदण्डे विधानतः॥ 103

जिन सूत्र का ज्ञान न होने से जो उत्सूत्र प्रतिपादन करता है, उस स्वच्छन्द मुनि को शास्त्रोक्त विधि से मूलदण्ड देना चाहिये। अर्थात् उसको पुनः दीक्षा देनी चाहिए।

इस ही ग्रंथ में आगे कहा है जो असत्य भाषण करता है वह भी दण्ड का अर्थात् प्रायशित्व का भागी है और जो असत्य भाषण को सुनता है वह भी दण्ड और प्रायशित्व का भागी है। यथा-

नीचः पैसुन्यायुक्तो यो ह्यनृतं परिभाषते।

प्रत्यक्षां वा परोक्षां वा गणात्तस्य बहिः कृतिः॥ 128

जो साधु नीच दुष्टतायुक्त, निंदायुक्त असत्य बोलता है वह चाहे प्रत्यक्ष बोले किंवा परोक्षता से बोले उसको गण से बाहर करना चाहिए।

जल्पतस्तस्य शृण्वना तिष्ठन्ते समीपगाः।

तस्य दोषस्य तदभागं चतुर्थं प्राप्नुवन्ति च॥ 129

नीच, दुष्टता युक्त असत्य भाषण बोलने वाले साधु के पास उसके भाषण मिले हुए जो मुनि तिष्ठते हैं वे भी असत्य भाषण दोष का चतुर्थांश दण्ड प्राप्त करते हैं।

गुणाधिक मुनि के प्रति व्यवहार

अब्युद्धाणं ग्रहणं उवासणं पोसणं च सकारं।

अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि॥ 262 प्र.सा.

(इ) इस ग्रंथ में (इ) निष्ठय करके (गुणिगाण) अपने से अधिक गुणतालों के लिए (अब्युद्धाण) उनको आते देखकर उठ खड़ा होना (बहण) उनको आदर सहित निकार करना (उवासण) उनकी सेवा करना (पोसण) उनकी रक्षा करना (सकार) उनका आदर करना (वअंजलिकरणं पणमं) तथा हृष्य जोड़ना और नम्रकर करना (भणिदमिह) कहा गया है। खड़े होकर सामने जाना सो अभ्युथान है, उनको सत्कार के लिए स्वीकार करना बैठा कर आसन देना सो ग्रहण है, शुद्धात्मा की भावना से उनकी करणों के निर्मित उनकी वैयावृत्या करना सो सेवा है, उनके - शोजन, जाग आदि की चिन्ता रखनी सो पोषण है, उनके व्यवहार और निष्ठया रत्नत्रय के लिए विशेष योग्यता की महिमा करनी सो सत्कार है, तथा हृष्य जोड़कर नम्रकर करना सो अंजली करण है, नमोऽस्तु ऐसा वरन कहकर दंडवत करना प्रणाम है। गुणों से अधिक लोगों की इस तरह विनय करना योग्य है।

समीक्षा-कुण्ठकुण्ठ देव ने कहा है कि 'विण्या मोक्षद्वारां' अर्थात् विनय के लिये द्वार स्वरूप है। जैसे गृह के अंदर प्रवेश के लिए द्वार की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मोक्ष लंगी गृह में प्रवेश करने के लिए विनय लंगी द्वार की

आतश्यकता पड़ती है। यह विनय गुण एवं गुणों से युक्त गुणी के लिए किया जाता है। विनय समान्य होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार से होती है। इस सूत्र में संक्षिप्त से विनय का वर्णन किया गया है परन्तु इसका विशेष वर्णन शास्त्रान्तर से नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं-

काइयवाइयमाणसिओं ति अतिविहोदुपंचमो विणओ।

सो पुण सत्वो दुविहो पच्चवक्खो तह परोक्खो य॥ 372

कारिक, वाचिक, और मानसिक इस प्रकार पाँचवा औपचारिक विनय तीन भेद रूप है। पुनः वह तीन भेद रूप विनय प्रत्यक्षा व परोक्षा की अपेक्षा से दो प्रकार का है।

अभुद्वाणं किटिअम्मं णवणं अंजलीय मुंडाणं।

पच्चुगच्छणमेतो पछिदस्सणुसाहणं वेव॥ 373

केशलोंब से मुण्डित हुए अतः जो मुण्डित कहलाते हैं ऐसे मुनियों के लिए उठकर खडे होना, भक्ति पूर्वक वन्दना करना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना, आगे हुए के सामने जाना और प्रस्थान करते हुए के पीछे-पीछे चलना।

णीं ठाणं णीं गमणं णीं च आसणं सराणं।

आसणदाणं उवगरणदाणं ओगासदाणं च॥ 374

गुरुओं के नीचे खडे होना, नीचे अर्थात् पीछे चलना, नीचे बैठना, नीचे स्थान में सोना, गुरु को आसन देना, उपकरण देना, और ठहरने के लिए स्थान देना यह सब कारिक विनय है।

पडिल्लवकायसंफासणदा य पडिल्लवकाल किरिया य।

पेसण करणं सथणकरणं उवकरण पडिलिहणं॥ 375

गुरु के अनुरूप उनके अंग का मर्दनादि करना, उनके अनुरूप और काल के अनुरूप क्रिया करना, आदेश पालन करना, उनके संस्तर लगाना तथा उपकरणों का प्रतिलेखन करना।

इत्वेवमादिओं जो उवयारो कीरदे सरीरेण।

ऐसो काइयविणओ जहारिहं साहुवग्गस्स॥ 376

साधु वर्ण का इसी प्रकार से और भी जो उपकरण यथारोम्य अपने शरीर के द्वारा किया जाता है वह सब कारिक विनय है।

पूर्यावयं हिभासणं मिदभासणं च मधुरं च।

सुत्ताणुवीचिवयणं अणिद्वुरमक्कक्षसं वयणं॥ 377

पूजा के वर्ण, हितवर्ण, मितवर्ण और मधुर वर्ण, सूत्रों के अनुकूल वर्ण, अनिष्टुर और कर्कशता रहित वर्ण बोलना वाचिक विनय है।

उवसंतवयाणमगिहत्थवयाणमकिरियमहीलणं च।
ऐसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादवो॥ 378

कवाय रहित वर्ण, गृहस्थी सम्बन्ध से रहित वर्ण, क्रिया रहित और अवहेलना रहित वर्ण वाचिक विनय है जिसे यथारोम्य करना चाहिए।

पापविसोत्तिअपरिणामवज्जनं पियहिदे य परिणामो।

गादवो संछोणेवेसो माणसिओ विणओ॥ 379

पाप विश्रुत के परिणाम का त्याग करना, और प्रिया तथा हित में परिणाम करना संक्षेप से यह मानसिक विनय है।

इस ऐसो पच्चखो विणओ पारोक्खाओवि जं गुरणो।

तिहरमिमिति वटिजजदि आणाणिदेस चरियाए॥ 380

इस प्रकार यह प्रत्यक्षा विनय है तथा जो गुरु के न होने पर भी उनकी आज्ञा, निर्देश और चर्चा में रहता है उसके परोक्षा सम्बन्धी विनय होता है।

अह ओपचारिओ खलुविणओ तिविहा समासदो भणिओ।

सत्त चहुविहं दुविहो बोधत्वो आणुपूच्वीए॥ 381

यह ओपचारिक संक्षेप से कारिक, वाचिक, और मानसिक ऐसा तीन प्रकार कहा गया है। वह क्रम से सात भेद, चार भेद और दो भेद रूप जानना चाहिए। अलभुद्वाणं सण्णादि आसणदाणं अणुप्पदाणं च।

किदियम्मं पडिलवं आसणचाओ य अणुत्वज्ञ॥ 382

गुरुओं को आते हुए देखकर उठकर खडे होना, उन्हें नमस्कार करना, आसन देना, उपकरणादि देना, भक्ति पाठ आदि पढ़कर वन्दना करना, या उनके अनुकूल क्रिया करना, आसन को छोड़ देना और जाते समय उनके पीछे जाना सो सात भेद रूप कारिक विनय है।

हिदमिदपरिमिद भासा अणुवीचीभासणं च बोधत्वं।

अकुसलमणस्स योथो कुसलमणपावन्तओ वेव॥ 383

हितवर्ण, मितवर्ण, परीमित वर्ण और सूत्रानुसार वर्ण, इन्हें वाचिक विनय जानना चाहिए। अषुभ मन को रोकना और शुभमन की प्रवृत्ति करना ये दो गानसिक विनय हैं।

रादिणिए उणरादिणिएसु य अज्जासु वेव गिहिवग्ने।

विणओ जहारिओ सो कायत्वो अप्पमत्तेण॥ 384

एक रात्रि भी अधिक गुरु में दिन व एक रात्रि भी न्यून मुनि में, आर्यिकाओं में और गृहस्थों में अप्रमाती मुनि को यथारोम्य यह विनय करना चाहिए।

विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिकखा पिरतिथ्या सत्वा।

विणओ सिकखाए फलं विणय फलं सत्व कल्लाण॥ 385

विनय से हीन हुए मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा निरर्थक है। विनय शिक्षा का ल है और विनय का फल सर्व कल्याण है।

विणओ मोक्खद्वारं विनयादो संजमो तवो णाणो।

विणएणराहिज्जादि आइरिओ सत्वसंघो य॥ 386

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम तप और ज्ञान होता है। विनय के द्वारा आचार्य और सर्वसंघ आधारित होता है।

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अन्ति सोधि पिज्जंजा।

अज्जवमद्वलाहव भन्ति पल्हादकरणं च॥ 387

विनय से आचार, जीव, कल्प आदि गुणों का उद्योतन होता है तथा आत्मशुद्धि, ब्रह्मन्डता, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और आल्हाद गुण का प्रकटन होता है।

कित्ति मित्ती माणस्स भजणं गुरुजणो य बहुमाणं।

तिथराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा॥ 388 प्. 299

कीर्ति, मैत्री, मान का भंजन गुरुजनों में बहुमान, तीर्थकरों की आज्ञा का लालन और गुणों का अनुग्रहन ये सब विनय के गुण हैं।

आर्यिका, क्षुलकादि योन्य नवद्या भक्ति

नवोपचारविधिना पात्रदानं विधीयते।

जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रं त्रिविधमिष्यते॥ प्. 99

दान विचार नवद्याभक्ति से ही पात्र को दान दिया जाता है। पात्र जघन्य ध्यम और उत्कृष्ट तीन प्रकार है।

नवद्या दीयते दानं पात्रेषु त्रिविधेष्वप्यि।

भवत्या शुभं फलप्राप्तिस्तस्माभक्ति समाचरेत्॥

तीनों प्रकार के पात्रों को नवद्या भक्ति पूर्वक दान दिया जाता है वर्योकि भक्ति ही शुभ फल की प्राप्ति होती है इसलिए भक्ति पूर्वक ही दान देना चाहिए। सर्वेषामेव पात्राणां नवद्याभक्तिरिष्यते।

यथायोन्यं यथापात्रं दानकाले विधिर्मता॥

तीनों प्रकार के समस्त पात्रों की यथायोन्य (पात्र का जितना पढ़ है तदनुकूल) नवद्याभक्ति करनी चाहिए वर्योकि दान समय में नवद्याभक्ति दान की ही विधि मानी।

सर्वेषामेव पात्राणां जिनाचरणसंभृता।

नवोपचारविधिना दानं देयं यथाक्रमं। (1)

यथायोन्यं यथारूपं पात्रं दृष्टवा सुधीमुदा।

दानं देयं महोत्साहे नवद्याभक्तितप्तरः। (2) आ. सुधर्मसागर

श्री जिनेन्द्र भगवन की आज्ञा का पालन करने वाले तीनों प्रकार के पात्रों को यथायोन्य और यथानुरूप दान नवद्याभक्ति से देना चाहिए। जैसा पात्र हो उसी पात्र के पदानुकूल नवद्याभक्ति से दान देना चाहिए।

इसलिए नवद्याभक्ति तीनों प्रकार के पात्र की होती है, परन्तु मुग्नि के लिए पूर्ण नवद्याभक्ति की जाती है और ऐलक, क्षुलक आदि की यथायोन्य नवद्याभक्ति की जाती है। आर्यिका की नवद्याभक्ति पूर्ण रूप से की जाती है। क्षुलिका की यथायोन्य नवद्याभक्ति होती है। अवशेष प्रतिमाधारक व पादिक शावक की यथायोन्य भक्ति की जाती है। दशमी प्रतिमा धारक व पादिक शावक की यथायोन्य भक्ति की जाती है। दशमी प्रतिमा धारक के लिए आह्वान करना 1, उच्चस्थान देना 2, जल से पांव धुलवाना 3, विनय से हृथ जोड़कर 4, मन वरन करा शुद्धि और आहर आठवीं, नवमी, प्रतिमाधारक के लिए निमंत्रणपूर्वक उपरोक्त प्रकार से नवद्या भक्ति करना चाहिए। प्रथम दर्शन प्रतिमा से छह प्रतिमा धारक के लिए निमंत्रण पूर्वक भक्ति की जाती है।

जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्राणां गुणशालिनां।
नवद्या दीयते दानं यथायोन्यं सुभक्तिः॥

सम्यन्दर्शनादि गुणविशिष्ट तीनों प्रकार के पात्रों को यथायोन्य नवद्याभक्ति से दान दिया जाता है। यदि दाता नवद्या भक्ति से दान देवे तो दाता के पुण्य की पूढ़ि होती है।

नवद्या विधिना दानं देयं त्रिविधपात्राय।
विधिमुक्तम्ये देयेऽत्र बहुपुण्यहानिः स्यात्।

इस छन्द में बतलाया है कि नवद्या भक्ति से दान दिया जाता है जो विधि का उल्लंघन करता है उसके पुण्य की हानि होती है।

अथ स प्रियदर्मनगमधेयं परमाणुवतपालनप्रस्तम्।
यति चिह्नधरं सभान्तरस्थ सहसा क्षुलकमागतं दर्शी॥ पु. 160व.प्र.व.

इसके पश्चात् एक दिन की बात है, वह सभा के बीच में बैठा हुआ था इतने उसने अचानक ही वहाँ आये हुए क्षुलक-ज्यारहीं प्रतिमा के धारी उत्कृष्ट शावक दर्शन किये। वे उत्कृष्ट अनुवर्तों के पालक थे। वे दिगम्बर साधुओं की तरह दिष्ट श्रोजन त्याग विहारों से विभूषित थे। उनका नाम प्रियदर्म था।

प्रतिपत्तिभिरर्धपूर्विकाभिः स्वयमुत्थाय तमग्नीत्यगेन्द्रः।

मतयो न खलूवितज्ञातायां मृग्यन्ते महतां परोपदेशम्॥78

वह विद्याधरों का राजा सिंहासन से उठकर खड़ा हो गया, और अर्द्ध आदि पूजा सामग्री लेकर उसने स्वयं उनका सत्कार किया। महाकृष्ण की बुद्धि उपरि वातों की जानकारी के लिए निश्चय ही परोपदेश की प्रतिक्षा नहीं करती।

सीता द्वारा क्षुलक की पूजा

पूर्ण योग से सिद्धार्थ नामक एक प्रसिद्ध शुद्ध हृदय क्षुलक, राजा वर्गजप के घर गया। वह क्षुलक महाविद्याओं के द्वारा इन्हाँ पराक्रमी था कि तीनों संघाओं के घर गया। वह क्षुलक महाविद्याओं के द्वारा इन्हाँ पराक्रमी था कि तीनों संघाओं में प्रतिदिन में पर्वत पर विद्यमान निन्द्रितिमाओं की वन्दना कर क्षणभर में अपने स्थान पर आ जाता था। वह प्रशान्त मुख था, धीर तीर था, केशलुंघ करने से उसका मस्तक कुशोभित था, वह अणुव्रती था, नाना गुण रूपी अलंकारों से अलंकृत था, जिनशासन के रहस्य को जानने वाला था, कलाखणी समुद्र का पारगमी था, धारण किये हुए सफेद चत्तल वस्त्र से ऐसा जान पड़ता था, मानो मृणालों के समूह में वैष्णित मन्द-मन्द चलने वाला गजराज ही हो जो पीछी को प्रिय सर्वी के समान बगल में धारणकर अमृत के स्वाद के समान मनोहर "धर्म वृद्धि" का उच्चार कर रहा था और घर-घर में शिक्षा लेता हुआ धीर-धीर चल रहा था, इस तरह भ्रमण करता हुआ संयोग वश उस उत्तम घर में पहुँचा, जहाँ सीता बैठी थी। (पद्म पु. शा. ८ पु. 230 शुलोकार्थ 32 से 39)

उपगत्य समाधाय करवारि रहद्वयम्।

इच्छाकारादिना सम्यक् सम्पूर्ज्य विधिकोविदा॥ 40

विशिष्टेनाननपानेन समतर्पयदादरात्।

जिनेद्रशासनाऽसत्कान् सा हि पृथ्यति बान्धवान्॥141 पद्मपुराण

जिनशासन देवी के समान मनोहर भावना को धारण करने वाली सीता ने जहाँ ही क्षुलक को देखा, त्यों ही वह संश्वेत के साथ नौ खण्ड महल से उत्तरकर जहाँ आ गई तथा पास जाकर और दोनों हाथ जोड़कर उसने इच्छाकार आदि के द्वारा उसकी अच्छी तरह पूजा की। तदनन्तर विधि के जानने में निपुण सीता ने उसे आदि पूर्वक विशिष्ट अन्नपान देकर संतुष्ट किया, सो ठीक ही है वयोंकि वह जिनशासन में आसक्त जनों को अपना बन्धु समझती थी।

आएसं एज्जतं सहसा दद्वृण संजदा सत्वे।

वच्छल्लाणासंगृह पणमण्डेदुं समुद्धतिः॥1160 मूलावार

प्रयास से आते हुए मुनि को देखकर सभी साधु वात्सल्य, जिन आशा, उर्ध्व संब्रह और उसे प्रणाम करने के लिए तत्काल ही उठकर खड़े हो जाते हैं यह कठीन

आवार्यादि सर्व श्रमण के लिए है।

विगौरवादिदोषेण सपिच्छांजुलिशालिना॥

सदज्जस्यौर्याऽवार्येण कर्त्तव्यं प्रतिवंदनं॥162 आवारसार

जब मुनिराज आवार्य को वन्दना करते हैं तब सज्जन कमल वन दिवाकर आवार्य, ऋद्धिगौरत, रसगौरत, ज्ञानगौरत से रहित होकर हाथ में पिच्छी लेकर नमोऽस्तु कहकर प्रतिवन्दना करे।

7) और भी कुछ कमियाँ(आ. विद्यासागर जी संघ की-

(1) उनके साथ, क्षुलक, ऐलक आदि एकल विहारी हैं परन्तु अगमानुसार कम से कम तीन समान लिंगी, साथु (मुनि) रहना चाहिए। (2) आर्यिका ऋतुस्नान के समय में पिच्छी धारण नहीं करती है। और विना पिच्छी आहार-विहार-निहार आदि करती है विना पिच्छी 7 कदम से आगे जाने पर प्रायशिवत लेना पड़ता है। बिना 3 मूलगुण पालन नहीं होता है। (3) आर्यिकाओं की पूजा नहीं होती है। (4) गैस से बाना हुआ श्रोजन ब्रह्मण करते हैं। (5) अन्य संघस्थ साधु आदि से वात्सल्या भ्रातु से नहीं मिलते हैं, सेवादि नहीं करते हैं। (6) अपने प्रवासग्राम आदि में तथा पंचकल्याण, विषमता फैलाते हैं। (7) अपने वर्तस्व को फैलाने के लिए एवं उसको कराम करने के लिए हर प्रकार के प्रयास प्रत्यक्षा-परोक्षा रूप से करते हैं। (8) अन्य संघस्थ साधु, आर्यिका आदि को अपने संघ में वात्सल्याभाव से स्वीकार नहीं करते हैं, नहीं अद्यायन-अद्यापन नहीं करते हैं। (9) मिश्यात्व को आस्रव, बंध में अकिंचित्कर (कुछ भी नहीं करने वाला) मानना, जब कि वस्तुतः मिश्यात्व आस्रव, बंध (संसार) के मूल कारण है। विशेष जिज्ञासु मेरी 'संसार मूल हेदु मिच्छतं' का अद्यायन करें। (10) आ शान्तिसागर जी पंचामृत अभिषेक देखते थे, उस का गंधोदक लेते थे, और दीप देखते थे, जिनशासन यक्षादि का विशेष नहीं करते थे, आहार की मुद्रा नहीं लेते थे, अन्य पंथ साधुओं-श्रावकों का विशेष नहीं करते थे, प्राचीन मन्दिर मूर्ति, प्रशस्ति, शिलालेख के साथ-साथ समाज को तोड़ते नहीं थे।

प्रश्न-1) वन्दना के परिवर्तन में आचार्य अन्य साधु या शिष्यों को प्रति नमोऽस्तु करते हैं कि आशीर्वाद देते हैं ?

उत्तर:- आचार्य अन्य साधु शिष्यों की वन्दना के परिवर्तन में प्रतिनमोऽस्तु करते हैं। आशीर्वाद देने का विद्यान कोई भी प्राचीन वरणानुयोग के शास्त्रों में नहीं है। विशेष जिज्ञासु मेरी 'श्रमण संघ संहिता' का अवलोकन करें। यहाँ प्राचीन शास्त्र अधार पर किंचित् वर्णन कर रहा हूँ। यथा-

सुखोनासीनमत्यगं सूरि वंदेत् सम्मुखम्।
वंदेऽहमिति विज्ञाप्य हस्तामात्रांतरस्थितः॥160 प. 79

प्रमूज्य कर्तरी स्पर्शात्माष्टांगन्यवनीमपी।
पाश्वर्द्धश्चयाद्यनम्य ऋषिच्छांजुलिभालक॥161

विगौरवादि दोषेण सपिच्छांजुलि शालिना।
सदष्जसूयोऽचार्येण कर्तव्य प्रतिवंदना ॥162 आ. वीरनंद

अनाकुल होकर सुख पूर्वक बैठे हुए आवार्य के समुख एक हाथ दूर गवासन से बैठकर, पिछी सहित अंजुलि को मस्तक पर रखकर पूर्व में आवार्य को सूचित करें कि गुरुदेव मैं वंदना करता हूँ। तदन्तर गुरु आज्ञा होने पर अपने आठों अंगों को र्पश्च करें, भूमि आदि की पिछी से परिमार्जन करें तथा पिछी सहित अंजुलि मस्तक पर खकर गवासनों से अंगों को झुकाकर भक्ति पूर्वक आवार्य को नमोऽस्तु करें। जब मुनिराज आवार्य को वंदना करते हैं तब सज्जन कमल वन दिवाकर आवार्य क्रिद्धि गौरव, रसगौरव एवं सातगौरव रहित होकर हाथ में पिछी लेकर नमोऽस्तु कह कर प्रतिवंदना करें।

हृथन्तरेणबाधे संफास पमज्जणं पउज्जंतो।
जायेंतो वंदणर्य इच्छाकारं कुण्ड शिवखू॥161
तेण च पदित्तिदत्वं गारव रहिणे सुद्धभावेण।
किदियम्मकारकस्सवि संवेग संजणं तेण॥1812 ष.अ.मू.चा.

अर्थात् एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर शरीर आदि के अन्तर से स्थित होकर भूमि शरीर आदि र्पश्च एवं परिमार्जन करता हुआ मुनि वंदना की याचना/ प्रश्न करके वंदना करता है। तत्पर्यार्थ साधु, देव, गुरु की वंदना करते समय "हस्तान्तरेण" एक हाथ की दूरी कम से कम होनी चाहिए। तत्पश्चात् पिछिका से अपने शरीर एवं भूमि का परिमार्जन करके पुनः प्रार्थना करे कि हे भगवन्! मैं आपकी वंदना करङ्गा। गुरु की स्वीकृति पाकर भय, आसादन आदि दोषों का परिहार करते हुए रिश्वर वित्त से विनाय पूर्वक उनकी वंदना करें और कृतिकर्म-वंदना करने वाले को र्षष्ट उत्पन्न करते हुए वे गुरु गर्व रहित शुद्ध भाव से वंदना स्वीकार करें। अर्थात् प्रतिवंदना करते हैं। इस गाथा की टीका में "तेण तेनावर्येण (आ. वसुनन्दी ने) तेण शब्द का अर्थ आवार्य किया है।

आवार्य आदि के लिए वंदना करने का क्रम
गणाधीशनमेद्दीमान् गुरु भवत्या समाहितः।
वंदनां प्रति वैद्यात्व वंदनां दीक्षितेष्वपि॥166॥ नीतिसार स.
मुनिराज को गुरु भक्ति सहित संघ के संघालक आवार्य को नमस्कार करना।

चाहिये और दीक्षा धारक साधर्मी मुनियों की भी वंदना प्रतिवंदना करनी चाहिये। इतर सामान्य साधर्मी सामान्य मुनि की परम्परानुसार नमोऽस्तु प्रतिनगोऽस्तु करना चाहिये।

सर्वत्रापि क्रियारम्भे वन्दनाप्रतिवंदने।

गुरुशिष्यस्य साधुनां तथा मार्गादिदर्शने॥ ३.धर्मा.अ.४ श्लोक 55
सभी नित्य या नैमित्तिक क्रिया करते समय शिष्य को गुरु से वंदना करनी

चाहिये और गुरु आवार्यों को भी उसके बदले में शिष्य से वंदना करनी चाहिए। इसके सिवाय शेष मुनियों को भी गत्तादि में दर्शन हो जाने पर परस्पर में यथारोप्य वंदना करनी चाहिये तथा मार्ग शब्द के साथ आदि शब्द से मलोत्सर्ग के अनन्तर या कार्योत्सर्ग के अनन्तर भी दर्शन हो जाने पर एक दूसरे को परस्तर वंदना करते हैं ते आगम तथा साधुओं की अवहेलना करते हैं, अहंकारी हैं, वात्सल्य भाव से रहित हैं।

प्र७न-२) आहार-चर्या के समय आहार मुद्रा (दायें हाथ को दायें कन्धे में अंगुलियों को मिलाकर लगाना) लेना क्या अनिवार्य है?

उत्तरः-मूलाचार, भगवती आराधनादि मुनि आवारण संबंधी प्राचीन ग्रंथों में इसका वर्णन नहीं पाया जाता है। मुद्रा लेने पर एक ही वाम हस्त में पिछी, कमण्डल पूर्णत - नहीं हो पायेनी क्योंकि यस्ते में छाया से धूप में प्रवेश करते समय तथा एक प्रकार की भूमि से अन्य प्रकार की भूमि में प्रवेश करते समय, पिछी से पूर्ण स्व-शरीर का परिमार्जन करना चाहिये। यदि एक हाथ में पिछी, कमण्डल दोनों हैं तो परिमार्जन सम्यक् रूप से नहीं हो सकता। भगवती आराधना में ईर्यापथ समिति अर्थात् दोनों भुजाएँ लटकाकर गमन करते हैं। इस ही गाथा की टीका में विरुद्ध योगि संक्रमणजातं बाधा व्युदायायकृतासकृत्प्रतिलेखनं अर्थात् विरुद्ध योगि वाले (ज्यों या धूप या एक वर्ण की भूमि से अन्य वर्ण की भूमि विरुद्ध योगि कहते हैं। यद्योऽपि इसमें विरुद्ध योगि वाले जीव होते हैं) जीवों के मध्य से जाने पर उनको होने वाली बाधा को दूर करने के लिए पिछी से अपने शरीर को बार-बार प्रति लेखना करते हुए गमन करते हैं।

शुद्धिभिक्षौषणाकृतः प्रलभितमहाभुजाः।

अर्हदत्तगृहं प्राप्ता ग्राम्यन्तस्ते यथाविधिः॥161॥ पञ्च पुण प. 92
जो शुद्ध भिक्षा ग्रहण करने के अभियास से युक्त थे और जिनकी लम्बी-लम्बी

मुजाएँ नीचे की ओर लटक रही थी, ऐसे वे (सप्त ऋषि) विधि पूर्वक भ्रमण करते हुए अर्हददत्त सेठ के घर पहुँचे।

संश्वतः अर्वाचीन काल में शावकों को पता चले कि साधु आहर के लिए आ रहे हैं इस उद्देश्य से इस आहर मुद्रा का प्रचलन हो।

प्रश्न-3) वया आहर चर्या में आर्थिकाओं की नवधा-भक्ति की जाती है? अष्ट द्रव्य से पूजा की जाती है?

उत्तर:-आर्थिका उपचार से महाकृती(मुनिव्रत की धारी) है। आर्थिका दीक्षा में मुनि व्रतों के ही संरक्षकर किये जाते हैं। उनमें 28 मूलगुणों का आरोपण किया जाता है। अश्वव्यानुष्ठान के कारण आर्थिकारों साड़ी धारण करती हैं बैठकर शोजन करती हैं। परन्तु अधिकांशतः मुनिवर्या का ही पालन करती हैं। मूलाचार में भी कहा है- आर्थिकाओं के आचरण साधु के समान-” यदि यतीनाम्य न्याय आर्थिकाणां क इत्यत आहा।”

यदि मुनियों के लिए ऐसा न्याय है तो आर्थिकाओं के लिए वया आदेश? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं।

ऐसो अज्जणांपिति समाचारो जहविख्यां पृथ्वं।

सत्वहिम अहोस्ते विभासिदत्वो जधाजोग्नं॥११८७॥

ऐसा- एसः। अज्जाणांपिति- आर्याणामपि च। समाचारी समाचारः जहविख्यां यथाख्यातो यथा प्रतिपादितः। पृथ्वं पूर्वस्मिन् सत्वमिग्नि सर्वास्मिन्। अहोस्तो- रात्रौ दिवसो च । विभासिदत्वो- विभाषियितत्वः प्रकटयितत्वो विभावयितत्वो वा। जहाजोग्नं- यथायोग्नं आत्मानुरूपो वृक्ष मूलादि रहितः। सर्वस्मिन्नहोरात्रे एवोपि समाचारो यथायोग्यमार्थिकाणा आर्थिकाभिर्वा प्रकटयितत्वो विभावयितत्वो वा यथाख्यातिः पूर्वस्मिन्निति।

पूर्व में जैसा कहा गया है वैसा ही यह समाचार आर्थिकाओं को भी सम्पूर्ण अहोरात्र में यथायोग्य करना चाहिये। पूर्व में जैसा समाचार प्रतिपादित किया है आर्थिकाओं को भी सम्पूर्ण काल रुप दिन और रात्रि में यथायोग्य अपने अनुस्तुति वृक्षमूल, आतापन आदि योगों से रहित वही सम्पूर्ण समाचार विधि आवश्यक रूप से चाहिए।

इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिकाओं के लिए वे ही अहार मूलगुण और वे ही प्रत्याख्यान, संरक्षण आदि तथा वे ही औधिक पदविभागिता समाचार माने जाये हैं जो कि यहाँ तक चार अध्यायों में मुनियों के लिए वर्णित हैं। मात्र यथायोग्य पद से टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें वृक्षमूल, आतापन अभ्यावकाश और प्रतिमायोग आदि उत्तर योगों के करने का अधिकार नहीं है। और यही

कारण है कि आर्थिकाओं के लिए पृथक् दीक्षाविधि या पृथक् विधि-विद्यान का ग्रन्थ नहीं है।

इसी ग्रन्थ में आर्थिकाओं की विधि निषेधात्मक सम्पूर्ण क्रियाओं में यह वर्णन नहीं किया गया है कि आहरवर्या में उनकी नवधा भक्ति पूजादि नहीं होनी चाहिए। परन्तु यह कहा भी है कि वृक्षमूलादि कुछ विशेष क्रियाओं को छोड़कर और सम्पूर्ण क्रिया मुनिव्रत ही है। इतना ही नहीं, श्री रत्नेषणवार्य रघुत पञ्चपुराण में, जिनसेनावार्य प्रणीत हरितंश पुराणादि में विधि परक में वर्णन है कि आर्थिकाओं की पूजा होती है। यथा-

वरधर्मोऽपिसर्वेण संघने सहितापरम्॥

यद्यवेण ससीतेन नीता तुष्टेन पूजनम्। सर्व ३७. ७लोक १३८

उपर्युक्त श्लोक से सिद्ध होता है कि सीता सहित रामचन्द्र जी ने परम भक्ति, तुष्टि से युक्त होकर वरधर्मा आर्थिका की पूजा की।

शास्त्राज्ञा है कि नवधा भक्ति विना संयमी (मुनि, आर्थिका) आहर न करें। तब ऐसी परिस्थिति में आर्थिका नवधा भक्ति पूजा बिना आहर कैसे करें?

प्रश्न-4) वया साधु मिटी के बर्तन में बना हुआ शोजन या पानी ले सकते हैं?

उत्तर:-जैनागम एवं आयुर्वेद की दृष्टि से भी साधु मिटी के बर्तन का शोजन पानी ले सकते हैं। मुनियों के आचार सम्बन्धी प्रामाणिक एवं प्राचीन शास्त्र 'मूलाचार' के पंचाचाराधिकारः में वृत्ति परिसंख्यान प्रकरण में कहा है-

गोयरयमाण दाराणभायण णाणाविहाणं जंग गण्णं।

तह एसणस्स गण्णं विविह्स्स य वृत्तिपरिसंख्या॥३५५॥ शा. १

बृहों का प्रमाण, दाता, बर्तनों का नियम ऐसे अनेक प्रकार का जो नियम ग्रहण करना है तथा नाना प्रकार के शोजन का नियम ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान प्रत है। इसकी आवार्य तसुनन्दी कृत संरक्षृत टीका में कहा है कि-

कांस्य भाजनेन, रुप्यभाजन, सुवर्णभाजनेन, मृद्युभाजनेन वा ददाति तदा गृहीत्यामीति यदेवमाद्यं।

'मुझे आज यदि कोई कांसे के बर्तन से सोने के बर्तन से या मिट्टी के बर्तन से आहर देगा तो ले लूँगा।'

'पत्तसर्य' एवं भूतेन भाजनेनैवानीत गृहामि सौवर्णेन कं सपात्र्या रजतेन मृद्युमर्येन वा।

'पत्तसर्य'- इस प्रकार सोने, चौंटी, कांसी या मिटी के पात्र से ही लाया गया शोजन ग्रहण करेंगा।

रतिषेणावार्य विरचित पञ्चपुराण में वर्णन है कि जब राम, लक्ष्मण, सीता उनवास के समय जंगल में थे तब वहाँ लक्ष्मण मिट्ठी के बर्तन बनाते हैं उस बर्तन में सीता विशिष्ट शोजन बनाती और राम सीता उस जंगल में सुगृप्ति और गुप्ति नाम द्वे मुनिश्वरों को आहर देते हैं। आहर दान के फलस्वरूप वहाँ पञ्चाश्वरी भी हुए थे। यथा-

तत्र आण्डोपकरण सकलं केकरीसुतः।

मृदावशैः पलाशैश्च विविधैराशु निमित्तः। २ प. पु. २. ४१ पर्व

अशीषु स्वादद्वारुणि फलानि सुरभीनि च।

तनजनि त सस्यानि राजपुत्री समस्करोत्। १२ प. १९९

वहाँ लक्ष्मण ने नाना प्रकार की मिट्ठी, बांस तथा पत्तों से सब प्रकार के बर्तन तथा उपयोगी सामान शीघ्र ही बना लिए। इन सब बर्तनों में राजपुत्री सीता ने स्वादिष्ट तथा सुन्दर फल और वन की सुगन्धित धान के शोजन बनाये।

तदनंतर युग प्रमाण पृथ्वी में जिनकी दृष्टि पड़ रही थी, जिनका गमन अत्यन्त शांतिपूर्ण था और जिनके शरीर प्रमाण से रहित थे, ऐसे दो मुनियों को देखकर दम्पत्ति अर्थात् राम-सीता का उठकर खड़े होना, सन्मुख जाना, स्तुति करना नमस्कर करना आदि क्रियाओं से उन दोनों मुनियों को पुण्य रूपी निर्झर के झरने के लिए पर्वत समान किया था। जिनका शरीर पवित्र था, तथा जो अतिशय श्रद्धा से युक्त थी ऐसी सीता ने पति के साथ मिलकर दोनों मुनियों के लिए शोजन परोसा-आहर दान प्रदान किया। वह आहर वन में उत्पन्न हुई गारों और ब्रैंसों के ताजे और मनोहर धी, दूध तथा उनसे निर्मित अन्य माता आदि पदार्थों से बना था। खजूर, इंगुठ, आम, नारियल, रसदार बेर, तथा भिलावा आदि फलों से निर्मित था। इस प्रकार शारोत्त शुद्धि से सहित नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों से उन मुनियों ने पारणा किया। उन मुनियों के वित्त शोजन विषयक गृद्धता के संबंध से रहित थे। इस प्रकार समस्त भावों से मुनियों का सम्मान करने वाले राम इन दोनों मुनियों की सेवा कर सीता के साथ बैठे ही थे कि उसी समय आकाश में अदृश्य जनों से ताडित दुन्दुभि बाजे बनजे लगे, ग्राण इन्द्रिय को प्रसन्न करने वाली वायु धौरि-धौरि बहने लगी, धन्या, धन्या इस प्रकार देवों के मधुर शब्द होने लगा, आकाश पाँच वर्ण के फूल बरसाने लगा और पात्र दान के प्रभाव से आकाश को व्याप्त करने वाली, महाकनित की धारक, सब रंगों की दिल्लि रत्न वृष्टि होने लगी।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि मुनि मिट्ठी के बर्तनों में बने हुए एवं रखे हुए शोजन ले सकते हैं। आयुर्वेद एवं विज्ञान के अनुसार भी मिट्ठी के बर्तन स्वास्थ्यप्रद एवं उपयुक्त हैं। गरम किये हुए जल को यदि मिट्ठी के बर्तन में रखा

जाता है तो वह जल अत्यन्त शीतल, दाढ़, प्यास, पित्त को दूर करने वाला होता है। विशेष जिज्ञासु मेरे "धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान भाग I और II" एवं "आदर्श विद्यार विहार आहर" का अध्ययन करें।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस मिट्ठी के बर्तनों में भात, शाकादि बनाये जाते हैं वे बर्तन दूसरे बार प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। वर्तोंकि बर्तन में अत्यन्त छोटे-छोटे छिद्र होने से उसमें पकाये हुए शोजन के कण रहने की संभावना रहती है। परन्तु जिस बर्तन में शोजन नहीं पकाया जाता है और दूर्घात नहीं किया जाता है उसको स्वच्छता से धोकर एवं सूखाकार बार-बार प्रयोग में ला सकते हैं। गरम पानी जिस मिट्ठी के बर्तन में रखा जाता है, उस बर्तन को पानी की मर्यादा के पहले उससे पानी पूरा निकालकर उसे पूर्ण सुखाकर पुनः उसमें पानी रख सकते हैं।

अन्य धारु आदि के बर्तन में रखा हुआ तेल, धी आदि अधिक दिन सही नहीं रहता है परन्तु मिट्ठी के बर्तन में रखने से अधिक दिन तक सही रहता है। इतना ही नहीं, मिट्ठी के बर्तन में पका हुआ एवं रखा हुआ शोजन अधिक पोषिटिक, स्वास्थ्यप्रद, सुखादु, सुगन्धित होता है। अनेक मांगलिक, शुभकार्य, जैसे- शोभायात्रा, पंचकल्याणक, विवाहादि में मिट्ठी के कलश, सकोरा, दीपक, पात्रादि का भी प्रयोग किया जाता है।

प्रश्न-5) क्या जैन साधुओं को महाराज एवं आर्यिकाओं को माताजी विशेषण से सम्बोधित करना चाहिए?

उत्तर:-प्राचीन आगम में जैन साधुओं को श्रमण विरत, आर्य, अनगार, यति, मुनि, ऋषि तपस्वी, परमेष्ठी, दिग्मुखर, गुरुदेव, निर्बन्ध आदि विशेषणों से सम्बोधित किया जाता था तथा आर्यिकाओं के लिए आर्या, साध्वी, विरती, आर्यिका आदि शब्द से सम्बोधित किया जाता था। अवर्तीन काल में महाराज एवं माता जी महाराज बोलते हैं। माताजी शब्द स्त्री वाक सम्बोधन है। अतः स्वस्थ, सुन्दर, शालिन, आगमोत्त सम्बोधनसे सम्बोधन करना योग्य है। साधुओं के लिए गुरुदेव, अगवन्, अगवन्त, मुनि श्री, उपाध्याय श्री, आचार्य श्री तथा आर्यिकाओं के लिए आर्यिका श्री साध्वी श्री आदि से भी सम्बोधित कर सकते हैं।

प्रश्न-6) क्या दीक्षा के समय पूर्व नाम परिवर्तित करना अनिवार्य है?

उत्तर:-प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि दीक्षा के समय में नाम परिवर्तन अनिवार्य नहीं था। जैसे- तीर्थकर, गणधर, वक्तव्य, बलदेव आदि के

हृष्ट के नाम ही मुनि अवस्था में भी प्रयोग में आते थे। यहाँ तक कि सामान्य राजा, ठंड, मंत्री, रानी, श्रावकादि के नाम में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अभी भी वेताम्बर जैन तेरथांशी में प्रायः नाम में परिवर्तन नहीं होता है। संभवतः आधुनिक समय में पूर्व गृहस्थावस्था के नाम में मोह नहीं हो और नाम भी अच्छे हो इस दृष्टि परिवर्तन किया जा सकता है।

प्रश्न-7) साधु के नाम के आगे 'सागर' एवं 'आर्दिका' के नाम के आगे 'मति' विशेषण क्यों लगाया जाता है ?

उत्तर:- यह कोई अनिवार्य विधान नहीं है। प्राचीन तीर्थकर आदि मुनि के नाम के आगे न 'सागर' लगता था न आर्दिकाओं के नाम के आगे 'मती' लगता था। डॉ, जब कलिकाल के प्रभाव से आचार्य अर्हद बली के समय में संघ भेद या संघ संगठन हुआ तब से नाम के बाद सिंह, नन्दी, सेन, देव आदि विशेषण-लगने लगे होंगे। यथा-(आ, जटासिंह वरांगतासिंह के कर्ता) देवनंदी (सर्वार्थसिंह), डल्लोपदेश, समाधितंत्र के कर्ता) पञ्चनन्दी (आ, कुन्दकुन्द) अभ्रानंदी, वीरनंदी, डन्दनंदी, कनकनन्दी (आ, नेमीचन्द्र ने गोमटसार में इन्हें गुरु रूप में स्मरण किया है) कनकनन्दी (आगे निमित्तपुराण के कर्ता) वीरसेन (कलिकाल सर्वज्ञ, महाप्राज्ञ, धरता-जयधरता के यशस्वी टीकाकार) देवसेन (भावसंब्रह के कर्ता) सोमदेव (उपासकाध्यायन के कर्ता) प्रभातंद, नेमिचन्द्र आदि। उपर्युक्त विषय शास्त्रालोक में निम्न प्रकार से दर्शनीय है -

अर्हद बलि द्वारा संघ संघठन

तदैव यति राजोऽपि, सर्व नैमित्तिकाग्रणीः।

अर्हद्बली गुरुश्वके, संघसंघटन परम्॥16 नीति सा. पृ. 5

उस समय में सभी निमित्त ज्ञानियों में अग्रणी अर्हद बली गुरुदेव ने सभी मुनियों के अतिशराकारी संघ भेद अर्थात् प्रत्येक मुनिजन के समूहों (संघों का) निर्माण किया।

उन के द्वारा किये गये संघों के नाम (मूल संघ)

सिंहसंघो नन्दिसंघस्सेनसंघो महाप्रभा॥1

देवसंघ इति स्पष्टं, स्थानस्थिति विशेषतः॥12

गण गच्छादयस्तेभ्यो, जाता: स्वपर सौख्यदा।

न तत्भेदःकोऽप्यस्ति, प्रवृज्यादिषु कर्मसु॥13

स्थान और स्थिति यानि परिस्थिति विशेष से महा तेजस्वी सिंहसंघ, नन्दिसंघ, सेनसंघ और देवसंघ नामक मुनियों के चार संघ उत्पन्न हुए। उसके बाद उस संघ के लिए स्पष्टता से उत्तम सौख्य को देने वाले गण, गच्छादि भेद किये गए।

जन संघों में मुनि दीक्षादि क्रियाओं में कोई भी अन्तर नहीं है। तात्पर्य यह है कि मूलसंघ के समान ही दीक्षा विधि, व्रत पालन, इत्यादि क्रियायें हैं।

कुछ पूर्वाचार्यों के नाम (मूलसंघ)

श्री भद्रबाहुः श्रीचन्द्रो जिनचन्द्रो महायतिः।

गृद्धपिच्छ गुरुः श्रीमाल्लोहाचार्यो जितेन्द्रयः॥167

एलाचार्य पूज्यपादः सिंहनन्दी महाकविः।

जिनसेनो वीरसेनो गुणनन्दी महातपाः॥168

समन्तश्वद् श्रीकुम्भ शिवकोटिशिवंडकरः।

शिवायनो विष्णुसेनो गुणोभद्र गुणाधिकः॥169

अकलंको महाप्राज्ञः सोमदेवो विदांवरः।

प्रभावन्द्रो नेमिचन्द्रः इत्याद्यमुनिः सत्तम॥170

यच्छास्त्रं रवितं बूनं तदैवादेयमन्यकैः।

विसंघैरवितं नैव प्रमाणं साधवपि स्फुटम्॥171

श्री भद्रबाहु, श्री वन्द्र महायति जिनचन्द्र, गृद्धपिच्छ, जितेन्द्रय लोहाचार्य, ऐलाचार्य, पूज्यपाद, सिंहनन्दी, महाकवि जिनसेन, वीरसेन, महातपरस्वी गुणनन्दी, समन्तश्वद्, श्री कुम्भ, कल्याणकारी शिवकोटि मुनि, शिवायन, विष्णुसेन, गुणभद्र महाशानी, अकलंक स्वामी, विद्वानों में श्रेष्ठ सोमदेव सूरि, प्रभावन्द्र, नेमिचन्द्र आदि महा मुनियों द्वारा रवित शास्त्र उपादेय (मान्य) यानि ग्राह्य (स्वाध्याय योग्य) हैं विसंघ के मुनियों द्वारा रवित शास्त्र प्रमाण नहीं हैं।

प्रश्न-8) वर्तमान में पाई जाने वाली अरिहंत, सिद्ध प्रतिमा क्या आगमोक्त है?

उत्तर:- हाँ कुछ अरिहंत एवं सिद्ध की प्रतिमा तो आगमोक्त नहीं है। जो अरिहंत प्रतिमायें सर्वाग अवयवों से युक्त, सुन्दर एवं अष्ट प्रातिहार्य से युक्त हैं वह आगमोक्त हैं तथा जो सिद्ध प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्य से रहित, समस्त अंग-उपांगों से रहित एवं अत्यन्त सुन्दर हैं वह आगमोक्त है। परन्तु जो अरिहंत प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्य एवं सर्व अवयव से युक्त नहीं है या सुन्दर नहीं है, वह आगमोक्त नहीं है। इस प्रकार जो सिद्ध प्रतिमा सम्पूर्ण अंग-उपांगों से सहित नहीं है, सुन्दर नहीं है वह श्री आगमोक्त नहीं है। वर्तमान में धातु की चट्ठ को काटकर खोखला रूप में जो सिद्ध की प्रतिमा बनाते हैं पूर्ण आगम विरुद्ध एवं अमंगल, अशुभ सूचक है। आगम में-प्रतिष्ठा ग्रंथों में प्रतिमा के अवयव हीन विकृत होने का भी फल अशुभ ग्रंथ-जन छानि कारक कहा है जो कि प्रायोगिक प्रत्यक्ष रूप से भी सत्य तथा पूर्ण है। तब सम्पूर्ण अवयवों से हीन या खोखली सिद्ध की प्रतिमा किस प्रकार आगमोक्त

हो सकती है? पूजनीय हो सकती है? शुभ हो सकती है? ऐसी मूर्ति तो प्रतिष्ठातार्थ, यजमान, समाज, ग्रामादि के लिए अमंगलकारी बनेगी। समाज में कलह, फूट पड़ेगी।

प्रश्न-9) चातुर्मास (वर्षायोग) की स्थापना एवं निष्ठापन किया गया में या दिन में करनी चाहिए ?

उत्तर:-यह विधि आगम में दिन को करने का वर्णन नहीं पाया जाता है। आगम में रथाक्रम में यत्रि के प्रथम प्रहर एवं अंतिम प्रहर में करने का निर्देश है। यथा-

तत्त्वतुर्दशी पूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुतिः
चतुर्दिक्षु परीत्यालयाशैत्यभक्तिर्गुरु ऋतिम्॥६६

शान्तिभक्ति च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम्।

ऊर्जकृष्ण चतुर्दशीं पश्चाद्राशौच मुच्यताम्॥ ३ धर्मा ३ ९

ऊपर भक्त प्रत्यावर्यान को ग्रहण करने की जो विधि बताई है तदनुसार उसको ग्रहण करने के अनन्तर आवार्य प्रभृति साधुओं का वर्षायोग का प्रतिष्ठापन करना चाहिए और चातुर्मास के अंत में उसका निष्ठापन करना चाहिए। इस प्रतिष्ठापन और निष्ठापन की विधि इस प्रकार है।

चार लघु चैत्याभित्रियों को बोलते हुए और पूर्वाटिक वारों दिशाओं की तरफ प्रदक्षिणा देते हुए आषाढ शुक्ल चतुर्दशी की रथि को पहले ही प्रहर में सिद्ध भक्ति और योगी भक्ति का भी अच्छी तरह पाठ करते हुए और पंचगुरु भक्ति तथा शांति भक्ति को भी बोलकर आवार्य और उत्तर संपूर्ण साधुओं को वर्षायोग का प्रतिष्ठापन करना चाहिए।

पूर्व दिशा की तरफ मुख करके वर्षायोग का प्रतिष्ठापन करने के लिए "यावनित जिन चैत्यानि इत्यादि श्लोक का पाठ करना चाहिए। पुनः आदिनाथ भगवान् और द्वासरे अजितनाथ भगवान् इन दोनों का ही स्वर्यांश्चस्तोत्र बोलकर अंचलिका सहित चैत्य भक्ति करनी चाहिए। यह पूर्व दिशा के तरफ की चैत्य-चैत्यालय की वन्दना है। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की तरफ वन्दना भी क्रम से करनी चाहिए।"

अंतर इतना है कि जिस प्रकार पूर्व दिशा की वन्दना में प्रथम द्वितीय तीर्थकर का स्वर्यांश्चस्तोत्र बोला जाता है। उसी प्रकार दक्षिण दिशा की तरफ तीसरे, चौथे संश्वतनाथ और अभिनन्दननाथ का तथा पश्चिम की तरफ की वन्दना करते समय पाँचवें छठे सुमितनाथ और पञ्चप्रभु भगवान् का उत्तर दिशा की वन्दना करते समय सातवें आठवें सुपाशुरनाथ और चन्द्रप्रभु का स्वर्यांश्चस्तोत्र बोलना चाहिए। और बाकी किया पूर्वदिशा के समान ही समझना चाहिए। यहाँ पर दिशाओं की तरफ प्रदक्षिणा

करने के लिए जो लिखा है उस विषय में वृद्ध सम्प्रदाय ऐसा है कि पूर्व दिशा की तरफ मुख करके और उधर की वन्दना करके वहाँ बैठे-बैठे केवल भाव रूप से ही प्रदक्षिणा करनी चाहिए।

यहाँ वर्षायोग के प्रतिष्ठापन की विधि है यही विधि निष्ठापन में भी करनी चाहिए। अर्थात् कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रथि को अंतिम प्रहर में पूर्वोक्त विधान के अनुसार ही आवार्य और साधुओं को वर्षायोग का निष्ठापन कर देना चाहिए।

इस वर्षायोग की विधि में भी जो विशेषता है उसको श्लोक में बताते हैं-
मांस वासोऽन्यदैकत्र योगशोमं शुचौ व्रजेत्।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लंघयेत्॥६८
नभृत्वतुर्थी तयाने कृष्णं शुक्लोर्जपं वमीम्।
यावनं गत्वानाल्लदे कथंविष्णेदमायरेत्॥ ६९

वर्षायोग के सिवाय दूसरे समय-हेमन्त आदि ऋतु में भी आवार्य आदि श्रमण संघ को किसी भी एक स्थान या नगर आदि में एक महिने तक के लिये निवास करना चाहिए। तथा आषाढ में मुनिसंघ को वर्षायोग स्थान के लिए पहुँच जाना चाहिये। अर्थात् जहाँ चातुर्मास करना है वहाँ आषाढ में पहुँच जाना चाहिये। और मग्नसिर महिना पूर्ण होने पर उस द्वेष को छोड़ देना चाहिए। परन्तु इतना और भी विशेष है कि उस योग स्थान पर जाने के लिए श्रावण कृष्ण चतुर्थी का अतिक्रमण कभी नहीं करना चाहिए।

यदि कोई धर्म कर्त्ता का ऐसा विशेष प्रसंग उपस्थित हो जाय कि जिसमें रक्षाने से योग द्वेष में आषाढ के भीतर पहुँचना न बन सके तो श्रावण कृष्ण चतुर्थी तक पहुँच जाना चाहिए। परन्तु इस तिथि का उल्लंघन किसी प्रयोजन के वशीभूत छोड़कर भी करना उचित नहीं है। इसी प्रकार साधुओं का कार्तिक शुक्ल पंचमी तक योग द्वेष के सिवाय अन्यत्र प्रयोजन रहते हुए भी विछार न करना चाहिए। अर्थात् यों को कार्तिक शुक्ल पंचमी तक उसी स्थान पर रहना चाहिए। यदि कोई कर्त्ता यहाँ पर जो वर्षायोग धारण करने की विधि बातहै है उसमें यदि किसी द्वारा प्रसंग आदि के आ उपस्थित होने से विच्छेद पड़ जाये अर्थात् किसी करण से उसके समय आदि का अतिक्रमण हो जाय तो साधुसंघ को उचित है कि उसके लिये प्रायशिक्त धारण करें।

प्रश्न-10) हरीत्यागव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर:-वस्तुतः "हरीत्याग" नामक कोई व्रत नहीं है। हाँ, सचित - त्याग-

प्रतिमा नामक पंचम गुणस्थानवर्ती, व्रतीशावक की पाँचवीं प्रतिमा है। इस प्रतिमा के पहले और भी चार प्रतिमा का पालन करना होता है। यथा—(1) दर्शन प्रतिमा (सत्य स्वरूप में विश्वास की निष्ठा तथा ज्ञान वैराग्य शक्ति से युक्त) (2) व्रत प्रतिमा (अणुवत तथा सात शील व्रतों का पालन) (3) सामारिक प्रतिमा (साम्य भ्रात की साधना के लिए तीनों संध्या में साधना करना) (4) प्रोष्ठोपवास प्रतिमा (पर्व दिनों में उपवास पूर्वक धर्मराधना करना) इन व्रतों (प्रतिमा) के पालन पूर्वक आध्यात्मिक उन्नति के लिए सवित्ताविरत प्रतिमादि को पालन करता है। सवित्ताविरत प्रतिमा का स्वरूप रत्नकरण्डक श्रावकाचार में निम्न प्रकार से कहा है—

मूलफलशाकशाखाकरीर कन्द प्रसून बीजानि।

नामानि योऽति सोऽयं सवित्ताविरतो दयामूर्तिः ॥ 20 ॥

मूली, गाजर, शकरकन्द, आदि मूल कहलाते हैं, आम, अमरुट फल कहलाते हैं, भाजी को शाक कहते हैं, वृक्ष की नई कोंपल को शाखा कहते हैं, बांस के अंकुर को करीर कहते हैं। जमीन में रहने वाले अंरीठा (स्कन्ध) आदि को कन्द कहते हैं, गोभी आदि के फूल को प्रसून कहते हैं और गेहूं, चना आदि को बीज कहते हैं। ये सब आम अपवत अवस्था में सवित्त सजीव होते हैं। अतः दया का धारक श्रावक इन्हें नहीं खाता है। गेहूं चना आदि बीच हरी अवस्था में तो सवित्त है ही, परन्तु अंकुरोत्पादन की शक्ति की अपेक्षा शुष्क अवस्था में भी सवित्त माने जाते हैं अतः व्रती मनुष्य इन्हें खंडित अवस्था में ही खाता है।

इस श्लोक में जो मूल आदि वनस्पतियाँ गिनाई गई हैं वे उनकी जातियाँ बताने के अभिप्राय से गिनाई गई हैं। ये सभी भक्षण हैं यह अभिप्राय नहीं लेना चाहिए, वर्णोंकि उनमें मूल, कन्द, तथा प्रसून स्पष्ट ही बहु घात तथा त्रस घात का कारण होने से अभक्षण है। अतः इनका त्याग भोगोपभोग परिमाण व्रत में कराया जा युक्त है। यहाँ इनका 'अपवत' अवस्था में त्याग बताया है। इसलिए पवत अवस्था में ये ग्राह्य हैं, ऐसा फलितार्थ लगाकर व्रती मनुष्य को इनके सेवन में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। इस प्रसंग में स्वतः स्वभाव से सूखी हुई सौंठ तथा हल्टी आदि का दृष्टांत देना संगत नहीं है क्योंकि उनका उपयोग औषध के रूप में जब कभी होता है अतः रगांश की तीव्रता नहीं रहती और अवित्त भी है, परन्तु मूली, गाजर, आम, अदरक आदि के सेवन में स्पष्ट ही रग की तीव्रता रहती है, जो कि व्रती मनुष्य के लिए त्याज्य है क्योंकि सप्रतिष्ठित है। फल, शाक, शाखा आदि जो भक्षण वनस्पतियाँ हैं उन्हें छिन्न-भिन्न या अग्नि सिद्ध करके लिया जा सकता है। यद्यपि छिन्न-भिन्नादि करने में दया मूर्तित का विघात होता है तथापि इस प्रतिमा में इतनी सूक्ष्मता का विचार नहीं होता है। प्रासुक या अचिन्त द्रव्य का लक्षण पूर्ववार्यों ने निम्न

प्रकार से कहा है—

सुवकं पवकं तत्त्वांविल लवणेण मिस्सिस्य दद्वत्।

जं जंतेण य छिणं तं सत्वं फासुयं भणिणं॥

सूर्य की धूपादि से सुखाया गया हो, अग्नि से पकाया गया हो, अग्नि से तपाया गया हो, भूना गया हो, गरम किया गया हो, खटाई-नमक मिला हुआ हो, गाढ़, मिरिस-कोल्टू, रंगादि से छिन्न-भिन्न किया गया हो, वह सब द्रव्य प्रासुक, अवित्त, जीव रहित (हरी नहीं है) है। ऐसा प्रासुक भक्षण शोजन सवित्त विरत प्रतिमाधारी से लेकर झूल्लक, आरिका, मुग्नि तक ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु विशेष ध्यान देने योग्य विक्षय यह है कि प्रथम प्रतिमा से लेकर सप्तम प्रतिमा, ब्रह्मार्च प्रतिमाधारी व्रती तक श्रावक तो सवित्त वस्तु को स्वयं अवित्त करके शोजन कर सकता है परन्तु झूल्लकादि उत्तराम श्रावक तथा आरिका, मुग्नि आदि सवित्त को पर्युक्त उपायों से अवित्त नहीं कर सकते हैं। सवित्त विरत प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए कहा है—

भक्षणोऽत्र सवित्तस्य नियमो न तु स्पर्शनम्।

तस्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं वात्र शोजनम्॥ ला.सं.

इस प्रतिमा में सवित्त शोजन का तो त्याग होता है परन्तु स्वहस्त से सवित्त को अवित्त करके शोजन कर सकता है। परन्तु वर्तमान में अधिकांश व्यक्ति अक्रम से विवेक रहित, रुढ़ि परम्परा से 'हरीत्याग' करते हैं। कुछ लोग तो दिन-रात शक्याभक्षण उक्त रहेंगे परन्तु केवल अष्टमी एवं चतुर्दशी को हरीत्याग का ढोन रखते हैं। अग्नन एकेन्द्रियों के पिण्ड स्वरूप आमू, प्याज, लहसुन, अहरक, रतालु तथा त्रयों के पिण्ड स्वरूप अनेक दिनों के आवार, मुरब्बा, पापड, मंगोडी, बड़ा, आदि फल तथा पकी हुए, उबाली हुई तुरई, गल्की, परवल, टिंडसि, करेलादि के दिन को सब्जी (शाक) को हरी मानकर त्याग करेंगे। ऐसे व्यक्ति भी हरीत्याग के दिन में कच्चा पानी और कोई-कोई तो बिना छां दुआ पानी या अमर्यादित पानी तक पीते रहेंगे। उन्हें ज्ञान तक नहीं होता है कि बिना प्रासुक किये हुए कच्चे पानी के एक गिलास में असंख्यत एकेन्द्रिय जलकारिक जीव होते हैं। यदि वह पानी बिना छां दुआ है अथवा छनों के बाद भी 48 मिनिट से अधिक समय हो गया है तो गर्याहा से अधिक होने के कारण उसमें असंख्यत एकेन्द्रिय जलकारिक जीवों के माथ-साथ लाखों-करोड़ों त्रस जीव भी होते हैं। उपरोक्त दोनों अवस्थाओं में पानी सवित्त है।

मान लो कि कोई यदि सवित्त प्रत्येक फल भी खा लेता है तो भी एक ही जीव

ने कुछ ही सतित प्रदेश को खायेगा किन्तु पूर्ण एक जीव नहीं खायेगा। परन्तु अर्थुक् सवित पानी आदि का सेवन करेगा तो असंख्यात या अनंत जीवों को खा देगा॥

एक और विचारणीय विषय यह है कि यदि कोई अचित किया हुआ फल सब्जी खाता है और कोई रोटी, भात, दाल, खाता है, तो फल सब्जी खाने वाला कम हिंसक होगा और भात दाल, रोटी खाने वाला अधिक हिंसक होगा, वर्तोंकि फल और सब्जी का आकार बड़ा (घनफल अधिक) होने से 10.20 फल से पेट भर सकता है और यदि कोई अनाज से पेट भरना चाहे तो 1000.2000 बीज से पेट भरेगा। फल और सब्जी से यदि बीज को निकाल दिया जाता है तो गुदा वाला भाग पूर्ण अचित-निर्जीव, पुद्गल हो जाता है जिससे कम हिंसा होगी परन्तु तीन वर्ष के पहले-पहले का बीज तो योगिभूत जीव होता है। उसे अचित करने से योगी श्रृत जीव को मारने की हिंसा तो लगेगी ही।

उपर्युक्त धार्मिक विवेचन के साथ-साथ आयुर्वेदिक एवं स्वास्थ्य विज्ञान संबंधी विषय भी विचारणीय है। अनाज से भी अधिक स्वास्थ्यप्रद एवं बुद्धि प्रद फल तथा सब्जियाँ हैं। इतना ही नहीं अनेक रोगों की विकितसा भी फल एवं सब्जी से होती है। इससे विपरीत अनेक रोगों में अनाज अपश्य के साथ-साथ हानिकारक भी है। इतना ही नहीं फलाहार भावना को अधिक पवित्र बनाने में सहकारी कारण है। आयुर्वेद में तो इसका वर्णन है ही परन्तु आधुनिक विज्ञान में, प्राकृतिक विकितसा आयुर्वेद में तो इसका वर्णन है ही परन्तु आधुनिक विज्ञान में, प्राकृतिक विकितसा आदि में फल एवं सब्जी संबंधी नित्य नवीन घमत्कार पूर्ण शोध-बोध हो रहे हैं।

टि. जैन ग्रातीन आगम में अष्टमी, चतुर्दशी को हरी त्याग (अचित फल, सब्जी) का वर्णन नहीं है। यह अर्वाचीन परम्परा कव से प्रारम्भ हुई और वर्तों प्रारम्भ हुई यह भी शोध का विषय है। तथापि यह परम्परा टि. जैन आगमोत्तम नहीं है और वैज्ञानिक भी नहीं है। फिर भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि पर वस्तु को स्वीकार करना धर्म नहीं है अपितु त्याग करना धर्म है। इसलिए तो 14वें गुणस्थान के अन्तिम समय में जब पुण्य के साथ-साथ परमौदारिक शरीर का भी त्याग होता है तब जाक्र मोक्ष मिलता है। उसकी साधना समाधि के समय शुद्ध भोजन के साथ-साथ पानी का भी त्याग किया जाता है।

यथा श्रुति त्याग एवं तपस्या से ही मोक्ष मार्ग प्रशस्त होता है किन्तु महापाप तो जान बुझकर करते रहना और ऊँठिवशात्, देखा-देखी या दिखावा के लिए अविवेक पूर्ण एक छोटा सा त्याग करके धर्मात्मा का अहंकार करना या व्यर्थ लोग रखाकर और भी पाप कमाना प्रशस्त नहीं है।

प्रश्न-11) क्या साधु एक अन्य साधु की वैयाकृति के लिए आहार-

औषधि, वसातिका आदि की व्यवस्था करवा सकते हैं ?

उत्तर:-वैयाकृति के लिए एक साधु अन्य साधु की आहारादि की व्यवस्था करवा सकते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि समाधिस्थ, संस्तराछढ़ क्षपक की सेवा के लिए निर्ग्रह मुनि 48 (अडातिस) निर्यापक होते हैं नहीं तो कम से कम (2) निर्यापक तो होना ही चाहिए। निर्यापक समाधिस्थ मुनि की आहार, संस्तरादि की व्यवस्था करते हैं। भगवती आराधना जैसे प्राचीन मुनि की समाधि सम्बन्धी आगम में इसका सविस्तार वर्णन निम्न प्रकार से पाया जाता है । यथा-

निर्यापक प्रिय धर्म, संवेगरूप, पापशील, धीर, छंदू (क्षपक के कहे बिना अंगोष्ठा से अभिप्राय जानना) प्रतीतवान, उवित प्रत्याख्यान (त्याग) के क्रम का जाता होता है। (गा. 646)

क्लपा (भोजनादिपानादि की योग्यता) में कुशल वित्त, समाधान में उद्यमी, रहस्य, श्रुत का जाता, जिनेन्द्रागम गुरु से अच्छी तरह अनुभव किया हो, इस प्रकार 48 मुनि निर्यापक गुण के धारक क्षपक के उपकार में सावधान होते हैं। (गा. 647)

आमर्शन (हथ-पैर-कमर को दबाना) परिमर्शन (संपूर्ण-अंग दबाना) चक्रमण (क्षपक को चलने प्रिये में सहयोग देना) शयन, बैठना, खड़ा करना, करत बदलवाना, हाथ पौँव पसारना, संकुचित करना इत्यादि उपकार परिचार्यक मुनि करते हैं। (गा. 648)

क्षपक के शरीर क्रिया में जिस प्रकार संयम विनाश को प्राप्त नहीं हो उसी प्रकार क्रम से संयम नित्य उद्यम युक्त और क्षपक को सावधान करने के इच्छुक इस प्रकार वार मुनिराज सेवा करते हुए टहल करने खड़े होते हैं। (गा. 649)

वार मुनि ग्लानी का त्यागकर उद्गमादि दोष रहित आहार के पदार्थ क्षपक के लिए लाते हैं, किंतु दिन तक हम को लाना पड़ेगा ऐसा विचार वे मन में नहीं करते हैं। क्षपक जो पदार्थ चाहता है उनको वे लाते हैं। क्षपक भी जिनसे भ्रूख और यास शांत होनी ऐसे ही पदार्थ चाहता है। लौल्या से आहार की इच्छा वह नहीं करता है। क्षपक के वात, पिता और श्लेष्म को न बढ़ाने वाले पदार्थ ही परिचारक मुनि जो योग्य बताते नहीं। मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म का क्षयोपशम जिनको प्राप्त हुआ है ऐसे परिचारक आहार लाने के कार्य में आवार्य के द्वारा भेजे जाते हैं। जिनको विकाललिद्य नहीं है ऐसे मुनि इस कार्य में नियुक्त करने से क्षपक को

विकाललिद्य होगा। (गा. 662) वारमुनि आवार्य के द्वारा नियुक्त होकर क्षपक के लिए योग्य पीणे के पदार्थ लाते हैं (बाकि संपूर्ण अभिप्राय ऊपर की गाथा के समान ही मदाना चाहिए) उपर्युक्त मुनियों के द्वारा लाये हुए आहार के और पान के पदार्थों

को चार मुनि प्रमाद छोड़कर रक्षण करते हैं उन पदार्थ में त्रस जीवों का प्रवेश न हो और कोई गिरा न सकेंगे ऐसी संआल वे करते हैं क्योंकि क्षपक का जिस प्रकार से वित्त रनन्त्रय में एकाग्र रहेगा वैसा ही वे प्रयात्न करते हैं। (॥ 664) चार मुनि क्षपक के मल-मूत्र निकालने का कार्य करते हैं तथा सूर्य के उदयाकाल में अस्त काल के समय में वस्तिका उपकरण और संस्तर इनको शुद्ध करते हैं, स्वच्छ करते हैं। (॥ 666) चार परिचारक मुनि क्षपक की वस्तिका के द्वाराजे का प्रयत्न से रक्षण करते हैं अर्थात् असंयत और शिक्षकों को वे अन्दर आने को मना करते हैं और चार मुनि समोशरण के द्वार का प्रयत्न से रक्षण करते हैं। धर्मोपदेश देने के मंडप के द्वार पर चार मुनि रक्षण के लिए बैठते हैं। (॥ 669) निदा को जीतने की इच्छा रखने वाले चार मुनि क्षपक के पास जागरण करते रहते हैं। और जहाँ क्षपक और संघ ठहरा है इस देश की शुभाशुभवार्ता का निरीक्षण करने वाले चार मुनि आचार्यों के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार से महात्म्यवान् अडतालीस मुनि उत्कृष्ट प्रयत्न से क्षपक को समाधि में एकाग्र करते हैं और संसार समुद्र से प्रयाण करने वाले उस क्षपक को समाधि के कार्य में अर्थात् रनन्त्रय में प्रयुक्त करते हैं? (॥ 670)

जिनका गुण वर्णन ऊपर किया है ऐसे ही मुनि निर्यापक होते हैं ऐसा न समझना चाहिये परन्तु भरत और ऐशवत देश में वित्तिर काल का परावर्तन हुआ करता है। इसलिए कालानुसार प्राणियों के गुणों में श्री जगन्ना, मध्यमता और उत्कृष्टता आती है। जिस समय जैसे शोभन गुणों का सम्भाव रहता है उस समय वैरो गुणधारक मुनि निर्यापक परिचारक समझाकर ग्रहण करना चाहिये।

भरत देश में और ऐशवत देश में समस्त देशों में जो जैसा काल प्रवर्तता है उसके अनुसार निर्यापक समझना चाहिए। अर्थात् मध्यकाल से प्रारंभ में (44) चौवालीस निर्यापक होते हैं। (॥ 671)

इस प्रकार देशकालानुसार गुणों को यत्न से देखकर इस संवलेश परिणाम युक्त काल में चार-चार निर्यापक कम-कम करना चाहिये। वे तब तक कम करना जब वे चार रहेंगे अर्थात् क्षपक के समाधि मरण साधने के लिए केवल देश, काल, गुण की अपेक्षा से रादि चार ही निर्यापक हो तो श्री समाधिमरणरूप कार्य की समाप्ति होती है। अतिशय संविलष्ट काल में दो निर्यापक श्री क्षपक के इस कार्य की साथ सकते हैं। परन्तु जिनागम में एक निर्यापक का किसी श्री काल में उल्लेख नहीं किया है।

मूलावार में श्री गुरु के लिए शिष्य का क्या क्या कर्त्तव्य है? क्या विनय होता है? उसका वर्णन नीचे कर रहे हैं-

देव और गुरु के सामने नीचे खड़े होना विनय से एक तरफ खड़े होना गुरु

के साथ चलते समय उनके बौद्धि चलना या उनके पीछे चलना, गुरु के नीचे आसन रखना अथवा पीठ पाटा आदि आसन को छोड़ देना। गुरु को आसन आदि देना उनके लिए आसन देकर उन्हें विराजने के लिए निवेदन करना। उन्हें पुस्तक, कमण्डल, पिण्डिका आदि उपकरण देना, वस्तिका या पर्वत की गुफा आदि प्रायुक्त स्थान अन्वेषण करके गुरु को उसमें ठहरने के लिये निवेदन करना। अथवा नीचे स्थान का अर्थ है यह कि गुरु सहधर्मी मुनि अथवा अन्य कोई व्याधि ग्रसित मुनि के प्रति हाथ-पैर संकुचित करके बैठना। तात्पर्य यही है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में विनाशित रखना (॥ 374) गुरु के शरीर बल के योन्य शरीर का मर्दन करना, अथवा उनके शरीर में तेल मालिश करना, उष्ण काल में श्रीतक्रिया, श्रीतकाल में उष्ण क्रिया करना और वर्षाकाल में उस ऋतु के योन्य क्रिया करना। अर्थात् गुरु की सेवा आदि ऋतु के अनुकूल और उनके प्रकृति के अनुकूल करना, उनके आदेश का पालन करना, उनके लिए संस्तर अर्थात् चटाई घास, पाटा आदि लगाना, उनके पुस्तक कमण्डल आदि उपकरणों को ठीक तरह से पिण्डिका से प्रतिलेखन करके उन्हें देना।

इसी प्रकार से अन्य और श्री जो उपकार गुरु या साधु वर्ग का शरीर के द्वारा योन्य के अनुसार किया जाता है वह सब कार्यिक विनय है वर्योंकि वह कार्य के आश्रित है।

अश्युत्थान-गुरुओं के सामने आते हुए देखकर उठकर खड़े हो जाना। सन्नति-शिर से प्रणाम करना। आसनदान-पीठ कष्ठासन, पाटा आदि देना। अनुप्रदान- पुस्तक, पिण्डिका आदि उपकरण देना, प्रतिलिप क्रिया कर्म यथा योन्य-शुत शक्ति आदि पूर्वक कर्योत्सर्ग करके बन्दना करना, अथवा गुरुओं के शरीर की प्रकृति के अनुख्य काल के अनुख्य और भाव के अनुख्य सेवा सुश्रूषा आदि क्रियाएँ करना, जैसे कि श्रीतकाल में उष्णकारी और उष्णकाल में श्रीतकारी आदि परिचर्या करना, अस्वस्थावस्था में उनके मल-मूत्रादि को दूर करना आदि। आसन त्याग-गुरु के समान उत्तरस्थान पर नहीं बैठना। अनुव्रजन उनके प्रस्थान करने पर साथ-साथ कुछ दूर तक जाना। इस प्रकार से (1) अश्युत्थान (2) सन्नति (3) आसनदान (4) अनुप्रदान (5) प्रतिलिपक्रिया कर्म, (6) आसनत्याग और (7) अनुव्रजन ये सात प्रकार कार्यिक विनय के होते हैं।

गुणाधिये उवज्ञाए तवस्सि सिस्से य दुव्वले।

साहुगण कुलुसंघे समण्णो य चापदि॥ 390 मूलाचार

आचार्य, उपाध्याय, स्थिति, प्रवर्तक और गणधार से पाँच हैं। नव दीक्षित को बाल कहते हैं। वृद्ध से वयोवृद्ध, तपोवृद्ध और गुणों से वृद्ध लिए गये हैं सात पुरुष की परम्परा को अर्थात् सात पीढ़ी को गच्छ कहते हैं। इन आचार्य आदि पाँच प्रकार

के साधुओं की तथा बाल, वृद्ध से व्याप्त ऐसे संघ की आगम में कथित प्रकार से सर्वशक्ति से वैयावृत्य करना चाहिए। अर्थात् अपनी सर्व सामर्थ्य से उपकरण, आहार, औषधि पुस्तक आदि से इनका उपकार करना चाहिए।

सेज्जोग्नासणिसेज्जो तहोवहिपडिलेहेणा हि उवग्नहिदे।

आहवारोसहायण विकिंचणं वंदणादीहिं॥391

श्रयावतकाश मुनियों को वसतिका का दान देना, निषधा-मुनियों को आसन आदि आदि देना, उपधि-कमण्डल आदि उपकरण देना, प्रतिलेखन-पिछ्का आदि आदि आदि देना, उपधि-कमण्डल आदि उपकरण देना, प्रतिलेखन-पिछ्का आदि आदि आदि देना, इन कर्यों से मुनियों का उपकार करना चाहिए, अथवा इनके द्वारा उपकार देना, इन कर्यों से मुनियों का उपकार करना चाहिए, अथवा इनके द्वारा उपकार करके उन्हें स्वीकार करना आहार वर्या द्वारा योंठ, पीपल, आदि औषधि द्वारा शास्त्र-त्वारक्यान द्वारा, कदाचित मल मूत्र आदि व्युत होने पर उसे दूर करने के द्वारा और वन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्ति करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि वसतिकादान, आसनदान, उपकरणदान, प्रतिलेखन आदि के द्वारा पूर्वोक्त साधुओं का उपकार करना चाहिए। इन उपकारों से वे अपने किये जाते हैं। उपर्युक्त विनय, वैयावृत्ति करने का फल निम्नोक्त है-

विणएण विप्पहीणस्स छवटि सिक्खा णिरतिथ या सव्वा।

विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सत्वकल्लाणं॥ 385

विनय से हीन हुए मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा निरर्थक है। विनय शिक्षा का फल है और विनय का फल सर्व कल्याण है।

विणओ मोक्खद्वारं विण्यादो संज्ञो तवो णाणं।

विणएणाराहिज्जदि आडरिओ सत्वसंघो या॥ 386

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संज्ञ तप और ज्ञान होता है। विनय के द्वारा आचार्य और सर्वसंघ आराधित होता है।

आयरजीदकप्पगुणीतणा अत्तसोधिए णिज्जंजा।

अज्जतमदवलाहव भत्तीपलहादकरणं च॥ 387

विनय से आचार, जीव, कल्प आदि गुणों का उद्योगन होता है तथा आनंदिति, निर्दृढ़दृढ़ता, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और आलहाद गुण प्रकट होता है।

कित्ती मित्ती माणस्स भंजण गुरुज्ञो य बहुमाणं।

तित्थयराणं आणा गुणाणमोदो य विणयगुणा॥388

कीर्ति, मैत्री, मान का भंजन गुरुज्ञों में बहुमान, तीर्थकरों की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन ये सब विनय के गुण हैं।

आइरियदिसु पंचसु सबालपुइढाउलेसु गच्छेसु।

वेज्जावच्चं वुतं कादवं सत्वसतीए॥389

आचार्य आदि पाँचों में, बाल-वृद्ध से सहित गच्छ में वैयावृत्य को कहा है। सो सर्वशक्ति से अर्थात् आहार, औषधि उपकरण पुस्तकादि से करना चाहिए।

जो साधुओं की सेवा करते हैं वे साक्षात् धर्म की सेवा करते हैं क्योंकि साधु ही जीवन्त, चलते, फिरते धर्म है, तीर्थ, मूर्ति है, मन्दिर है। पंचपरमेष्ठीओं में अरिहंत और सिद्ध की तो कोई सेवा, वैयावृत्ति (आहार-औषधि-ज्ञान-वसतिका आदि आदर्श बनने के लिए उनके गुण-स्मरण, गुणानुवरण की आवश्यकता है। इसी प्रकार नवदेवता (पंचपरमेष्ठी, वैत्य, वैत्यालय, जिनधर्म, जिनगम) में श्री वर्तमान में साक्षात् जीवन्त देवता तो तीन देवता (आचार्य, उपाध्याय, साधु) हैं जिनके लिए श्रोजन, औषधि, सुशुषा की आवश्यकता है। वे ही साधु, साधक ही आगे जाकर साध्य, अरिहंत, सिद्ध बनेंगे और अरिहंत की दिव्य देशना ही जिनगम है, उनकी मूर्ति ही वैत्य है, वैत्य का आलय ही वैत्यालय है तथा उनका स्वरूप ही जिनधर्म है। इसलिए तो कुन्दकुन्द ने अष्टपाहुड में साधु-श्रमण को ही निश्चर्य से नवदेवता कहा है और मूर्ति, मन्दिरादि को व्यतहार से देवता कहा है। अतएव सिद्ध होता है कि मूर्ति, मन्दिर, तीर्थक्षेत्रादि, प्रतिकृति, प्रतिमा, मूर्ति, पक्वसद्ध है तो साधु मूर्तिमान, प्रतिमान, आदर्श पक्मांसद्ध है। जिसने साधु की सेवा की उसने नवदेवता की श्री सेवा की परन्तु दुःख के साथ तिखना पड़ता है जो स्वयं साधुओं की सेवा तक नहीं करता है वह श्री जब एक साधु धार्मिक भ्रात से आगमोक्त प्रणाली से श्री द्वासे साधु की सेवा साधुओं से घृणा करवाता है। इस प्रकरण का तिथेष वर्णन मैंने इसी पुस्तक के गुरुपास्ति (साधु सेवा) प्रकरण में तथा 'पूजा से मोक्ष, पुण्य तथा पाप श्री किया है। तिथेष जिज्ञासु वहाँ अध्ययन करें।

(11) जैन धर्म, जैन संघ, जैन आगम मुनि आदि का अवर्णवाद सबसे बड़ा पाप है, दोष है और इसका प्रायशिक्ति सबसे कठोर है:-
आचार्यश्च महद्वीश्व तीर्थकृदग्न नायकान्।

श्रुतं जैनं भ्रुयः पारं व्यासदयन् भवेत्॥ 248 प्रायशिक्ति, त्रू अर्थात् आचार्य महावृ ऋद्धिधारी, तीर्थकर, गणधर देव जैनगम और जैनमत सबकी अवज्ञा करने वाले साधु के परांतिक (संघ से निकाल देना) प्रायशिक्ति।

वतुवर्णापरयाधाभिभिणः स्यादवन्दनः।

असंभाष्यश्च कर्तव्यः सगणं गणिकोऽपिच॥ 52 प्रा. त्रू

अर्थात् चतुर्वर्ण (ऋषि, मुनि, यति, अनगार) के अपराध को कहने (करने)

वाला अवंदनीय (नमोऽस्तु के अर्थोन्य) और असंभाष्य (बोल चाल नहीं करना चाहिए) है तथा उसे गण से निकाल देना चाहिए।

ऐसे और भी बहुत ज्ञात-ज्ञात दोष हैं जिसका वर्णन मैं नहीं कर रहा हूँ। जो दोष साहित्य में पढ़ा, टेप से सुना मेरे पास प्रमाण हैं और दूसरों को मालूम हैं उसका ही वर्णन किया है। अप्रसिद्ध या जिनका प्रमाण मेरे पास नहीं है उस का यहाँ वर्णन नहीं किया है। मुझे अनेक वर्षों से अनेक आचार्य, साधु, आर्थिका, विद्वान्, श्रेष्ठी (आ. विद्यासागर जी संघर्ष भी) उपर्युक्त विवादार्पण विषयों के समाधान का अनुरोध कर रहे हैं। 1993 में मिथ्यात्व अकिंवितकर के संशोधन के लिए 'संसार मूल' हेतु मिछ्जां पुस्तक आ. विद्यासागर जी के नाम उल्लेख पूर्वक लिखकर आ. विद्यासागर जी के पास प्रेषित किया। बाद में आ. विद्यासागर जी ने 21 पुस्तक मंगतारी और कटनी में इस सम्बन्धी वर्चा हुई। उसके बाद इस सम्बन्धी समस्या शांत हो गई। इसी प्रकार इस के माध्यम से उपर्युक्त समस्याओं का समाधान हो, शांति, समता, समन्वय, वात्सल्य, संगठन, संस्कार, सदाचार, धर्म प्रभावना की वृद्धि हो ऐसे महान् उद्देश्य/भाव से विवशता से लिखने के लिए बाध्य हुआ हूँ न कि किसी प्रकार के निन्दा, विद्वैष, आक्षेप, लडाई-झगड़ा-फूट के लिए।

गत वर्ष 2005 में उदयपुर प्रवास (वातुर्मस के पहले) आप (मुनि सुधासागर जी) उदयपुर से 10-15 किमी, दूर देवारी में जब आये थे तब मुझे गरमी के कारण प्रायः एक डेढ़ महिना चवकर आता रहा (गरमी, पित की समस्या के कारण 24-25 तर्बों से वमन, तबकर, बेहोशी, हैजा, पीलीया आदि होता है।) जिससे मैं आप से मिलकर एकान्त में विवार-विमर्श नहीं कर पाया। आप भी हमसे मिलने के लिए नहीं आये और प्रायः मिलते ही नहीं हैं। मैंने इस वातुर्मस (2006) में भी दो पत्र/अवीत पूर्व में आपके पास भेजा था। हमने धर्म वात्सल्य से धार्मिक सह बन्धु की दृष्टि से यह सब लिखा है। आप या आपका संघ यदि वर्चा के लिए मेरे पास आते हैं तो हम तैयार हैं नहीं तो आप यदि चाहते हैं तो हम सुनोन्या परिस्थिति में निकटता होने पर। आप से मिलेंगे (वर्योकि मेरा स्वास्थ्य लगातार कमजोर रहता है।) यदि यह सभी स्वीकार नहीं तो आप स्वरां उपर्युक्त बातों को आगम एवं आ. शान्तिसागर जी परम्परानुसार सुधारें। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो यह आप की यथार्थता नहीं। स्वास्थ्य की समस्या के कारण हमसे भी जो विवशता से दोष लगते हैं स्वास्थ्य सुधरने के बाद उन दोषों से मुक्त हो जायेंगे। हमसे लेकर सकल चतुर्विधि संघ का स्व-पर-समाज-राष्ट्र, विश्वकल्याण के लिए यथायोन्या स्व-स्व दोषों को दूर का ऐसी हमारी आवना है।

प्रमाण:- उपर्युक्त समस्त विषय सम्बन्धी मेरी 160 पुस्तकें, दि. जैनागम।

उपलब्ध प्रायः समस्त ग्रंथ, प्राचीन हजारों मनिदरों-मूर्ति-शिलालेख, आ. शान्तिसागर की जीवनी "वात्रित्र वक्तव्यी" उनकी जीवन शालकियाँ और उनकी समाधि समरा की विडिओ कैसेट, उनके साथ रहने वाले भक्त तथा संघपति पूनमचन्द्र घासीलाल जौहरी के परिवार के श्रीमती गुणमाला, कानितलाल, शानितलाल, रमेश जी जवेरी ले छारे भक्त हैं और संस्था के कर्तारकर्ता भी), मुनि सुधासागर जी पुस्तकें, कैसेट और ये, पंथवाद से नहीं लिखा है।

प्रकरण 9

क्या आगमोक्त पूजादि पाप का कारक है?

प्रत्येक जीव सुख चाहता है एवं दुःख से दूर भागता है क्योंकि जीव का स्वाम्भाविक भाव सच्चिदानन्दमय है। संसारी जीव भी सत्य स्वरूप है, अविकसित वैतन्य स्वरूप भी है परन्तु आनंदमय अभी नहीं बना है। वह पूर्ण वैतन्य स्वरूप एवं आनंद स्वरूप बनने के लिए येन केन प्रकार से अनादि काल से प्रयत्नरत है परन्तु वह प्रयत्न तब तक सम्यक् नहीं होता है जब तक सम्यक् दर्शन/सत्य भाव तथा गुरु उपदेश आदि को प्राप्त करके सम्यन्दृष्टि बनता है तब वह सत्यग्राही प्रतीति/आगमनिष्ठ /समताभावी नहीं हो जाता है जब जीव योन्या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भी बन जाता है। तब उसे ज्ञान होता है, भान होता है कि सर्वज्ञ हितोपदेशी द्वारा गत्य सिद्धान्त है। यह अपनी शक्ति, शक्ति परिस्थिति के अनुसार जैनागम का अनुकरण करता है। जिस सत्य, तथ्य एवं परम्परा दिग्मधर जैन आचार्य द्वारा आगत सिद्धान्त ही परोपकारी अनुकरण करता है। जिस सत्य, तथ्य एवं आर्दशा का अनुकरण एवं आत्मसात नहीं कर पाता है उसको वह अपनी कभी मानकर श्रद्धा रूप में जानता है एवं मानता है किन्तु नकरता नहीं है। जिस प्रकार सम्यन्दृष्टि जानता है एवं मानता है कि विद्याजात निर्बन्ध रूप अर्थात् मुनि/थमण बने बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो निर्विदीका॥ स्वीकार नहीं कर पाता है तो भी मुनि धर्म या मुनिवर्या की निन्दा नहीं करता है और मुनि वर्या को खोटा भी नहीं मानता है। इसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् पर पाने पर भी जो उन क्रियाओं को करता है उसकी अनुमोदना करता है, प्रशंसा करता है परन्तु उसकी निन्दा नहीं करता है और उन क्रियाओं को खोटा भी नहीं मानता है तथा करने वालों को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाता बल्कि यथायोन्या

सहायता करता है। जैसे दयालु व्यक्ति असमर्थ-भूखे शिखारियों को भोजन देता है। यदि भोजन देने में समर्थ नहीं है तो अन्य प्रकार से सहायता करता है जो देता है उसकी सराहना करता है परन्तु वह उस शिखारी को न गाली देता है न अपमानित करता है, न विष देता है। इसी प्रकार जो शिखारी की सहायता करता है उसको भी न गाली देता है न अपमान करता है, न ही किसी प्रकार का कष्ट देता है। तो न गाली देता है न अपमान करता है, न ही किसी प्रकार का कष्ट देता है। तो सम्यावृद्धि की हर क्रियाओं में प्रवृत्ति होती है। परन्तु वर्तमान काल में अधिकांश व्यक्तियों में उपरोक्त क्रियाएँ से विपरीत क्रियाएँ ही परिवर्तित होती हैं। कुछ व्यक्ति तो स्वयं अपना कर्तात्व नहीं करेंगे परन्तु जो कर्तात्व करते हैं उनकी निन्दा करेंगे। उनको अपमानित करेंगे, उनको विभिन्न प्रकार की यातनाएँ भी देंगे। पापोदय ऐ उनको अपमानित करेंगे, उनको विभिन्न प्रकार की यातनाएँ भी देंगे। पापोदय ऐ यदि स्वयं अच्छे भोजन नहीं कर पाते हों, दूसरों को भोजन नहीं दे पाते हों तो स्वयं अच्छे भोजन करते हैं या दूसरों को करवाते हैं, उनसे ईर्ष्या वर्यों करते हों? घृणा वर्ण करते हों? उन्हें विष वर्यों पिलाते हों?

कुछ लोग स्वयं को आगमनिष्ठ बताते हुये भी जो आगमानुसार अभिषेक पूजादि करते हैं उन्हें वे धर्म बाहा, छढ़िवादी, हिंसक, शिथिलाचारी, काप्तराणी, भट्टरक-परम्परावादी, मिथ्यावृद्धि कहते हैं और मानते भी हैं। वे कहते फिरते हैं कि आगम को नहीं मानना मिथ्यात्व है तो फिर वे स्वयं कौन है जो आगम की दुर्लभता देते हुये भी स्वयं आगम को नहीं मानते, तदनुकूल आचरण नहीं करते और यहीं तक की आगमानुसार आचरण करने वाले की निन्दा करते हैं एवं विरोध भी करते हैं। वह स्वयं आगमानुसार आचरण नहीं करते हों तो कम से कम आगमानुसार आचरण करने वालों से समता/माध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

मैंने जो अभी तक विभिन्न प्रदेशों के महानगर से लेकर छोटे ग्रामों का परीक्षण किया उससे मेरा अनुभव हुआ है कि प्रायः दिग्नक्षर जैन धर्मावलम्बियों में बहुशः अभिषेक एवं पूजा को ही लेकर परश्यपर में समाज में अधिक कलह भवति। बहुशः अभिषेक एवं पूजा को ही लेकर परश्यपर में समाज में अधिक कलह भवति। वाद-विवाद मन मुटाव करते हैं। फूट पड़ती है एवं धर्म की हंसी होती है, शक्ति का ह्यास होता है। इसके कारण ही धर्म की या समाज की प्रगति नहीं होती है। इसके ही नहीं जैनेतर लोग इन उपरोक्त करणों से जैन धर्मावलम्बियों को योग करते हैं नहीं जैनेतर लोग इन उपरोक्त करणों से जैन धर्मावलम्बियों को योग करते हैं। बिल्ली के समान कुछ जैनी सोचते हैं कि हमारी कमियों को, गलतियों को कोई नहीं देखते हैं और न ही जानते हैं। बिल्ली को मार पड़ने पर नानी याद आती है परन्तु जैन धर्मावलम्बियों को मार पड़ने पर भी वे अपनी गलतियों को न जानते हैं, न मानते हैं, न ही दूर करते हैं और न ही प्रमार्जित करते हैं। इन सब कमियों के कारण अनेक दिग्नक्षर जैन मन्दिर, दोष, संस्थाओं को अन्य लोग अपने अधिकार में

होते हैं। उपरोक्त कारणों के निरसन करने के लिए मैंने "संगठन के सूत्र" नामक पुस्तक लिखी है जिसासु उसे पढ़ें।

जैन धर्म रत्नत्रयान्मक, अनेकान्तर्मय, परम उदार धर्म है। जैन आरंभ-परिशिष्ठ तथा कर्मों से विरत होना सम्यावृद्धि का परम लक्ष्य है। तथापि सम्यावृद्धि शावक चत्रिमोहनीय कर्म के उदय से सर्व विरत रूप मुग्न धर्म को आवलम्बनों से शुश्रोपयोग में मन लगाता है। इसलिये वह चार प्रकार के दान देता है मन्दिर निर्माण करता है, तीर्थठोक्र की यात्रा करता है, देव, शास्र, गुरु की पूजा भज जीवों की हिंसा हो जाती है परन्तु यह आनुषंगिक हिंसा उसके लिए अधिक वेष्प्रद नहीं है। जैनावार्यों ने शावक के धर्म को एक प्रकार का व्यापार कहा है। जिस प्रकार व्यापार करने के लिए पहले धन-पूंजी लाना चाहिए फिर पूंजी प्राप्त करते हैं। यदि वह पहले पूंजी विनियोग नहीं करेगा तो लाभ भी प्राप्त नहीं कर सकता। किसान खेत में अनेक विवर्तन बीज पहले डालता है जिससे वह उससे भी अधिक बीज को प्राप्त करता है। यदि किसान विवार करे कि मैं खेत में बीज डालकर वर्षों बरबाद करूँ तो वह आगे के अधिक लाभ से वंचित रह जायेगा। इसी ही प्रकार जैन गृहस्थ शावक यदि दान पूजा आदि से हिंसा होती है ऐसा विवार करके दान पूजा आदि नहीं करेगा तो वह उस सम्बन्धी शुश्रोपयोग, पुण्य सम्पादन एवं पाप की निर्जय से वंचित हो जायेगा। यदि विवेक पूर्वक शुद्ध आगमोत्त पंचमृत अभिषेक पूण्य, फ्लादि से पूजा करने से एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की हिंसा होती है मान कर यदि त्याग किया जावे तो जल से भी अभिषेक, अष्ट द्रव्य से पूजा, मूर्ति निर्माण, मन्दिर निर्माण, तीर्थ-यात्रा, आहार, दानादि से भी त्रस, स्थावरों की हिंसा होने से यह कर्जनीय हो जायेगा यद्यपि जल के बिन्दु में विज्ञान कि अपेक्षा 36450 त्रसजीव रहते हैं और जैन धर्म के अनुसार इससे भी अधिक त्रस जीव रहते हैं। यह तो हुई जीवों की संख्या परन्तु एकेन्द्रिय जलकार्यक स्थावर जीव तो एक बिन्दु में संख्यात होते हैं। जब अभिषेक के लिए आहार दान के लिए, मन्दिर निर्माण के लिए, जल का प्रयोग करते हैं तब इसमें स्थित कुछ त्रस जीव तो मरते हैं और उसमें असंख्यात स्थावर जीव भी मरते हैं। यदि कोई कहे कि हम जब जल का प्रयोग करते हैं तब हिंसा किस प्रकार हुई? वो नहीं जानते हैं कि यह का कथा अर्थ होता है। प्रासुक का अर्थ होता है जल को गर्म करके व ईलायची तीक्ष्ण वस्तुओं डालकर सम्पूर्ण जीवों से रहित करना है। इस का अर्थ है

गणिक जीवों का मरण। कोई कहे कि हमारी भावना तो जीवों को मारने की नहीं किन्तु हमारी भावना तो पूजा करने की रहती है। तो जो पृथ्वी-फलादि से पूजा, शुद्ध सूताभिषेक करता है उनकी भावना क्या जीवों को मारने की रहती है? शुद्ध दृढ़ी, थी आदि में न तो त्रस जीव रहते हैं और न ही स्थावर जीव रहते हैं। पृथ्वी दृढ़ी, थी आदि में न तो त्रस जीव रहते हैं और न ही स्थावर जीव रहते हैं। पृथ्वी दृढ़ी, थी आदि में न तो त्रस जीव रहते हैं और न ही स्थावर जीव रहते हैं। पृथ्वी दृढ़ी, थी आदि में न तो त्रस जीव रहते हैं और न ही स्थावर जीव रहते हैं। पृथ्वी दृढ़ी, थी आदि में न तो त्रस जीव रहते हैं और न ही स्थावर जीव रहते हैं। पृथ्वी दृढ़ी, थी आदि में न तो त्रस जीव रहते हैं और न ही स्थावर जीव रहते हैं।

सुखकं पक्कं ततं अंविलवगेण मिस्सिसं दत्वं।
जं जंत्तेण य छिण्णं तं सत्वं फासुगं भिण्यां।

सुखने से, पक्कने से, आग पर गर्भ करने पर अम्ल लवण को मिलाने से छिण्ण भिन्न करने से प्रत्येक एकेन्द्रिय सवित फलादि प्रायुक हो जाते हैं। सवित विरत प्रतिमा पांचवीं प्रतिमा है। इस प्रतिमा में शावक सवित भोजन हीं करता परन्तु उसके पहले-पहले के प्रतिमाधारी थी सवित भोजन कर सकते हैं। यह सवित विरत प्रतिमा धारी फलादि को अवित करके भोजन करता है। यथा।

शक्तेऽत्र सवितस्य नियमो न तु स्पश्यनि।
तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्राण्युकं चात्र भोजयेत्॥१७ ला.स.

सवित प्रतिमा में सवित के भक्षण न करने का नियम है, सवित को स्पश्यनि प्रतिमा में सवित के भक्षण न करने का नियम है, सवित को स्पश्यनि प्रतिमा में सवित के भक्षण न करने का नियम है। इसलिए अपने हाथ से उसे प्राण्युक करके भोजन में नहीं कर सकता है।

यदि पहली प्रतिमा से चौथी प्रतिमा तक पंचमगुणस्थानतीं शावक थी सवित भोजन कर सकता है। तब क्या वह धार्मिक कारों में आनुषंगिक रूप में जो स्थावर जीवों की हिंसा हो जाती है उसको भय से उन धार्मिक क्रियाओं को छोड़ सकता है। यदि केवल फल, पृथ्वी के लिए हठग्राहिता है तो अभिषेक के लिए, आहारदान के लिए जल को अवित करके प्रयोग में नहीं ले सकता है क्योंकि इनमें थी तो सवित जल को अवित किया जाता है।

शावक संकल्प पूर्वक त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी है। अप्रयोजन अनावश्यक एकेन्द्रिय जीव की थी विराघना नहीं करता है परन्तु गृहस्थ कारों स्थावर जीवों के साथ आरंभी उद्योगी विरोधी रूप त्रस जीवों की थी हिंसा तक हो जाती है तब धर्म के लिए आनुषंगिक स्थावर हिंसा अतिग्रहित नहीं है। जो कुछ हिंसा होती है वह हिंसा थी संकल्प पूर्वक या दृष्टिभाव से नहीं की जाती है। इसलिए हीं वह हिंसा थी संकल्प पूर्वक या दृष्टिभाव से नहीं की जाती है।

समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि- दृढ़ी, द्रूष्य, गन्ध, पृथ्वी माला आदि से पूजा करने पर जो पाप होता है वह पाप पृथ्वी के अनुपात से बहुत ही कम होने पर सावधान पापमाप्युपार्ज्यते लेशतः सावधा सदभावादित्याशंकयाह...
पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावधलेशो बहुपृथ्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दृष्टिका शीतशिवाम्बुराशौ॥ ३

स्वरांभूष्टोत्र पु. 71

पूज्यमित्यादि-पूज्यमाराधर्यं जिन मर्हन्तं त्वां वासुपूज्यं अर्चयतः पूजयतः जनस्य भव्य प्राणिगणस्य सावधलेशः अवयं पापं सह अवद्येन वर्तते अति सावधं कर्म तस्य लेशो लवः पूजां कुर्वेतो यः संपन्नः स दोषाय पुण्योपार्जने प्रवृत्तदोषः पापोपार्जन तस्मै न अलं न समर्थो शवित, कस्मिन्? बहुपृथ्यराशौ प्रचुरपृथ्यपूज्जे तेनोपहतशक्तित्वात्तस्या केवेत्याहकणिका मात्रालयो विषस्य न दृष्टिका न मारणात्मक विष धर्म संपादिका। चव? शीतशिवाम्बुराशौ शीत तं च शीतलं च शिवं च स्पृशनेनिद्रय प्रहलादकरं तत्वं तदम्बु च जलं तस्य राशिः संघातौ यत्रासौ शीतशिवाम्बुराशिः शीतशिवाम्बुराशिः समुद्रस्तस्मिन्।

है! नाथ पूजा की सामग्री जुटाते समय आरम्भादि के करण पूजा करने वाले मनुष्य के जो अल्पतम द्रव्य हिंसा होती है तथा सराग परिणति के करण अल्पतम भाव हिंसा होती है उससे पूजा करने वाले का कुछ अहित नहीं होता वर्योंकि वीतरण जिनेन्द्र की पूजा करने से जो विशाल पृथ्वी उत्पन्न होता है उसके समक्ष वह अल्पतम हिंसा नगण्य होती है ठीक उस तरह जिस तरह की शीतल और आनन्द दर्शी जल के समुद्र में विष की एक कणिका है।

जिस प्रकार आहार दान करने में पानी छानना, गर्त करना, आग जलाना, फल बनाना, बर्तन साफ करना, चौका साफ करना, वस्त्र धोना, रग्नान करना आदि से त्रस स्थावरों की थी हिंसा होती है तथापि उद्देश्य महान् एव पवित्र होने के करण आहार दान में जो पाप होता है वह दोषकारक नहीं है क्योंकि आहारदान में गुरु के प्रति अनुरग होता है, पृथ्वी बन्ध होता है पाप की निर्जरा होती है। परम्परा से स्वर्ग आहिये।

चावल में यदि पृथ्वी, फलादि की स्थापना करके ही काम लिया जाय तब उसमें थी उपरोक्त गुणों के साथ-साथ दोष थी है। जहाँ पर जिस स्थान में पृथ्वी फलादि नहीं है वहाँ पर उसकी स्थापना तंदुल में करके पूजा में प्रयोग में लाना

ये। जहाँ पर और जब आगमोत्त पुद्द पुष्प फलादि है तो उसका भी प्रयोग विवेक न करना चाहिये ऐसा आगम में वर्णन पाया जाता है। यदि पुष्पादि में दोष है तो पेत पुष्पादि में भी दोष लगेगा। जिस प्रकार यशोधर के द्वारा आटे के मुर्मों की चढ़ाने से उसको उसके पाप से अनेक भ्रत तक अनेक यातनाएँ सहन करनी। इसी प्रकार पुष्प, फलादि चढ़ाने में दोष मानने पर स्थापित पुष्प, फलादि के जै में भी उतना ही दोष लगेगा। और एक विचारणीय विषय है कि साक्षात् अहंता ग्रन् की पूजा तो नहीं करते मूर्मिं में स्थापित अरिहंत की ही पूजा करते हैं तो उचित एवं विवेक पूर्ण कर्य नहीं है। इसी प्रकार यथार्थः आगमोत्त प्रासुक शुद्ध द्रव्य है उससे शावक पूजा न करके स्थापित अष्टद्रव्य से पूजा करता है तो यह असम्यक् है। शक्ति एवं उपलब्धि होते हुये भी यदि चावल में स्थापित पुष्प, गिरी शापित दीपक एवं नैवेद्य से पूजा करते हैं तो इससे माया चारी एवं झुठ का भी लगता है। इतना ही नहीं, आगम को नहीं मानने पर आगम का भी अपलाप है, आज्ञा सम्यक्त्व में भी दोष लगता है।

कुछ लोग आगम को जानते हैं और मानते भी हैं तथापि स्थानीय परम्परा या र परम्परा के कारण आगमोत्त पद्धति से अभिषेक पूजा आदि नहीं कर पाते हैं कुछ व्यक्ति अपने ग्राम में परम्परा के कारण आगमोत्त पूजा आदि नहीं कर पाते परन्तु बाहर कहीं जाकर यदि आगमोत्त पद्धति से पूजा होती है तो वहाँ पूजा लेते हैं। परन्तु कुछ ऐसे व्यक्ति हैं स्थानीय परम्परा के कारण अपने ग्राम में, र में, तो आगमोत्त पद्धति से पूजा आदि होती है, उसका विरोध तो करेंगे परन्तु णबेलगोला, महातीरजी आदि में जाकर रुग्नी, परिवार सहित लाखों रुपये देकर मृत अभिषेक करेंगे त फल आदि चढ़ावेंगे। जो स्व नगर में तो विरोध करते हैं ए दूसरे स्थान में जाकर आगमोत्त पूजा आदि करते हैं उन्हें विचार करना चाहिये यदि स्थानीय परम्परा के कारण स्वयं नहीं कर पाते हैं तो जो आगमोत्त रीति करते हैं कम से कम उनका तो विरोध नहीं करें।

आचार्य, उपाध्याय, साधु, अर्णिका, ऐलक, भुल्लक, भुलिका, ब्रह्मवारी, प्रचारिणी, पंडित, सम्यादृष्टि श्रावक, अविरत सम्यादृष्टि आदि की दृष्टि आगम देते होती हैं। इसलिये आचार्य, उपाध्याय, साधु की दृष्टि एवं क्रिया आगमोत्त होती इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है "आगम वरखु साहु" अर्थात् वे आगम अनुसार देखते हैं, जानते हैं, मानते हैं, आतश्यकता होने पर धर्म की रक्षा, समृद्धि लिए ते आगम के अनुकूल ही उपदेश देते हैं, आगम का एक भी शब्द न वे पर्यास करते हैं न विपरीत बोलते हैं। परन्तु अभी कुछ आचार्य, उपाध्याय, साधु डेत आदि आगमोत्त अभिषेक पूजा आदि का न उपदेश करते हैं न पूछने पर

आगमोत्त पद्धति से उत्तर देते हैं कुछ तो स्थानीय रुद्धि, परम्परा के अनुसार उपदेश करते हैं एवं उसका हठ पकड़ते हैं यहाँ तक कि जिस शास्त्र में पंचमृत, पुष्प, फलादि का चढ़ाने का स्पष्ट निर्णय है उस शास्त्र के प्रणीता महाव आवारों को बोलते हैं यह परम्परा अजैनों से ती गई या भट्टरक-परम्परा है। कुछ शास्त्र ऐसे भी हैं जिसमें पंचमृत आदि का वर्णन है जिसका रखना के समय काष्ठासंघ, भट्टरक परम्परा आदि का उद्गम ही नहीं हुआ था और एक विचारणीय विषय यह है कि जिस शिद्धान्त मूल परम्परा के कैसे हो सकते हैं? इतना ही नहीं जिस आचार्य ने जिस शास्त्र में काष्ठा संघ आदि का खण्डन किया है उसी शास्त्र में पंचमृत अभिषेक आदि का वर्णन है। उदाहरण के तौर पर देवसेन आचार्य का भाव संबंध एवं सोम देव सूरी सब ग्रहण किया है तो क्या हमारे आचार्य मिथ्या परम्परा को स्वीकार करके स्वयं मिथ्या दृष्टि बने एवं अन्य को मिथ्यादृष्टि बनाना चाहें? और क्या जैन परम्परा या जैन आचार्य इतने दीन-हीन-गरीब हैं जो कि अन्य परम्परा से मिथ्या परम्परा को स्वीकार किया? जो पंचमृत आदि को नहीं मानते वह भी तो जैन धर्म को अनादि शिखारी, परोपजीवी कैसे हो सकते हैं?

कुछ आचार्य आदि आगमोत्त पूजा आदि को जानते भी हैं मानते भी हैं परन्तु लोक संबंध के लोभ से या लोक के कोप भाजन न बनाना पड़े इसलिए पूजा आदि के लिए जिज्ञासा करने पर भी स्पष्ट उत्तर नहीं देते, दूसरों को गुमराह करते हैं या अन्धकार में रखते हैं। वे ऐसा करके क्या आगम का अपलाप नहीं करते हैं क्या वे सत्य को नहीं छिपते हैं? हाँ, केवल कोई कुतर्की खोटे भावों से जगड़ा करने के लिए प्रश्न करता है तो उस समय में मैं जैन रहना अलग विषय है।

यदि पंचमृत अभिषेक आदि में हिंसा होती है इसलिये नहीं करना चाहिये, तो महिदर बनाने में, यात्रा करने में, आहर दान देने में, इससे भी अधिक हिंसा होती है तो यह भी अकरणीय हो जायेगा। तब तो श्रावकों के अनेक कर्तव्य लोप हो जायेंगे। तीर्थकर धर्म- तीर्थ के प्रवर्तक हैं तो श्रावक आहर दान रुपी व्यवहार-तीर्थ के प्रवर्तक हैं। आहर दान रुपी व्यवहार तीर्थ के लोप से धर्म तीर्थ का भी लोप हो जायेगा।

कुछ गृहस्थ ऐसे भी होते हैं जो धन के लिए निहित स्वार्थ के लिए बहुत बड़ी-बड़ी ऋस-स्थावर की हिंसा कर लेते हैं। वे निषिध व्यापार, धर्म व्यापार,

कंद का व्यापार, तेल की मिल, ईंट की भट्टी, शराब की फैवट्री एवं दुकान, आँख, बीड़ी, सिगरेट आदि बनाते हैं एवं विक्रय करते हैं एवं यही व्यक्ति धर्म में जाकर शुद्ध धार्मिक परम्पराओं का अहिंसा के नाम पर विशेष करते हैं। वा विशेष वर्णन मैंने मेरी किताब 'ऐ कैसे धार्मिक, निर्व्वासनी, राष्ट्र सेवी ?' केया है। विशेष जिज्ञासुओं को वहाँ अवलोकनीय है।

कुछ गृहस्थ घर में एवं विवाह आदि में अनज्ञा पानी जमीकंद, शराब आदि प्रयोग करते हैं, एवं लाखों त्रस जीवों से समहित पुष्पों की मालायें पहनते हैं, घर में प्रयोग में लाते हैं, गाड़ी को सजाते हैं, नीचे बिछाकर उन पर चलते हैं, पर सोते हैं तो वया इससे पाप बन्द नहीं होता? वया यह सब विवेक से होता वर्या इससे जीवों को कष्ट नहीं होता है? वया ये शुभ धार्मिक क्रियायें हैं? भोग लिए धन के लिए, निहित स्वार्थ के लिए जो जान-बूझ कर पाप करते रहेंगे तु धार्मिक क्षेत्र में अपनी अवस्था अनुसार विवेक पूर्ण आगमानुसार धार्मिक क्रिया ते हुए जो थोड़ी सी अनुषंगिक द्रव्य-हिंसा हो जाती है उसको लेकर ईर्ष्या, देष, और फूट आदि करके अधिक भाव हिंसा करेंगे।

कुछ लोग कहते हैं हम तो पेट पोषण करने के लिए धन कमाने के लिए वारिक कारों में पाप कमाते ही हैं परन्तु मनिदर में आकर पंचामृत आदि करके मैक क्षेत्र में पाप कर्यों कमायेंगे? उनका यह कुतर्क आगम विलङ्घ एवं कुटिल भावों युक्त है। जैसे कोई कहेगा कि हम भोजन बनाने के लिए जो पानी लाते हैं, आग ग्राते हैं, फल सुधारते हैं, उससे तो पाप बन्द होता ही है परन्तु आहर दान रूपी मैक क्रियाओं के लिए पानी कर्यों लायेंगे, आग कर्यों जलायेंगे, फल कर्यों सुधारेंगे कि इसमें हिंसा होती है पाप बन्द होता है। तो वया उनके यह तर्क विवेक हेतु, आगम सम्मत, एवं भाव विशुद्धि सहित है? नहीं कहापि नहीं।

कुछ लोग बदाम आदि को अचित मानते हैं परन्तु इसमें भी योनी भूत जीव वर्योंकि उसमें भी जीव-उत्पत्ति की शक्ति रहती है वर्योंकि उसको बोने से अंगुर उत्पत्ति होती है। कोई कहे कि पंचामृत अभिषेक के बाट उसमें जीव की उत्पत्ति जाती है इसलिए पंचामृत अभिषेक वर्जनीय है तो वया जलाभिषेक में मर्यादा के द एवं अष्टद्रव्य में भी जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है? और एक विवारणीय विवाद कि साधु को जो आहर देते हैं उससे मल भी बनता है और साधु उस मल को सर्जन करते हैं जिससे अनेक जीव उत्पन्न होते हैं ऐसा विवार करके वया धु को आहर देना पाप है? वर्जनीय है? जब मूर्ति या मनिदर बनाते हैं तब संख्यात पृथ्वीकारिक जीवों की हिंसा होती है और मूर्ति के लाने ले जाने में अनज्ञ प्र, स्थावर जीवों की मृत्यु होती है तब यह कार्य भी वर्जनीय है? क्षपक ऐण्ड

आरोहण करने वाले मुग्नि के शरीर में स्थित अनज्ञ प्रस, स्थावर जीवों की हिंसा होती है तो वया क्षपक ऐण्ड आरोहण करना पापात्मक है? नहीं कहापि नहीं। वर्योंकि उपरोक्त कारों में उद्देश्य एवं भावना एवं अहिंसात्मक रहती है इसलिए उपरोक्त कार्य पापकारी नहीं है। इसी प्रकार पूजा, अभिषेक आदि में जानना चाहिए। विशेष जिज्ञासु मेरी "जिनार्वना" नाम पुस्तक का अध्ययन करें।

प्रकरण 10

संसार का मूल हेतु मिथ्यात्व है

संसारमूल हेतु मिथ्यात्मक सत्त्वधा विवज्जहि।
बुद्धी गुणणिदं पि हु मिथ्यात्मक मोहिदं कुणदिः॥ 723 पृ. 461. अ.आ.

मिथ्यात्मक संसार का मूल कारण है उसका मन, वर्तन, कारा से त्याग करो, वर्योंकि मिथ्यात्मक गुण युक्त बुद्धि को भी मूढ़ बना देता है। केवल भगवती आराधना में आचार्य शिवकोटि (शिवार्य) ने संसार का मूल हेतु मिथ्यात्मक है ऐसा नहीं कहा है अपरंप्र प्राचीन दिग्भवर सब आचार्यों ने कहा है। इसके विपरीत सम्यदर्शन को मोहमार्ग का प्रथम मूल हेतु कहा है।

समन्तभद्र स्वामी ने सम्यदर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक्खारित्र को धर्म कहा है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्यात्मक विवरीति को अधर्म कहा है और वह रत्नत्रयात्मक धर्म संसारी जीवों को संसार से निवृत करके शाश्वतिक सुख में धारण करता है। उसके विपरीत मिथ्यादर्शन आदि अधर्म है, संसार की पद्धति है और जीवों को दुःख देने वाला है, आचार्य श्री ने रत्नत्रय में सम्यक्दर्शन को कर्णधार आधार कहा है। सम्यक्दर्शन की महिमा बताते हुए कहा है कि जैसे बीज के अशाव में वृक्ष की स्थिति, वृद्धि व फल आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती है उसी प्रकार सम्यक्दर्शन के अशाव में सम्यज्ञान, सम्यक्खारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, संपूर्ति नहीं हो सकती है। इसलिए तो आचार्यों ने कहा कि सम्यक्दृष्टि श्रावक मिथ्यादृष्टि साधु से श्रेष्ठ है। ऐसे सम्यक्दर्शन सहित जीव नारकी होते हुए भी मिथ्यादृष्टि देव से श्रेष्ठ अंतरंग में प्रकाशमान है (आदरणीय)। सम्यक्दर्शन की महानता, श्रेष्ठता एवं दर्शनपाहुड में बहुत ही महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। उसमें कुछ गाथाएँ यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं :-

जं जाणइ तं ज्ञाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं।
ज्ञाणस्स पिच्छीयस्य य समवण्णा होड चारितां॥ 4 पृ. 63

जो जानता है वह ज्ञान है और प्रतीति करता है वह दर्शन कहा गया है। इन के संयोग से सम्यक्त्वार्थि होता है।

णिसंसंकिय णिकवक्खिय णित्विदिगिंचा अमूढिदीय।

अवगृहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहवणा य ते अष्ट 11 7 पृ 67

निःशंकित 1. निःकांकित 2. निर्विचिकित्सा 3. अमूढ़-दृष्टि 4. उपगृहण 5. करण 6. वात्सल्य 7. और प्रभावना 8. ये आठ सम्यवत्त के गुण हैं।

तं वेव गुणविसुद्धं जिणसम्मतं सूमुक्खठाणाय।

जं चरइ णाणजुतं पदमं सम्मतवरणवारितं॥ 8

निःशंकितादि गुणो से विशुद्ध वह सम्यवत्त ही जिन सम्यवत्त कहलाता है जेन-सम्यवत्त ही उत्तम मोक्ष रूप स्थान की प्राप्ति के लिए निर्मित्तभूत है। इहित जिन-सम्यवत्त का जो मुनि आवरण करते हैं वह पहला सम्यवत्तावरण ग्र चारित्र है।

सम्मतरयणभद्वा जाणंता बहुतिहाई सत्थाईं।

आराहणा विरहिया भ्रमंति तथेव तथेव॥ 4 पृ 8 दर्शन।

सम्यवत्त रूपी रत्न से ब्रह्म मनुष्य भले ही अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते भी जिन वचनों से रहित होने के कारण वहीं के वहीं अर्थात् उसी चतुर्भुति रूप में परिभ्रमण करते रहते हैं।

सम्मत सलिल पवहो णिचं हिराए पवहए जस्सा।

कम्मं वालूयवरणं बंधुचिय णासण तस्स॥ 7

जिनके हृदय में सम्यवत्त रूपी जल का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित रहता है। कर्म रूपी बालु का बांध बद्ध होने पर श्री नष्ट हो जाता है।

जे दंसणेसु भद्वा णाणे भद्वा चरिताभद्वा य।

एदे भद्वा विभद्वा सेसं ति जणं विणासंति॥ 8

जो मनुष्य सम्यबद्वन से ब्रह्म है, ज्ञान से ब्रह्म है और चारित्र से ब्रह्म है तो मैं विशिष्ट ब्रह्म है अर्थात् अत्यन्त ब्रह्म है तथा अन्य मनुष्यों को भी ब्रह्म होते हैं।

जहमूलमि विणंडे दुमस्य परिवार णत्थि परिवद्धी।

तह जिणदंसण भद्वा मूल विणद्वा ण सिज्जांति॥ 10

जिस प्रकार जड के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के परिवार की वृद्धि नहीं होती प्रकार सम्यवत्त के नष्ट हो जाने पर चारित्र रूपी वृक्ष की वृद्धि नहीं होती। नुष्य जिन-दर्शन-अहंत भगवान् के मत से ब्रह्म है वे मूल विनष्ट हैं अर्थात् हित हैं-सम्यबद्वन से शून्य हैं और ऐसे लोग मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

जह मूलाओ खंधो साहपरिवार बहुगुणो होई।

तह जिण दंसणमूलो णिदिहो मोख्य मन्गस्य॥ 11

जिस प्रकार मूल अर्थात् जड से वृक्ष का स्कन्ध और शारवाओं का परिवार वृद्धि आदि अतिथय से युक्त होता है, उसी तरह जिन दर्शन-अहंत मत अथवा जिनेन्द्र देव का प्रगाढ़ अद्वान मोक्ष मार्ग का मूल कहा गया है। इससे जिनदर्शन से ही मोक्ष मार्ग वृद्धि को प्राप्त होता है।

समतादो णाणं णाणादो सत्व भाव उवलद्धी।

उवलद्धपरयथे पुण सेयासेयं वियाणेदि॥ 15

सम्यवत्त से ज्ञान होता है ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है और समस्त पदार्थों की उपलब्धि होने पर यह जीव कल्याण और अकल्याण को विशेष रूप से जानता है।

एवं जिणपण्णतं-दंसण-र्यणं धरेह भावेण।

सारं गुण रयणत्तय सोवाण पदमं मोख्यस्य॥ 21

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए सम्यबद्वन रूपी रत्न को भ्रत्य जीवों! भ्रत पूर्वक धारण करो। सम्यबद्वन रूपी रत्न उत्तम कामादिगुणों तथा सम्यबद्वनादि तीन रत्नों में श्रेष्ठ है और मोक्ष की पहली सीढ़ी है।

णाणं णरस्स सारो सारो ति णरस्स होई सम्मतं।

समताओ चरणं चरणाओ णिवाणं॥ 33

ज्ञान जीव के सारभूत है और ज्ञान की अपेक्षा सम्यवत्त सारभूत है वर्णोंकि सम्यवत्त से ही चारित्र होता है। चारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

**मिथ्यात्व को अकिञ्चित्कर मानने पर संसार के अनन्त दुःख
(मिथ्यात्व सम्बन्धी कुछ प्रश्न)**

1. "मिथ्यात्व आस्रत एवं बंध क्षेत्र में अकिञ्चित्कर है" ऐसा वर्णन प्राचीन दिग्म्बर जैनाचार्य कृत कौन से शास्त्र में उल्लेख है?
2. मिथ्यात्व बंध प्रकारण के करण (कारण हेतु) नहीं है परन्तु अधिकरण (आधार) है ऐसा वर्णन दिग्म्बर जैन पूर्वाचार्य कृत कौन से शास्त्र में है?
3. मिथ्यात्व आस्रत एवं बंध के क्षेत्र में अकिञ्चित्कर है। (इसका शब्दार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, नरार्थ, भावार्थ आदि) आगम की दृष्टि में क्या है तथा आचार्य विद्यासागर श्री की दृष्टि से क्या है?

सत्वे पराडिहिदिओ, अणुभागपदेसबन्धाठाणाणी

जीवो मिछ्जत वसा, भमिदो पुण भाव संसारे ॥ 29 आ. कुन्दकुन्द बा.आ.इस का अर्थ वया है?

संसार मूल हेहु मिछ्जत सत्त्वा विवज्जेहि।

बुद्धि गुणणिंदं पिहु मिछ्जत मोहिंदं कुणदि॥1723 भ.आ.-आ. शिवार्य इस गाथा का अर्थ वया है?

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायायोगा बन्ध हेतवः॥ 1 (मोक्षशास्त्र) का वया अर्थ है?

सकषायात्वाज्जीत कर्मणेयोन्यान् पुदगलानदत्ता स बन्धा॥ 2 पूर्व सूत्र में पैतृ कारण बताकर यहाँ एक (मोक्षशास्त्र) में कारण बताकर वया आचार्य ज्ञास्वामी ने स्व वचन बाधित दोष किया है? अर्थात् वया इन्हीं दोनों सूत्रों में परस्पर विरोध है? नहीं तो किस प्रकार?

मिथ्यादर्शनादीनां बन्ध हेतवं समुदायेऽवर्यवे च वेदितव्यम्॥(तत्त्वार्थ वार्तिक-आ. अकलंक देव) इस वार्तिक का वया अर्थ है?

यमश्चास्त्यागमात् सिद्धमेतदृदंमोह कर्मणः।

नियातं स्वोदयाद्वन्ध प्रभूति न परोदयात्॥ 923 (पंचाध्यारी) का वया अर्थ है?

"बन्धस्य कारणं प्रोक्तं मिथ्यात्वम्" पृ. 207 यशस्तिलक चम्पू कात्य- आ. सोमदेव

जीव-कर्माणं मिछ्जासंजमकषाय-जोगेहि एयत परिणामों बंधो (धवला-बंध सामित्तविचओ पृ. 2)

मैंने जो कुछ लिखा है ऐसे यदि कुछ तृटि हो तो उसको जो सज्जन मुझे अवगत करायेगा उसका मैं उपकार मानूँगा एवं संशोधन के लिये योन्या विचार करूँगा।

सोलस कर्माणि मिछ्जत पच्छत पत्त्वयाणि मिछ्जतोदयणविणा एदेसि बंधाभावादो पणुवीस कर्माणि अणताणुबंधि पत्त्वयाणि, तदुदण्ण विणा तेसि बंधाणुवलंभादो। धवला पृ. 8 पृ. 761

यदि मिथ्यात्व बन्ध में अकिंचित्कर है और मिथ्यात्व को आधार करके अनन्तानुबन्धी कषाय ही बंधती है तब 16 प्रकृतिर्याँ मिछ्जत पत्त्वयाणि एवं मिछ्जतोदण्ण विणा एहेसिं बंधाभावादों कर्यों कहा गया? सासादन गुणस्थान से तो अनन्तानुबन्धी कषाय तक उदय में है, तब मिथ्यात्व से बन्धने वाली प्रकृतिर्याँ कर्यों नहीं बन्धती हैं? कहा जाये कि

अनन्तानुबन्धी जब विसंरोजित है (पं. जगमोहनलाल शास्त्री के मतानुसार) तब अप्रत्याख्यनादि अन्य कषायों से कर्यों बन्ध नहीं होते हैं?

14. मिछ्जतपत्त्वयो खलु बंधो उपसामगस्स बोद्धवो। उवसंने आसाणे तेण परं होई भजियत्वो॥101 जराधवला पृ.8 पृ. 311
 15. मिछ्जतं पत्त्वओ कारणं जस्स सा मिछ्जत पत्त्वओ खलु परिपूडं बंधो दंसणमोहो बंधो? मिछ्जतस्स णाणावरणादि सेस कर्माणं च। ज.ध.पृ. 12 पृ. 311
 16. मिछ्जत पत्त्वएव दंसण मोहणीयस्स बंधो होई, तेण विणा सेसपत्त्वाएहिं तब्बंधो णथिति। ज.ध. पृ. 12 पृ. 313
 17. मिछ्जहिटि वेव दंसण मोहणीयस्स मिछ्जता पत्त्वए बंधगो होई, णाणो। उपर्युक्त कसाय पाहुड एवं जय धवला टीका वया मिथ्यात्व को अकिंचित्कर सिद्ध करती है? वया कषाय से ही मिथ्यात्व का बन्ध होता है ऐसा आर्थिक्य से सिद्ध होता है? अपितु वया इसमें मिथ्यात्व अधिकरण नहीं है परन्तु अधिक कारण यह सिद्ध नहीं होता है?
 18. "एवं तिण्हमण्णदरस्स (मिछ्जत, सम्मत, सम्मामिछ्जताण्डरस्स)" कर्मस्स उदसपरिणामेण मिछ्जहिटि सम्मामिछ्जहिटि वेदय वा होटि ति (ज.ध. पृ. 12 पृ.315.
- वया इससे सिद्ध होता है कि कषाय की छाया में मिथ्यात्व पलता फूलता एवं बढ़ता है।
- सम्माइट्टि सदहृदि पत्त्वयां णियमसा दु उपइहं। सदहृदि असब्भावं अजाणमाणों गुरुणिओगा॥ ज.ध.पृ.12 पृ.321 गा.107 सुचादो तं सम्यं दरिसिज्जतं ण सदहृदि। यो वेव इवह मिछ्जहिटि ति तदो पहुडि जीवो॥ पृ.322 गा.1 मिछ्जहिटीणियमा उवइहं परावरं सदहृदि। सदहृदि असब्भावं उवइह वा अणुवइहं॥ 108 ज.ध.पृ.12 पृ.322
- आचार्य श्री विद्यासागर के गुरु आचार्य श्री ज्ञानसागर कृत संग्रह सार की टीका से कुछ उद्धत कर रहा हूँ। रग, द्वेष, मोह इन तीनों में से किसी से भी युक्त जीव का भाव बंध का कारण होता है। किन्तु उपर्युक्त तीनों विभागों से रहित आत्मा का शुद्ध ज्ञानस्थान भाव कभी बंध करने वाला नहीं होता। हैं रग भाव से जो बन्ध होता है वह मन्द होता है, द्वेष भाव से तीव्र बन्ध होता है किन्तु मोह मिथ्यात्व से अत्यन्त तीव्र बन्ध होता है।

सत्त्वुवक्ससठिदीणं मिच्छाहृष्टी दु बंधगो अणिठो।

आहरं तित्थयरं देवाउं चावि मोतूण॥ गो. कर्म. पृ. 130 गा.135

उपर्युक्त गाथा से हमें वर्णा शिक्षा, दीक्षा एवं प्रेरणा लेनी चाहिए?

नोट:- मैंने जो सूत्रादि प्राकृतादि में ही देकर हिन्दी अनुवाद नहीं दिया इसका कारण है कि "संसार मूल हेतु मिच्छां" में इन सबके अनुवाद तथा विस्तृत समीक्षा है। अतः कलेवर-वृद्धि भ्रा से यहाँ नहीं दिया है, पाठक वर्ग पुस्तक से अवलोकन करें।

प्रकरण 11

आहर मुद्रा से लगता है महाव्रत में दोष

(आहर मुद्रा आगमानुकूल या प्रतिकूल?)

आहर वर्या के समय आहर मुद्रा (दायें हाथ को दायें कंधे में अंगुलियों को मिलाकर लगाना) लेना वर्णा अनिवार्य है?

उत्तर:- मूलावार, श्रवती आराधनादि मुनि आवरण संबंधी प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं पाया जाता है। मुद्रा लेने पर एक ही वाम हस्त में पिच्छी, कमंडल दोनों लेने पड़ेंगे। जिसे लेने में असुविधा के साथ साथ ईर्यापथ शुद्धि की रक्षा भी पूर्णतः नहीं हो पायेगी वर्योंकि रस्ते में धूप से छाया में एवं छाया से धूप में प्रवेश करते समय तथा एक प्रकार की भूमि से अन्य प्रकार की भूमि में प्रवेश करते समय पिच्छी से पूर्ण स्व-शरीर का परिमार्जन करना चाहिए। यदि एक हाथ में पिच्छी, कमंडल दोनों हैं तो परिमार्जन सम्यक रूप से नहीं हो सकता। भगवती आराधना में ईर्यापथ समिति संबंधी गाथा (1185) की टीका में कहा है कि साधु प्रतिलिपित भूजं अर्थात् - दोनों भूजां लटकाकर गमन करते हैं। इस ही गाथा की टीका में आगे कहा है - विरुद्ध योगि संकमणजातं बाधा व्युदासायकृतासकृत्प्रतिलेवानं अर्थात्- विरुद्ध योगि वाले (छाया से धूप या एक वर्ण की भूमि से अन्य वर्ण की भूमि को विरुद्ध योगि कहते हैं। वर्योंकि इसमें विरुद्ध योगि वाले जीव होते हैं।) जीवों के मध्य से जाने पर उनको होने वाली बाधा को दूर करने के लिए पिच्छी से अपने शरीर को बार-बार प्रतिलेखन करते हुए गमन करते हैं।

शुद्धिभिक्षौषणाकृताः प्रलभितमहाभूजाः।

अर्हक्तागृहं प्राप्ता भ्रात्म्यन्तेस्ते यथाविधिः। 16 प. पु.

जो शुद्ध शिक्षा ग्रहण करने के अभिप्राय से युवत थे और जिनकी लम्बी-लम्बी भूजाएँ नीचे की ओर लटक रही थीं, ऐसे वे (सप्त ऋषि) विधिपूर्वक भ्रमण करते हुए

अर्हदत ऐठ के घर पहुँचे।

एषणा समिति-

एसणाणिक्षेवादाणिरियासमिदी तदा मणो गुज्जी।

आलोयभेयणं विय अहिंसाए भावणा होति ॥ (1200)

एषणा समिति, आदान निषेपण समिति, ईर्यासमिति, मणोगुप्ति और आलोक शोजन ये पाँच अहिंसावत की भावना हैं।

शिद्धाकाल, बुधुक्षाकाल और अवग्रहकाल ये तीन काल जानना चाहिए। अमुक मासों में ग्राम नगरादि में अमुक समय शोजन बनता है, अथवा अमुक कूल का या अमुक मुहूला का अमुक समय शोजन का है। इस प्रकार इच्छा के प्रमाण आदि से शिक्षा का काल जानना चाहिए। तथा मेरी शूख आज मन्द है या तीव्र है इस प्रकार अपने शरीर की स्थिति की परीक्षा करनी चाहिए। मैंने पहले यह नियम लिया था कि इस प्रकार का आहर मैं नहीं लूँगा और आज मेरा यह नियम है इस प्रकार का विचार करना चाहिए। उसके पश्चात् आगे केवल चार हाथ प्रमाण जमीन देखते हुए न अधिक शीघ्रता से, न एक-एक कर किसी प्रकार के वेग के बिना गमन करना चाहिए। गमन करते समय हाथ लटकते हुए हों, चरण निषेप अधिक अन्तराल से न हों, शरीर तिकार रहित हों, सिर थोड़ा झुका हुआ हो, मार्ग में कीचड़ और जल न हो तथा त्रस जीवों और हरितकारी की बहुलता न हो। यदि मार्ग में गधे, ऊँट, बैल, हाथी, घोड़े, भैंसे, कुत्ते अथवा कलह करने वाले मनुष्य हों तो उस मार्ग से दूर हो जाये। पक्षी और खाते-पीते हुए मृग भ्रात्रीत न हो और अपना आहर छोड़कर न भाँगें, इस प्रकार से गमन करें।

मृदुनाप्रतिलेखनेन कृतप्रमार्जनो गच्छेदिनिरन्तररासुसमाहित-
फ्लादिकं वाग्रतो भवेत् मार्गान्तररमस्ति भिन्नवर्णा वा भूमिं प्रविशन्त-
द्वर्णभूमागं एव अंगप्रमार्जनं कुर्यात्। (भा.आ. पृ. 608)

आतश्यक होने पर पिच्छी से अपने शरीर की प्रतिलेखन करे। यदि मार्ग में आगे निरन्तर इधर उधर फ्लादि पड़े हों, या मार्ग बदलता हो या शिन वर्ण वाली भूमि में प्रवेश करना होतो उस वर्णवाले भूमिशाग में ही पिच्छी से अपने शरीर को साफ कर लेना चाहिए। तुष, गोबर, रख, भूसा और घास के ढेर से तथा पत्ते, फल, पत्थर आदि से बचते हुए चलना चाहिए, इन पर पैर नहीं पड़ना चाहिए।

उपर्युक्त आगमोक्त कारण से सिद्ध होता है कि वर्तमान समय में जो कुछ शाधुमुद्रा लेकर आहर वर्या के लिए निकलते हैं वह आगमोक्त नहीं है। दिग्म्बर जैन परम्परा के किसी भी प्राचीन आचार्यप्रणीत ग्रंथ में मुद्रा लेने का विद्यान नहीं है। शास्त्रों में दोनों हाथ लटकाकर आतश्यकतानुसार जीवों की रक्षा करते हुए गमन करना

ससे शरीर का परिमार्जन हो सके ऐसा वर्णन है। यदि जो पिछ्छी से शरीर जंग करके जीवों की रक्षा करते हुए गमन नहीं करते उन्हें ईर्यापथ समिति द्वारा महाक्रतों में दोष लगता है। इसके साथ-साथ हमारे प्राचीन एवं वर्तमान था- आ. शांतिसागर, आ. आदि सागर, आ. महावीरकीर्ति आदि भी आहर नुदा लेकर नहीं जाते थे। इसका अनुसंधान मैने (आ. कनकनन्दी) तीनों ने गृहस्थ शिष्यों से लेकर साधु शिष्यों से किया एवं तीडियों कैरेट में देखा। की परम्परा कब से किसने प्रारम्भ की, किसी को नहीं मातृम्। आहर चर्या न प्रमाण प्राचीन आवार्य कृत ग्रंथ में सप्रमाण, सकारण यदि कोई मुझे प्रस्तुत हो इस मुद्रा का प्रारंभ कब, क्यों, कैसे हुआ मुझे अवगत करायेगा तब इस पुनः चिंतन करँगा। मैं तो एक सनातन सत्यग्राही, आगमनिष्ठ साधु हूँ। मैं मतवाद, परंपरावाद एवं अंधविश्वासपूर्ण धर्म एवं विज्ञान से रहित तथा विलङ्घ कुछ भी मानने के लिए असमर्थ हूँ। इन अंध परम्पराओं ने ही धर्म तत्त्विक तथ्य से जनमानस को ओझल कर दिया है एवं विकृत स्थिति में छड़ा कर दिया है। मैं जैन धर्म के हर विधा के सत्य-तथ्य को उजागर करके देश में प्रवार-प्रसार करने में लगा हुआ हूँ। इस श्रृंखला में जैन धर्म की जो दी, आगम विलङ्घ, मतवादी एवं अनावश्यक परम्पराओं को दूर करना भी मैं कर्तव्य समझता हूँ। इसलिए यह लेख लिखा है। सम्भवतः कुछ लोग कहते हैं कि चर्या के लिए साधु गमन कर रहे हैं इसकी पहचान के लिए इस मुद्रा का हुआ हो परन्तु इसका भी सप्रमाण, सकारण इस प्रथा को प्राचीन आगम के बतलाने में कोई समर्थ नहीं है।

प्रकरण 12

से बना हुआ भोजन क्या साधु एवं गृहस्थ योन्य है?

(रसोई गैस के दुष्प्रभाव)

जैन धर्मनुसार प्रत्येक द्रव्यों का परस्पर निर्मिति-निर्मितिक प्रभाव पड़ता है। साथ-साथ-पाप, धर्म-अधर्म, मन-वर्चन-कार्य, कृत-कारित-अनुमोदना से होता है। न-वर्चन-कार्य से करना, करवाना या अनुमोदना पुण्य-पाप के लिए कारक है। कष्ट/दुःख/रोगकारक उपाय से प्राप्त या तैयार किया गया भोजन भी पुण्य, दुःख, रोग उत्पादक होता है। रसोई गैस(प्रायमेस से भी) से भोजन, कष्ट, दुःख, रोग उत्पादक होता है। रसोई गैस(प्रायमेस से भी) से और उस भोजन से वया हानि है ऊसका कुछ दिन्दर्शन निम्नोक्त है-

आधुनिक शिक्षा, फैशन, आलस्यपना, दिखावा, स्टेट्स स्मिल, शहरीकरण,

घर गन्ता न हो, आपाधावी जीवन, समराशाव, जगह की कमी, विज्ञापन के मार्यादी प्रभाव, सामाजिक प्रभाव (गैस प्रयोग नहीं करने वालों को सामाजिक एवं आर्थिक इंधन की दुर्लभता आदि के कारण अधिकांश लोग रसोई गैस का प्रयोग करते हैं। प्रथमतः प्राकृतिक इंधन (लकड़ी, कोराला आदि) से बना हुआ भोजन स्पष्ट, रस गंद, अनुभव उसे हो सकता है जिसने दोनों प्रकार के इंधन से बना हुआ भोजन किया से बना हुआ भोजन से हर दृष्टि से उत्तम है। प्राकृतिक रूप से शुष्क, जीव-जंतु है परन्तु गैस की प्राप्ति से लेकर प्रयोग तथा प्रयोग के बाद भी हिंसा, प्रदूषण, रोग आदि होते हैं। यथा गैस-कुञ्ज खोटने से लेकर उसके पैकिंग, निर्यात, जलना, विस्फोट आदि से एकेंद्रिय पृथ्वीकारिक जीव से लेकर मनुष्य तक की हिंसा, प्रदूषण, रोग आदि होते हैं।

कैसे बनती है नाईट्रोजन डाई आवसाइड

रसायन शास्त्र के नियमों के अनुसार नाईट्रोजन डाई आवसाइड गैस का निर्माण उच्च ताप पर धृण किया होने से होता है। एलपीजी गैस में प्रयोग होने वाली प्रोपेन और ब्लूटेन गैसें दूँकि पेट्रोलियम गैसें हैं। अतः इनका धृण 800 से 1200 डिग्री सेल्सियस के तापक्रम पर होता है। नाईट्रोजन डाई आवसाइड बनने के लिए 400 डिग्री सेल्सियस से अधिक तापक्रम चाहिए। रसोई गैस जलने पर वातावरण में मौजूद नाईट्रोजन आवसीजन के साथ मिलकर नाईट्रोजन आवसाइड गैस बनती है। यह नाईट्रोजन आवसाइड पुनः आवसीजन के साथ किया करती है और नाईट्रोजन डाई आवसाइड का निर्माण करती है। इस दौरान नाईट्रोजन का एक अणु पुनः आवसीजन के एक अणु के साथ किया करता है फिर ये दोनों अणु पुनः आवसीजन के एक अणु के साथ किया करती है और नाईट्रोजनडाईआवसाइड का निर्माण करती है। इस दौरान नाईट्रोजन का एक अणु पुनः आवसीजन के एक अणु के साथ किया करता है और नाईट्रोजन डाई आवसाइड बनती है। इसे $N_2 + O_2 = 2NO, 2NO + O_2 = 2NO_2$ के सूत्र के रूप में व्यक्त किया जाता है।

विशिष्ट रूपों में कई घरों में हुए शोध के हाल ही जारी आँकड़ों के अनुसार घरों में गैस के कारण प्रतिघन मीटर लोप में 311 माईक्रोग्राम तक नाईट्रोजन डाई आवसाइड गैस वातावरण में घुलकर सौंसों में जहर घोलती है। प्रदूषण नियंत्रण मण्डल के निर्धारित मानकों में प्रतिघन मीटर लोप में 80 माईक्रोग्राम से ज्यादा नाईट्रोजन

साइड की मौजूदगी को खतरनाक माना गया है। राजस्थान की राजधानी श्री छोटी तौपड पर 84 रामबाग सर्किल पर 120 और अजमेरी गेट पर 161 ज म प्रतिघनमीटर इस गैस की मौजूदगी पारी गई है। इतना ही नहीं मानकों मार धूल के कर्णों (आरएसपीएम) मी मात्रा 0.75 मानी गई है। लेकिन एसोइ घर में इनकी मात्रा दुगुने से अधिक 1.6 मारकोंग्राम प्रतिघनमीटर पाई इसी से अंदर लगाया जा सकता है कि घर की महिला बेहूद विषम तेयों में अपने परिवार को शोजन पकाकर देती है। वातवरण में मौजूद 70 नाईट्रोजन वार सौ डिग्री सेलिसियस से अधिक तापमान में ही आवशीजन से जरके नाईट्रोजन डाई आवसाइड बनाती है। आम तौर पर एसोइ गैस में बर्नर एसोइ घर पर (वार से छः घण्टे तक) जलता है। बर्नर का यही उच्च 1 रसोइ घर के वायु प्रदूषण का जनक है। उच्च तापमान मिलने के कारण इसके वातावरण में मौजूद आवशीजन गैस में तेजी से कमी होती है और जन डाई आवसाइड का उत्सर्जन बढ़ता है। यही बढ़ी हुई गैस ही मूल खतरा में के अतिरिक्त एसोइ के वातावरण में अल्प मात्रा में सलफर डाई आवसाइड गैस में मानकों में अधिक वायु प्रदूषण को मापने के लिए गृहणियों के कंधे पर गैस में मानकों में अधिक वायु प्रदूषण को मापने के लिए गृहणियों के कंधे पर गैस में मानकों में अधिक वायु प्रदूषण की जाँच की। नाईट्रोजन डाई आवसाइड नाम से दोहरी रूप लगाया और प्रदूषण की जाँच की। नाईट्रोजन डाई आवसाइड गैस में नली के रखते फेफड़ों में जाती है। फेफड़ों की ऊपरी सतह पर लगी एक जन डाई आवसाइड श्वास के माध्यम से फेफड़ों में पहुँचती है और फेफड़ों जन डाई आवसाइड श्वास के साथ इसे भी हृदय के पास भेजती है।

सी डिल्ली पर नाईट्रोजन डाई आवसाइड छोटे-छोटे घाव कर देती है। जन डाई आवसाइड श्वास के माध्यम से फेफड़ों में पहुँचती है और फेफड़ों के रखते फेफड़ों में जाती है। फेफड़ों की ऊपरी सतह पर लगी एक नली के रखते फेफड़ों में जाती है। फेफड़ों के रेग, खाँसी, रक्तात्पत्ता, धूटन, फूलना, लगातार छींक आगा, त्वचा में एलर्जी, स्मृति लोप, वक्कर बेहोशी, उपर्युक्त कारणों से गैस से शोजन बनाने वाली(वाला भी) अस्थमा, एलर्जी और इससे युक्त होने के कारण जैन सुधा को श्रमण करते हैं। वे इस अभ्यन्तर से युक्त होने के साथ-साथ अमूल्दृष्टि (राथार्थ ग्राही दृष्टि, परीक्षा करके सत्य को स्वीकार करना) उपगूहन (स्वगुणों को बढ़ाना और दूसरों के दोषों को गुप्त रखना) स्थितिकरण(धर्म से विचलित हुए ख-पर को धर्म में पुनः स्थित करना), वात्सल्य (धार्मिकजन के प्रति निर्मल प्रेम), प्रभावना (प्रकृष्ट भावना), सम्यज्ञान (समताज्ञान, यथार्थ ज्ञान, वीतरान विज्ञान) आदि से युक्त होते हैं। इसे ही प्रकारान्तर से संक्षिप्ततः मोक्षमार्ग, रनन्द्रय, दस लक्षणी धर्म, 28 मूलगुण- 34 उत्तर गुण कहते हैं। प्रवतनसार आदि ग्रन्थों में कहा है- " चारित खतु धमो धमो यो सम्मोति पिदिहं" (आ. कुण्ठ-कुण्ठ) अर्थात् चारित ही गिरुवय से धर्म है जो कि समता हीत मुनि द्विपायन के कारण द्वारिका भ्रम हुई, लाखों-करोड़ों मनुष्य-पशु-कीट-पतंग आदि जलकर अकाल मरण को भी प्राप्त हुए। इन सब उज्ज्वल एवं अंधकार पक्षों

उपर्युक्त समस्त दृष्टिकोण से गैस से शोजन बनाना, उस शोजन को ग्रहण जा भी दोषकारक है, हिंसा करक है, रेग करक है। अतः गृहणियों को गैस का न नहीं करना चाहिए और साधु-सन्तों को गैस से बना हुआ शोजन ग्रहण नहीं

करना चाहिए। वयोंकि साधुओं के आहार समस्त प्रकार के उद्गम, उत्पादन, अंगार दोष एवं अन्तराय से रहित होना चाहिए। इन उद्गमादि दोष में मुख्यतः ख-पर के कल्प करक तत्व, उपाय अन्तर्गत है। रेगी से आहार लेना, रेग करक आहार लेना, पशु, मनुष्य आदि की रोगों की आवाज सुनने के बाद या देखने के बाद आहार लेना, अग्नि कारिक जीव (अग्नि) का बुझते देखने पर, धूआँ होने पर, दुर्गन्ध, ज्वानि होने पर, मार-काट आदि शब्द सुनने पर भी यदि साधु आहार ग्रहण नहीं कर सकते हैं तक उपर्युक्त गैस के दोष के होते हुए भी साधु व्या गैस से बना हुआ आहार कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते हैं, नहीं करना भी चाहिए। यह साधुओं के लिए ही अयोग्य नहीं है परन्तु श्रावकों के लिए भी अयोग्य है। आवार्य समंतभद्र श्वामी ने श्रावकों के शोगोपशोग परिमाणव्रत के प्रकरण में कहा है-

यदनिष्ठ तदद्वत्येवच्चानुपसेव्यमेतदपि जग्यात्।
अभिसंनिधकृता विरतिविषयाद्योग्यात् व्रतं भवेत्॥

जो पदार्थ अग्निष्ट(प्रकृति) विरुद्ध, स्वास्थ्य के लिए अहितकर है उसको त्याग देना चाहिए और अनुपसेव्य (लार, मूत्र, झूठन आदि) है उसे भी छोड़ देना चाहिए क्योंकि संकल्प पूर्वक त्याग करने को व्रत कहते हैं।

प्रकरण 13

मुनि सुधासागर जी ससंघ-से प्रतिशोध नहीं परिशोधन की भावना

श्रु-मित्र, हानि-लाभ, मान-अपमान, अपना-पराया आदि में साम्याभाव रखना समता है और इससे युक्त होने के कारण जैन सुधा को श्रमण करते हैं। वे इस अभ्यन्तर से युक्त होने के साथ-साथ अमूल्दृष्टि (राथार्थ ग्राही दृष्टि, परीक्षा करके सत्य को स्वीकार करना) उपगूहन (स्वगुणों को बढ़ाना और दूसरों के दोषों को गुप्त रखना) स्थितिकरण(धर्म से विचलित हुए ख-पर को धर्म में पुनः स्थित करना), वात्सल्य (धार्मिकजन के प्रति निर्मल प्रेम), प्रभावना (प्रकृष्ट भावना), सम्यज्ञान (समताज्ञान, यथार्थ ज्ञान, वीतरान विज्ञान) आदि से युक्त होते हैं। इसे ही प्रकारान्तर से संक्षिप्ततः मोक्षमार्ग, रनन्द्रय, दस लक्षणी धर्म, 28 मूलगुण- 34 उत्तर गुण कहते हैं। प्रवतनसार आदि ग्रन्थों में कहा है- " चारित खतु धमो धमो यो सम्मोति पिदिहं" (आ. कुण्ठ-कुण्ठ) अर्थात् चारित ही गिरुवय से धर्म है जो कि समता हीत मुनि द्विपायन के कारण द्वारिका भ्रम हुई, लाखों-करोड़ों मनुष्य-पशु-कीट-पतंग आदि जलकर अकाल मरण को भी प्राप्त हुए। इन सब उज्ज्वल एवं अंधकार पक्षों

ध्यान में रखकर हम यह परिशोधन का कार्य कर रहे हैं। अनेक साहित्य (भ्रमण संहिता, संसार मूल हेतु निष्ठां, (3) जिनार्थना भाग-1, 2 आदि) लेख, पंप्लेट दे में विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखा हूँ जो कि 15-20 वर्षों से प्रकाशित होते आ हैं। अभी यह पुस्तक भी इस सम्बन्ध में लिखा हूँ जो कि प्रकाशित होकर यान के लिए प्रस्तुत है। परन्तु आवश्यकता के यहाँ अनुसार संक्षिप्त में वर्णन रहा हूँ जिससे कम समय में सामान्य जनकारी बिन्दुवार प्राप्त हो। (1) अतिकरण, उपगूहन, वात्सल्य, प्रभावना अंग के अनुसार पहले स्वयं को आदर्श और के बाद दूसरों के दोष एकान्त में बताकर उसका परिमार्जन करने की शिश्य करें। दूसरों के समक्ष, सार्वजनिक स्थल, धर्म-सभा आदि में निन्दा न करें, प्रकट न करें। इससे स्व-पर की भाव हिंसा होती है, लडाई-झगड़ा, फूट पड़ती मिथ्यात्व का दोष लगता है संघ से बहिष्कार का भी विधान है। (2) आगम एवं शान्तिसागर जी के नाम पर उनके भी विरुद्ध कथनी-करनी न करें। (3) प. पू. गीर्य आचार्य आदि की समाधि को अकाल मरण जैसे ओछे शब्द से अभिहित न। इससे अजैनों को जो न्यायालय में समाधि मरण को आत्महत्या-सतीप्रथा कक्षा रखने के लिए लोकहित याचिका पेश किया है उन्हें समर्थन मिलेगा। (4) इ यदि आगम के पूजा-पाठ, अभिषेक, रीति-रिवाज, परम्परा, आहार, विहार, धनी-करनी करता है तो उनका विरोध न करें भले वे किसी भी पंथ-मत-परम्परा को माने, वयोंकि धर्म सत् विश्वास से प्रारम्भ होता है न कि वित्त से। -मत-संघवाद के दुराग्रह को छेड़े। (5) प्राचीन मन्दिर, मूर्ति, प्रशस्ति, शिलालेख, 1-यक्षणी की मूर्ति को तोड़-फोड़-परिवर्तन कर के उसकी प्राचीनता, महिमा, नीमा, इतिहास, परम्परा को नष्ट न करें। जिणोंद्वारा में भी उपर्युक्त विषयों को जन में रखना अनिवार्य है। सार्वजनिक मन्दिर, तीर्थों, मूर्ति आदि कोई व्यक्ति श्रेष्ठ, संघ विशेष, परम्परा विशेष या कमेटी के नहीं होते हैं। अतः सार्वजनिक भूमि के बिना और जो प्राचीन पुरातत्व के अन्तर्गत है तो उसकी अनुभूमि के बिना भी तोड़-फोड़-परिवर्तन न करें। राजस्थान के लोग भौले-सरल-सहज, गुरु न, विनम्र, दानवीर होने के कारण राजस्थान की प्राचीन परम्परा के मन्दिर आदि वास्तु दोष के बहाने तोड़-फोड़ करते हो परन्तु बुन्देल खण्ड/म.प्र. में सैकड़ों देवर के मुख्य द्वार छोटे होने से भगवान् (मूर्ति) की दृष्टि कटती है, जमीन के बार या नीचे भी मूर्ति है, अनेक मन्दिरों के मुख्य द्वार विपरीत दिशा में हैं परन्तु आप को वास्तुदोष के बहाने विद्युत्संकरने नहीं देंगे।

(6) अन्य पंथ-मत-परम्परा वालों से भेद-भाव, ईर्ष्या-दोष करके उन्हें नम्रकरार करो, उन्हें आहार मत दो न कहो। उन्हें अपने प्रवास के ग्राम, नगर,

पंचकल्याणक आदि में आने से रोको मत, विरोध मत करें आगम एवं प्रायशित्वत ग्रन्थ के अनुसार समाचार विधि के अनुसार आगुन्तम साधु आदि को लेने के लिए जावे, विदाई करने लिए जावें, नगोऽस्तु प्रतिनमोऽस्तु आदि करें, वात्सल्य भाव से सेवा-त्यवस्था करें। (7) जिस किस भी भावना-कथनी-करनी से स्व-पर-संघ-समाज-राष्ट्र-विश्व में तनाव, संवलेश, विषमता, लडाई-झगड़ा, फूट हो ऐसा कार्य नहीं करें। (8) आ. विद्यासागर जी अपने शिष्य एवं भक्तों को उपर्युक्त अयोग्य कार्य करने के लिए रोकें। परन्तु विडम्बना है कि न आ. विद्यासागर ऐसा करने में समर्थ है न उनके शिष्य (विशेषतः जो पृथक विहार करते हैं) उनके वश में है जैसा कि उनकी कथनी-करनी से यिन्द्र होता है। स्वयं सुधासागर जी 15.16 वर्षों से गुरु के पास न गये हैं न गुरु का आने के लिए आदेश/गिरेश है। (9) जैन धर्म के उदारवादी, अनेकान्तात्मक, वात्सल्यमयी, एकतापूर्ण, संहिष्णु, विश्वकल्याणकारी, वैज्ञानिक आध्यात्मिकवाद को अपनायें एवं इसका प्रचार-प्रसार देश-विदेश में करें। मैं यह सब इसलिए लिखा हूँ- यदि आप (विशेषतः मुनि सुधासागर) इन सब दोषों से युक्त होते हुए भी दूसरे साधु-संत उनके भक्त, श्रावक, विद्वान के बारे में सामान्य जन के लिए भी अयोग्य वचन 10.12 वर्षों से बोल रहे हों, उन्हें नम्रकरार एवं आहारदान नहीं करने का नियम, प्रवतन, प्रस्तावना पारित कर सकते हों, प्राचीन मन्दिर आदि को तोड़ सकते हों, समाज में अशान्ति फैला सकते हों तो फिर दूसरे भी आप के यथार्थ दोष के बारे में लिख-बोलकर धर्म की सुरक्षा, समृद्धि करने का वैधानिक, नैतिक, धार्मिक अधिकार भी रखता है।

प्रस्ताव

उदयपुर संभाग के दिग्म्बर जैन समाज की यह सभा जो आचार्य भरतसागर जी महाराज के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हेतु उपस्थित हुई है, सर्व सम्मति से निम्नलिखित प्रस्ताव पारित करते हैं:-

- परम पूज्य 108 आचार्य भरतसागर जी महाराज की समाधि के प्रति परम पूज्य 108 आचार्य विद्यासागर जी द्वारा उद्गारित गौरवपूर्ण वर्णनों को हृदयांगम करते हुए दोनों आचार्यों के प्रति गौरव अनुभव करती है व मुनि पुंगव सुधासागर जी द्वारा अकारण प्रयुक्त अशिष्ट वर्णनों की निन्दा करती है और अपेक्षा करती है कि इसकी पुनरावृत्ति नहीं होगी।
- साधुओं में परस्पर व्याप्त वैमनस्य को, जो कि उदयपुर में मुनि पुंगव सुधासागर जी महाराज के दिनांक 23.1.2006 के प्रवतन में स्पष्ट है, को नष्ट करने की छम साधुओं से विनती करते हैं। मूलावार संबंधी उनकी समस्याओं को वे परस्पर मिलकर कमरे में निपटायें कृपया सड़कों का विषय।

ज बनने दें। जो साधु परस्पर वैमनस्य को प्रधानकर चर्चा व निष्ठा करते हैं, हम उनके पिछी-कमण्डल के प्रति नत मस्तक होने पर भी उनकी वैयाकृति आदि से स्वर्ण को पृथक् करते हैं।

महामरत्काशीषेक के अवसर पर पूरा आचार्य 108 वर्धमानसागर जी के आचार्यत्व गतिशील 4 व 5 फरवरी में कुण्डलपुर आदि स्थानों पर हो रहे पुरातत्व सम्पत्तियों को विरुद्ध तीर्थ रक्षा कमेटी के अध्यक्ष श्री नरेश जी सेठी की अनुमोदना पूर्वक जो प्रस्ताव पारित हुआ था, हम सब उसकी अनुमोदना करते हैं व पुरातत्व विधवंसकों के पक्ष में कभी खडे नहीं रहेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं।

मूर्तियों को निकालने आदि के चमत्कार सार्वजनिक रूप से किये जायें, एकान्त में नहीं। जिस कार्य को एकांत में किया गया है, उसका प्रवार-प्रसार न किया जाय व जो करता है, हम उनसे नौ कोटि से रखर्यं को पृथक् करते हैं।

पानावन्द जी जैन, पूर्व जस्टीस, जयपुर
अनुमोदक

सेठ शांतिलाल नागरा, अध्यक्ष, दिग्म्बर जैन समाज, उदयपुर
श्री देवेन्द्र छाप्या, महामंत्री, दिग्म्बर जैन समाज, उदयपुर
सेठ बसन्त पंचोरी, 18000 दशा हुमड समाज, साबला
सेठ नाथुलाल जैन, लोहारिया

श्री मणिलाल जैन, अध्यक्ष, अनेकान्त गोमटगिरी ट्रस्ट, लोहारिया
सेठ दिलीप श्री नागामिया, सेठ दशा हुमड पंच, सागवाडा
सेठ राजमल कोठारी, ऋषभदेव

श्री नाथुलाल जैन, आणदा, अध्यक्ष, खडक हुमड समाज
श्री कान्तीलाल जी सुरावत, अध्यक्ष, दशा नरसिंहपुरा समाज, ऋषभदेव,
श्री सुरेश जी सिंघवी, बांसवाडा

श्री महावीर जी बोहरा, मंत्री, दशा नरसिंहपुरा समाज, बांसवाडा
श्री राजमल जी किकावत, बांसवाडा

श्री इन्द्रमल जी शाह, अध्यक्ष, हुमड समाज, बांसवाडा
बांसवाडा श्री तेजमल पाल सागरा, बांसवाडा
श्री डॉ दिलीप जैन, मोहन कॉलोनी, बांसवाडा
श्री मोहन नागरा, उदयपुर
श्री अशोक शाह, उदयपुर

असत्य रूपी हिंसा का लक्षण

यदिदं प्रमाद-योगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तदेदाः सन्ति चत्वारः।।।।।

Wherever any wrong statement is made through Pramada Yoga (Careless activity of body, mind, speech), it is certainly known as falsehood. It is divided into 4 kinds.

अन्वयार्थः- (सत्) जो (किं अपि) कुछ भी (प्रमादयोगात्) प्रमाद के योग से (इदं) यह (असद् अभिधानं) असत्य कथन (विधीयते) कहा जाता है (तत्) वह (अनृतं) असत्य (विज्ञेयं) जानना चाहिये (तदेदाः अपि) उस असत्य के ग्रेट भी (चत्वारः) चार संति) है।

व्याख्या-भावानुवादः- प्रमाद के योग से जो कुछ असत् कथन कहा जाता है वह सब झूठ है। उस असत्य के चार ग्रेट हैं। यथा-सदभाव को छुपाना और अशुद्ध भाव का कथन करना जैसा कि आत्मा है परन्तु परलोक नहीं है, असत्य का उद्भावन करना यथा श्याम तन्दुल के समान या अंगुष्ठ पूर्व मात्र या सर्वगत अथवा निषिक्य आत्मा है। जो विद्यमान अर्थ है उसका भी कथन यदि कषाय तथा प्राणी पीड़ा सहित है तो वह कथन विपरीत है, असत्य है वयोंकि जो हिंसाकारक है वह सत्य होते हुए भी असत्य है। सत् प्रतिषेध तथा शूत-गिह्व का एक ही अर्थ है उसमें अर्थ ग्रेटनीय है। अशूत उद्भावन तथा असद् उद्भावन दोनों में नाम ग्रेट होते हुये भी अर्थ ग्रेट नहीं है। वयोंकि असद् उद्भावन का अर्थ है जो नहीं है उसको प्रकट करना।

समीक्षा:- पहले ही आचार्य श्री ने प्रतिपादन किया था कि प्रमाद रूपी हिंसा में असत्य आदि पाप गर्भित है केवल प्राणमिक शिष्य को समझाने के लिये असत्य आदि का कथन विस्तारित किया जाता है। इस श्लोक में आचार्य श्री असत्य को प्रमाद में अनर्गत करके उसे हिंसा रूप से सिद्ध कर रहे हैं। केवल झूठ/असत्य का कथन करना मिथ्यारूपी हिंसा नहीं है परन्तु कषाय/प्रमाद से सुक्त होकर सत्य भी कहना असत्य है हिंसा है। समान्यतः सुना जाता है और कुछ छोटी-छोटी पुस्तकों में भी पढ़ाया जाता है कि जो देखा हुआ जो सुना हुआ उस को उसी प्रकार नहीं बोलना असत्य है परन्तु यह परिभाषा पूर्ण तथा यथार्थ नहीं है। जैसैः धीवर ने एक व्यक्ति को पूछ कि मछलियाँ कहाँ हैं? उस व्यक्ति ने देखा था कि तालाब में मछलियाँ हैं। उसने बता दिया कि उस निश्चित तालाब में मछलियाँ हैं। उस धीवर ने जाकर तालाब में जाल बिछाकर मछलियों को पकड़ लिया तो वहा उस व्यक्ति ने जो सत्य बोला वह सत्य सत्य है? नहीं, वह सत्य सत्य नहीं है वयोंकि उससे अनेक जीवों की हिंसा हुई। इसी प्रकार काना को काना, अंधे को अंधा, लौंगड़े को लौंगड़ा आदि

विद्वाना अपमानित करना सत्य नहीं है क्योंकि उससे भाव हिंसा होती है।
। संक्षिप्त सार गर्जित परिभाषा निम्न प्रकार की है:-

हेत-मित-पिण्ड वर्चः जीव हित साधकम्।

स्रु सत्यं आगम वर्चः स्याद्वाद सहितम्॥

जो वर्चन हितकर है, सीमित है, प्रियकर है, जीव के लिये हितकारी है,
अनुकूल है और स्याद्वाद सहित है वही वर्चन सत्य है।

जो सत्य एवं मधुर वर्चन होते हुए भी यदि कुमार्ण में प्रवृत्त करता है तो वह
सत्य वर्चन नहीं है अपितु असत्य वर्चन है। इसलिये वर्चन हितकर होना
यथार्थ वर्चन भी अनर्गत प्रवृत्ति से, वाचाल स्वरूप से एवं अर्योन्या
त्र-कालादि में बोलने पर वे वर्चन सत्य नहीं हैं क्योंकि वे वर्चन मिति-विशेषण
न हैं। सत्य वर्चन भी यदि प्रिया नहीं है, कर्ण मधुर नहीं है, मृदु नहीं है और
न से अप्रियता, छेष, कटुता पैदा होती है तो वर्चन भी सत्य वर्चन नहीं है।
प्रणीत आगम से विशेष वर्चन भी सत्य वर्चन नहीं है। इसलिए सत्यवादी को
नुकूल बोलना चाहिए। आगम के अनुकूल बोलते हुए भी हठबाहिता से स्वार्थ
सिद्धि के लिए अनेकान्त स्याद्वाद को छोड़कर अपेक्षा को दुर्लक्ष्य करके जो
है वह भी बड़ा असत्य है।

सत्यं बूयात्प्रियं बूयात् न बूयात्सत्यमपियम्।

प्रियं चानृतं बूयात् एष धर्मः सनातनः॥

सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, सत्य होते हुए भी अप्रिय नहीं
॥ चाहिए। प्रिय असत्य वर्चन नहीं बोलना चाहिए यह सनातन धर्म है।

सांच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।

जाके हृदये सौंच है ताके हृदये आप।।

सत्य के बराबर तप नहीं है, झूठ के बराबर पाप नहीं है, जिसके हृदय में
है उसके हृदय में भगवान् है।

झूठी गवाही देना, कोर्ट में अन्याय पक्ष को लेकर वकालात करना, दूसरों को
। के लिए जाल-साजी वर्चन कहना आदि असत्य वर्चन है। जो असत्य बोलता
प्रको पर्तमान भ्रत में जित्खा छेदन दण्ड मिलता है, परभ्रत में एवं मुख्य
प्रेशिन रोग होते हैं तथा उसका कोई विश्वास नहीं करता है और ऐसा
चाशाली परभ्रत में मृक बनता है।

सत्य का निषेध करना हिंसा

स्वक्षेप-काल-भावैः सदपि हि यस्मिन् निषिद्धयते वस्तु।
तत्प्रथमसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र॥ 921॥

A statement by which the existence of a thing with reference to its position, time, and nature is denied is the first kind of falsehood; for example, to say "Deva Datta is not here" (When he is present).

अन्वयार्थः- (स्वक्षेपकालभावैः) अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से (यदपि)
विद्यमान भी (वस्तु) वस्तु (यस्मिन्) जिस वर्चन से (निषिद्धयते) निषिद्ध की जाती है
(तत्) वह (प्रथम) पहला (असत्य) असत्य है। (यथा) जैसे (अत्र) यहाँ पर देवदत्तः
नास्ति देवदत्त नहीं है।

व्याख्या-भावानुवादः- सत्य वस्तु सत्य वस्तु को भी स्वक्षेप काल, भाव
से निषेध करना प्रथम असत्य है। जैसे-देवदत्त की उपस्थिति में भी देवदत्त नहीं है
यह कहना। इसी प्रकार निश्चित सत्य वस्तु की विद्यमानता में भी उसका निषेध
करना प्रथम असत्य है। ऐसे ही द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव आदि की अपेक्षा विद्यमान होते
हुए भी निषेध करना प्रथम असत्य है।

असत्य का कथन हिंसा

असदपि हि वस्तुरूपं, यत्र परक्षेप-काल भावैस्तेः।

उद्भावयते द्वितीयं तदनृतमस्मिन्यथाऽस्ति घटः॥ 931॥

Where a thing does not exist, with reference to the position, time and
nature of other objects and it is said to exist, the statement it the second kind
of falsehood e.g., to say "Pitcher is here"(When it is not actually there).

अन्वयार्थः- (यत्र) जिस वर्चन से (असत् अपि वस्तुरूपं) अविद्यमान भी
वस्तुरूपरूप (तैःपरक्षेपकालभावैः) उन भिन्न क्षेत्र भिन्न काल भिन्न भ्रतों द्वारा
(उद्भावयते) कहा जाता है (तत् द्वितीयं अनृतं) वह दूसरे प्रकार का झूठ है (यथा
यस्मिन् घटः अस्ति) जिस प्रकार इस जगह घट है।

व्याख्या-भावानुवादः- जो परक्षेप, काल भाव से असत् होते हुए भी उसे
वस्तुरूप से सत् रूप से प्रकटीकरण करना वह द्वितीय असत्य वर्चन है। अविद्यमान
घट को अर्थात् पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में घट नहीं होते हुए भी घटरूप में कहना
इसका उदाहरण है।

समीक्षा:- स्व द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव से द्रव्य सत् होते हुए भी पर द्रव्य क्षेत्र
कालभाव की अपेक्षा उसका अस्तित्व नहीं होने से उसका अभाव है इसलिए असत्
है। ऐसे असत्य का जो कथन किया जाता है वह द्वितीय असत्य है।

अन्यथा रूप कथन हिंसा

वस्तु सदपि स्वरूपा पररूपेणाऽभिधीयते यस्मिन्।

अनृतामिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथा अश्वा॥ 94॥

The third kind of falsehood is that, where as existing thing is represented as something different from what it really is, for example, when a cow is said to be a cow.

अन्तर्यार्थः- (यस्मिन्) जिस वचन में (स्वरूपात् वस्तु सत् अपि) अपने से वस्तु उपरिथत है तो भी (पररूपेण अभिधीयते) परस्तरूप में कहा जाता दं तृतीय अनृतं विज्ञेयं यह झूठ का तीसरा ब्रेट समझना चाहिये (यथा गौ डुटि) जिस प्रकार गौ को धोड़ा कह देना।

व्याख्या-आवानुवादः- स्व-स्वरूप से सत्य वस्तु को पर रूप से कथन यह तृतीय असत्य है। यथा गौ को धोड़ा कहना। गौ स्व- स्वरूप से स्व आकार रूप में विद्यमान होते हुए भी उसे अश्व रूप में कथन करना तृतीय असत्य है। गौ का स्वरूप अलग अस्तित्व को रखता है तथा अश्व का स्वरूप अलग च को रखता है। दोनों अपना-अपना अस्तित्व रखते हुए भी एक के अस्तित्व ऐ के अस्तित्व का अभाव है। ऐसी परिस्थिति में एक के अस्तित्व में दूसरे अस्तित्व अरोपित करना तृतीय असत्य है।

समीक्षा:- प्राचीन चार्वाक मतवादी तथा आधुनिक कुछ भौतिक विज्ञानवादी निक प्रक्रिया से जायमान एक अवस्था विशेष को सा शक्ति विशेष को जीव है। यह मत ऊपर वर्णित तृतीय असत्य के अन्तर्गत है वर्णोंकि शोध का च पृथक है और भौतिक वस्तु का अस्तित्व पृथक है। पुद्गल के अस्तित्व के अस्तित्व को मानना या आरोपित करना तृतीय अस्तित्व का एक उदाहरण

अशिष्टादि कथनः हिंसा

गर्हितमवद् -संयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।

सामन्येन त्रेधा, मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥ 95॥

इदं अनृतं तुरीयं मतं, यत् अनृतं सामन्येन त्रेधा। गर्हित अवघसंयुतं अपि वचनरूपं भवति। हि इति निश्चितं अनृतं असत्यं तुरीयं

अभूतोद भावनं मतं कथितं। तत् सामन्येन त्रिधा भवति। यत् कारणात् गर्हितं कुत्सितं पुनः अवघसंयुतं पाप-संयुक्तं अप्रिय अनिष्टमपि वचनरूप त्रेधात्मकं तत् चतुर्थं असत्यम्। यथा मर्मकातं प्रावचनादि।

Speech of 3 kinds, Garhita, Condemnable; Savadya, sinful, or Apriya, disagreeable, is ordinarily speaking, said to be the fourth kind of falsehood.

अन्तर्यार्थः- (यत् वचनरूपां) जो वचनस्तरूप (गर्हितं) निर्दनीय (अवघसंयुतं) देष सहित (अपि अप्रियं) और अप्रिय कठोर (भवति) होता है (इति) इस प्रकार (त्रेधा) तीन प्रकार (मतं) माना जाया है।

व्याख्या-आवानुवादः- चतुर्थ प्रकार के असत्य के तीन ब्रेट हैं यथा गर्हितं, पाप संयुक्त, अप्रिय रूप वचन। इसमें अभूत का उद्भावन किया जाता है। जो कुत्सित वचन है उसे गर्हित वचन कहते हैं। जो पाप से संयुक्त वचन है उसे अवघ संयुक्त वचन कहते हैं। जो अनिष्टकारी वचन है उसे अप्रिय वचन कहते हैं। मर्म को क्षत विक्षत करने वाले कठोर निर्दनीय अंगिमा युक्त चुगलखोर वचन आदि इसके अन्तर्गत हैं।

गर्हित वचन भी हिंसा

पैशून्य-हास, गर्भ, कर्कशमसमंजसं प्रलापितं च।

अन्यदपि यदुत्सूत्रं, तत्सर्वं गर्हितं गदितम्॥ 96॥

त्रेधात्मकं असत्यं तत्र गर्हितं स्वरूपं प्रलप्यति। तत् सर्वं गर्हितं गदितं। तत्सर्वं वाक्यं गर्हितं कुत्सितं गदितं भणितं। तत्सर्वं किं? पैशून्य-हास-गर्भ। पिशुनस्य भाव पैशून्यं मात्सर्यं हास्यो हास्याते गर्भे मध्ये यस्य तत्। पुनःकर्कशा कठोररूपं अपरं असमंजसं असश्यं अयोन्यमित्यर्थः। च पुनः प्रलापितं बहुभाषितं अन्यदपि उत्सूत्रं भगवद्गुरुं बाह्यं एतत्सर्वं कुत्सितं भणितं।

Garhita speech is said to be all that, which is back biting harsh, unbecoming, nonsensical, or otherwise uncanonical.

अन्तर्यार्थः- (पैशून्य हास गर्भ) पिशुनपना अर्थात् चुगलखोरी दूसरों की झूठी-साँची बुराई करना हैंसी सहित वचन बोलना (कर्कशं) क्रोध पूर्ण दूसरे के तिरस्कार करने वाले वचन बोलना (असमंजस) कुछ का कुछ असंबद्ध बोलना (प्रलापितं च) जिन वचनों का कोई उपयुक्त अर्थ नहीं है ऐसे निर्णय एवं निःसार वचनों को बोलना (अन्यत् अपि यत् उत्सूत्रं) और भी जो वचन भगवत् आज्ञा से विलङ्घ जिनागम कथित सूत्रों की आज्ञाओं से विलङ्घ है (तत्सर्वं) वह सब वचन (गर्हितं) नियं गर्दितं कहा जाया है।

व्याख्या-आवानुवादः- तीन प्रकार के असत्य में से यहाँ गर्हित वचन का प्रलपण करते हैं। जो वचन पैशून्य अर्थात् चुगलखोरी/अट्टहास्य से भरा है उसे गर्हित वचन कहते हैं। पुनः जो वचन कर्कश, कठोर, असमंजस, सन्देहात्मक,

भ्रष्ट वर्णन है वे भी गहित वर्णन है। इसी प्रकार जो बकवास से भ्रष्ट शिक्षिक बोलना, उत्थ्रुत बोलना, भगवान के प्रामाणिक वर्णन से बाह्य

प्रश्न:- उपर्युक्त वर्णन से विशेषतः प्रमाद, कुटिलता, धूर्तता, कठोरता, दुर्गुण पाये जाते हैं। इससे दूसरों को तो कष्ट पहुँचता ही है परन्तु स्वयं तथा समर्थ का दुरुपर्योग होता है। अन्तरंग से दूषित भ्रात से प्रेरित होकर प्रयोग करने के कारण स्वयं को तो पाप बन्ध होता ही है तथा दूसरों के लेख परिणाम होने के कारण दूसरों के पापबन्ध का भी कारण बनता है। जहाँ उपर्युक्त वर्णनों से शब्द प्रदूषण होता है। कलह, तनाव, वैमनस्य फूट पड़ती है जिससे मानसिक, पारिवारिक तथा सामाजिक वातावरण जाता है। प्रायः तुच्छ व्यक्ति उपर्युक्त वर्णन का प्रयोग करते हैं। मेरा स्वयं है भारत के अधिकांश व्यक्ति उपर्युक्त वर्णन में ही अधिक समर्थ तथा दुरुपर्योग करते हैं। मनिदर हो या स्कूल, धर्मसभा हो या संसद भ्रतन, हो या सामाजिक स्थल यत्र-तत्र सर्वत्र भारत में उपर्युक्त वर्णन का ही माहौल रहता है। महत्वपूर्ण और जरूरी विषय की चर्चा तथा चर्चा को गौण रूपक विषय को ही मुख्यता देते हैं। अधिकांश अनुशासन भ्रंग के लिये रूपक विषय को ही मुख्यता देते हैं। जो व्यक्ति बाल सुलभ बच्चों को शोर-शराबे को खराब रूपक कथन ही है। जो व्यक्ति धार्मिक स्थल में, सार्वजनिक स्थल में यहाँ तक कि झंटिएं वे ही व्यक्ति धार्मिक स्थल में, सार्वजनिक स्थल में यहाँ तक कि ज़ में असत्य बर्बर व्यक्तियों के समान व्यवहार करेंगे।

सावध वर्णन रूपी हिंसा

अन-भेदन-मारण कर्षण-वाणिज्य-चौर्य वर्णनादि।

त्सावद्यं यस्मात्प्राणिवदाद्यः प्रवर्तन्ते॥ 97॥

अन्त्यार्थः- (छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यतव्यादि) छेदना, भेदना, मारण, वाणिज्य और चौरी आदि के जो वर्णन हैं (तत् सावद्यं) वह दोष सहित वर्णन तु व्योक्ति (प्राणिवदाद्यः) इन वर्णनों से प्राणियों का वद्य आदि हिंसा के कर्ता होते हैं।

प्रारब्ध्या-भ्रावानुवादः- यहाँ पाप का स्वरूप कथन कर रहे हैं। जिससे या आदि होता है वह सब सावध है अर्थात् पाप स्वरूप है। जिस वर्णन से या आदि होते हैं वे सब वर्णन सावध वर्णन हैं। जैसे कि छेद करो, काटो, भेदन

करो, विदारण करो, मारो, प्राण से वियोग करो, कृषि करो, वाणिज्य करो, चौरी करो आदि वर्णन सावध वर्णन है। ऐसे वर्णन से प्राणी वधादि होते हैं इसलिये ऐसे वर्णन का त्याग करना चाहिये।

अप्रिय वर्णन रूपी हिंसा

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोक-कलहकरम्।

यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्॥ 98॥

तत्सर्व अप्रियं ज्ञेयं सर्व वावर्यं अप्रियं अनिष्टं ज्ञेयं। सर्व कि? अरतिकरं द्वेषकारकं तथा भीतिकरं पुनः खेदकरं पुनः वैरं व शोकश्व कलहश्व ताळु करोति तत् वावर्यं यत् यस्मात् कारणात् परस्य जीवस्य अपरं अपि तापकरं वावर्यं अप्रिय अप्यतो।

Know all that as Apriya, which causes uneasiness, fear, pain, hostility, grief, quarrel, or anguish of mind to another person.

अन्त्यार्थः- (अतिकरं) वित्त में आकुलता पैदा करने वाला एवं धैर्य को नष्ट करने वाला विद्वेषोत्पादक (भीतिकरं) भ्रष्ट उत्पन्न करने वाला (खेदकरं) वित्त में खेद पश्चात्पाप उत्पन्न करने वाला (वैरशोककलहकरं) शत्रुता उत्पन्न करने वाला, शोक उत्पन्न करने वाला, लड़ाई झगड़ा करने वाला (एद अपरं अपि) और जो भी (परस्य) दूसरे को (तापकरं) संताप-कष्ट देने वाला वर्णन है। (तत् सर्वं) वह समस्त (अप्रियं) अप्रिया, असुहावना-श्रवण कर्तु वर्णन (ज्ञेयं) समझना चाहिये।

प्रारब्ध्या-भ्रावानुवादः- निम्नोक्त समस्त वावर्य अप्रिया/अनिष्ट तथा हिंसात्मक हैं। जो वर्णन अरतिकर अर्थात् द्वेषकारक है तथा भीतिकर अर्थात् भ्रावाकारक है और भी जो खेद को करने वाला वैर को करने वाला, शोक को करने वाला, कलह को करने वाला है ये सब वर्णन अप्रिय वर्णन हैं। व्योक्ति इन वर्णनों से दूसरे जीवों को ताप पहुँचता है, कष्ट पहुँचता है।

समीक्षा:- केवल अविद्यमान को विद्यमान कहना या विद्यमान को अविद्यमान कहना असत्यवर्णन नहीं है। परन्तु ऐसा सत्य वर्णन भी असत्य है जिससे कलह आदि होता है। वर्णन वस्तुतः सत्य या असत्य नहीं होता है परन्तु सत्य भ्रात या पतिव्रत भ्रात से प्रेरित वर्णन सत्य है और असत्य भ्रात से या दूषित भ्रात से कहा गया वर्णन असत्य है। कुछ लोग कलह आदि करने के भ्रात से दूसरों को अपमानिक करने के भ्रात से वर्णन बोलते हैं और कहते पिरते हैं कि 'मैं थोड़े झूठ बोला, जो मैंने देखा या सुना वही बोला' परन्तु उसका भ्रात दूषित होने के कारण उनका वर्णन भी असत्य है। व्योक्ति इससे दूसरों को कष्ट पहुँचता है, कलह आदि होते हैं। ऐसा कहने वाले व्यक्ति अतश्य कुटिल झगड़ात्म होते हैं। उनका काम शकुनि या मन्थरा के जैसा है।

कलहप्रिया नारद कह कर पुकारते हैं। महाभारत या रामायण में यथार्थ ई मंथरा या शकुनि हो या काल्पनिक पात्र हो परन्तु उनका मनोवैज्ञानिक तथ्य होता है। अभी तो प्रायः परिवार से लेकर समाज और राष्ट्र तक तं मंथरा की ही भरमार है। ऐसे लोग कारण या अकारण से दूसरों को ताती बजाकर, बिना बाजे से ही जावते रहते हैं। दूसरों को बिना लड़ाये जन ही नहीं पचता है। अनेक लोग आराधना स्थल में जारेंगे, व्रत, उपवास, तु कुतों के जैसे एक दूसरे पर गुरुणिंगे, शौकेंगे, या काटेंगे। एक-दूसरे से बाजार हो या रास्ता या धर्मस्थल एक दूसरे की निन्दा, चुगली करने में॥ परन्तु आचार्य श्री ने इस श्लोक में कहा है जो ऐसे वचन बोलते हैं वे। हिंसा किये श्री हिंसा ही है।

झूठ वचन से हिंसा होती

वैस्मिन्नप्यास्मिन्, प्रमत्त योगैक हेतु कथनं यत्।
जृत वचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति॥ 99॥
वैस्मिन्नप्यास्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतु कथनं यत् तत् असत्यं सर्वस्मिन्नपि
सत्ये यत् प्रमत्त योगैक हेतु कथनं प्रमत्त योगात् प्राण-त्यपरोपणल्प्य वावरं
व असत्यमुच्यते। तरमात्करणात् अनृत-वचनेऽपि असत्य भाषणेऽपि हिंसा
। हिंसा आगच्छति।

amatta Yoga, the one (Chief) cause (of Himsa) is present in all (speeches) here. Therefore Himsa comes in, certainly in falsehood

ज्यत्यार्थः- (अस्मिन् सर्वस्मिन् अपि) इस समस्त निरूपण में ही (यत्) मत्तयोगैकहेतुकथनं एक प्रमादयोग ही जिसमें कारण है ऐसा कथन होता) इसलिये (अनृतवचनेपि) झूठ वचन में श्री (हिंसा नियतं) हिंसा नियम से वा समवतरति होती है।

प्रिया-भावानुवादः- उपर्युक्त समस्त कथन से सिद्ध होता है कि समस्त ज में प्रमत्त योग ल्प्य प्राण त्यपरोपणात्मक हिंसा होने से समस्त असत्य हेसा का अवतरण होता है।

अप्रमत्त परिणाम से हिंसा नहीं

तौ प्रमत्त योगे, निर्दिष्टे सकल वित्थ-वचनानाम्।
ग्रनुष्ठानादे: अनुवदनं भवति नासत्यम्॥ 100॥
प्रत्येषो सकल-वित्थ वचनानां हेतौ निर्दिष्टे सति हेयाऽग्रनुष्ठानादे। अनुवदनं
भवति। प्रमत्त योगे सत्यपि सकलाश्च ते वित्थ वचना-असत्य-वचनाश्च

तैवां हेतौ करणे निर्दिष्टे सति, हेयस्य त्याज्यस्य अनुष्ठानं कथनं तदेव आदिर्यस्य तस्य अनुवदनं कथनं असत्यं न भवति। भावार्थोऽयम् प्रमत्तयोगेऽपि सत्यपि त्याज्य वस्तु कथने असत्यं न। तथा शिष्यस्य मार्ग-भ्रष्टस्य क्रूरचतनेनाऽपि शिष्या प्रदानं दीयते। यहदा तदा सत्यमेव भवति। असत्यं न भवतीत्यर्थ।

Pramatta Yoga having been stated to be the cause of all false speech a sermon preaching the renouncement(of vices) and the performance of religious duties, would not be a falsehood, (even it if should be distasteful, or cause mental pain of the listener.

अन्वयार्थः- (सकलवित्थवचनानां) समस्त झूठ वचनों का (प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे) प्रमादयोग को ही कारण बतलाने पर (हेयाग्रनुष्ठानादे: अनुवदनं) त्याज्य वात के विधानका कथन (असत्यं न भवति) असत्य नहीं है।

प्रायस्या-भावानुवादः- प्रमत्त योग समस्त असत्य वचन के लिए कारण होने से हेय अग्रनुष्ठान हिताहित का कथन करने पर असत्य नहीं होता है। यथा- मार्ग भ्रष्ट शिष्य को गुरु कठोर अगुशासनात्मक वचन बोलते हैं तथापि यह वचन असत्य नहीं है। हिंसात्मक नहीं है क्योंकि इसमें गुरु का भाव रहता है कि शिष्य कुमार्ग से हटकर सुमार्ग पर चले। ऐसी परिस्थिति में गुरु के भाव में प्रमत्त अथवा हिंसात्मक परिणाम न होकर शुभ परिणाम होता है। इसलिए ऐसे हितकर परन्तु कठोर वचन भी अहिंसात्मक वचन ही है।

समीक्षा:- सामान्यतः हित मित प्रिय वचन को सत्य वचन कहा जाता है। परन्तु गुरु के लिए मित या प्रिय वचन की अनिवार्यता नहीं है। इनके लिए हित वचन की अनिवार्यता है। कहा श्री है:-

रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियततः।

मसियत्वा हिसा आसा सपक्षग्रन्थ करिया॥

जिसे उपदेश दिया जाता है वह वाहे रोष करें, वाहे वह उपदेश को विष रूप से समझे परन्तु उपदेशक को हितरूप वचन अवश्य कहना चाहिए।

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हित श्रवणात्।

ब्रूवतोऽग्रनुग्रह बुध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति॥

उपदेश सुनने वाले सभी श्रोताओं को पुण्य नहीं होता है क्योंकि जो उपदेश अच्छी भावना से सुनता है उसे पुण्य होता है। जो शुभ भावना से नहीं सुनता है उसे पुण्य नहीं होता है परन्तु जो परोपकार की भावना से अनुग्रह बुद्धि से हितकर उपदेश करता है उसे अवश्य ही पुण्य होता है।

धर्मनाशोः क्रियाद्यांसे सुसिद्धांतार्थ विष्ट्वत्।

अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूप प्रकाशने॥।

जहाँ सत्य धर्म का नाश होता है, यथार्थ क्रियाका विद्वंस होता हो द्रान्त अर्थ का अपलाप/विनाश होता हो उस समय सम्यक् धर्म, क्रिया इ के प्रवार-प्रसार सुरक्षा के लिए बिना पूछे भी सज्जनों को बोलना कि इससे धर्म की रक्षा होती है जिससे स्व-पर, गष्ट्, विश्व की सुरक्षा है।

व्यर्थ झूठ छोड़ो

३०८प्रभोग-साधन-मात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।

तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुंचन्तु॥ १०१॥

३०९गोपभोग-साधन-मात्रं, सावद्यं मोक्तुं अक्षमाः तेऽपि शेषं समस्तं अपि एवं मुंचन्तु। ये पुरुषाः वस्तुनः एकवार सेवनं शोगः यथा शोजनादि शोग तुनः पुनः पुनः सेवनं उपभोगः। यथा-स्त्री-वस्त्रादि उपभोगः उत्यतो। ३१०साधनमात्रं करणमात्रं सावद्यं वाक्यापां मोक्तुं त्यक्तुं अक्षमाः असमर्थाः। ३११शेषं शोगोपभोग-साधन-मात्र-व्यतिरिक्तं समस्तमपि अनृतं सकलमपि य एवं सदैव मुंचन्तु त्यजन्तु।

use who are not able to give up such savadya untruth, as is unin arranging for articles of use, should renounce all the other un-
ter.

प्रार्थः- (ये) जो पुरुष (शोगोपभोगसाधनमात्र) शोग उपभोग सामग्री को छोड़ने के कारण मात्र (सावद्य) सदोष वर्णन को (मोक्तुं अक्षमाः) छोड़ने के थे हैं (ते अपि) वे भी (शेषं समस्तं अपि अनृतं) बाकी समस्त झूठ को मुंचतुं सही ही छोड़ देते।

३१२-भावानुवादः- शोगोपभोग साधन को जुटाने में जो सदोष वर्णन उन्हें में अक्षम है वे भी अन्य समस्त झूठ वर्णन को नित्य त्याग करें। जिस पुरुष एक बार सेवन करता है उसको शोग कहते हैं। यथा शोजन, पानी प्र वस्तु का पुनः पुनः सेवन किया जाता है उसे उपभोग कहते हैं वस्त्र, अलंकार आदि। ऐसे जो शोगोपभोग के लिये यत्किंचित् झूठ बोलना सको छोड़कर अनावश्यक अन्य समस्त सावद्य वर्णन को छोड़ना चाहिये।

सत्यव्रत के अतिवार

३१३योपदेश-दानं रहसोऽश्याख्यान-कूटलेख-कृतिः।

३१४साप्तहार अतिवारः भवंति-मंत्र-भेदाश्च ॥ १४१॥

सत्य व्रतस्य अतिवारः भवंति। तथाहि मिथ्योपदेशदानं इन्द्रादीनाम् आधकं निर्वाणं-पदवी-साधकं धर्म अन्यथा प्रवर्तनं धनादिनिमित्तं पर वर्णनं

असत्योपदेशस्य दानं वा मिथ्योपदेशदानं अतिवारं अविता। रहस अश्याख्यानं एकाते स्त्रीपुंश्यां यदाचरितं तत्कथनं अन्येषां तत् रहसोऽश्याख्यानमुच्यते। कूटलेखकृतीक्र्या-विक्र्यादिव्यवहारेण कपट लिखनस्य करणं कूट लेखकृती। तथा न्यासापहार-वर्णनं। केनवित्पुरुषेण कस्यवित्पुरुषस्य गृहे धनं निक्षिप्तं कर्तिविद् दिवसैः आगतः परन्तु द्रव्यस्य संख्या विस्मृता। तदा न्यासावान् पुमाङ् वदति त्वया न्यासधनं यत्स्थापितं तद् ग्रहणीयं अलेन प्रकारेण यदवर्तनमुच्यते तज्ज्ञासापहारः। साकारमंत्रभेदाः स्वकीय गृहस्य मंत्रः एकातेन आलोचनं पश्वात् ईर्ष्या अन्येषां अपराधशिप्रायं ज्ञात्वा तस्य भेदः कथनं साकार-मंत्र-भेदः कथयते इति सत्य व्रतस्यातिवाराः।

False, preaching, disclosing secrete, forgery, breach of trust, and divulging inferences drawn from behavior or gestures (are transgression of truth).

अन्वयार्थः- (मिथ्योपदेशदानं) झूठा उपदेश देना (रहस्योऽश्याख्यानकूट लेखकृती) गुप्त भेद को प्रगत कर देना, किसी को ठगने के लिये कपटरूप से कुछ का कुछ लिखकर प्रगत करना (न्यासापहारवर्णनं) किसी की धरोहर के भूल जाने पर उसे अपहरण (हड्डप लेने का) करने का वर्णन कहना (साकारमंत्रभेदश्व) किसी के गुप्त अशिप्राय को कारा की चेष्टा आदि से जानकर प्रगत कर देना ये पाँच अतिवार हैं।

व्याख्या-भावानुवादः- सत्यव्रत के पाँच अतिवार का यहाँ कथन कर रहे हैं यथा -

(1) इन्द्रादि तथा निर्वाण पदवी के साधक स्वरूप धर्म को अन्यथा करके "धर्म धनादि के साधक हैं" ऐसा वर्णन असत्य उपदेश दान यह मिथ्योपदेश दान अतिवार है।

(2) स्त्री-पुरुषों के एकान्त की क्रिया को अन्य के सामने कथन करना रहसोऽश्याख्यान अतिवार है।

(3) क्र्या-विक्र्या आदि व्यावहार में कपट लिखना (दो नम्बर का बहीखाता, कालाबाजारी) कूट लेख क्रिया अतिवार है।

(4) कोई एक पुरुष किसी एक पुरुष के घर में धन रखकर के कुछ दिन के बाद उस धन को ग्राप्त करने के लिये वहाँ आया परन्तु द्रव्य की संख्या भूल गया। उस समय में जिसके पास धन रखा गया था वह व्यक्ति कहता है— "तुमने जो धन रखा था वही ग्रहण करो" ऐसा जो वर्णन है वह न्यासापहार वर्णन है। वयोंकि धन तो अधिक रखा था परन्तु भूल जाने के कारण कम माँगने पर यथार्थ धन को

र जो मौँगा वही तुम्हारा धन है, ऐसा कहना और कम धन देना सत्य नहीं अतिवार है। यदि अधिक धन मौँगता है तो अधिक धन नहीं देता इसलिये मलिनता से सहित होने के कारण तथा जो कम धन मौँगा उसको देने अतिवार है।

स्वकीय गृह के गुप्त अभिप्राय एकान्त में आलोचना करके पश्चात् अन्या को जानकर उसके भेट को कथन करना साकार मंत्र भेट है।

अहिंसार्थ-गुप्तित्रय

यन्मन्दो वपुषः, सम्यन्दंडस्तथा च वचनस्या।

सः सम्यन्दंडो, गुप्तित-तृतीयमनुगम्यम् ॥ 2021॥

गुप्तित तृतीयं अनुगम्यं सेवनीयं। वपुषा सम्यन्दंडो विधातव्यः। परिषहादिषु येन पापर्या अकरणं कारादण्डः कर्तव्यः। तथा वचनस्या सम्यन्दण्डः जेन निरवद्य जल्पनां पुनः मनसः सम्यन्दंडो धार्यः। आर्त रैद्र त्यागेन भावेन मनोनिग्रहेऽपि कार्यः।

e should carefully observe the three controls; proper control of the body, proper control of speech, and proper control of mind.

वर्णार्थः- (वपुषः सम्यन्दंडः) शरीर को भले प्रकार वश में रखना, (तथा सम्यन्दंडः) उसी प्रकार वचन को भी पूर्णता से वश में रखना मनसः मन को भी अच्छी तरह से वश में रखना (गुप्तित्रिताय) ये तीन गुप्तियाँ (अच्छी तरह पालन करना चाहिये।

रक्षा-आवानुवादः- इन तीन गुप्तियों का अनुगमन करना चाहिये ज करना चाहिए। परीषब्द आदि में काय को स्थिर रखना अर्थात् कर्त्ता से करना काय गुप्ति है। यत्न से पाप रहित वचन बोलना वचन गुप्ति है रिणाम को त्याग करके शुभ परिणाम से मन का निग्रह करना मन गुप्ति दण्ड है।

रीक्षा:- मन, वचन, काय को सम्यक् रूप से निरोध करना नियन्त्रण ज्ञाम कर्त्ता में तीनों को लगाना गुप्ति है। प्राथमिक साधक के लिए शुभ जों को लगाना गुप्ति है तो उत्कृष्ट साधक के लिये तीनों को एक निश्चित शर करना गुप्ति है। चतुर्थ से लेकर छठे गुणस्थान तक प्राथमिक साधक शुभ से निवृत होना तथा शुभ कार्य में प्रवृत्त होना गुप्ति है। सप्तम आदि में एक द्योय में स्थिर हो जाना या उसका निग्रह होना गुप्ति है। इससे आओं से निवृत होती है। पाप का निरोध होता है। शक्ति का अकारण क्षरण है तथा निश्चित कर्त्ता में शक्ति का सदुपर्योग होता है। इससे कठिन कर्त्ता

श्री सरलता से हो जाता है। प्रायः प्रत्येक महापुरुष जो विभिन्न दोष में सफलता को प्राप्त करते हैं उनमे प्रायः ऐसी ही एकाग्रता, धैर्यगिर्भता या गुप्ति पारी जाती है। ध्यान की सिद्धि श्री गुप्ति से होती है। मंत्र की साधना के लिये श्री गुप्ति की आवश्यकता होती है। बड़े-बड़े साहित्यकार, वैज्ञानिक, शोधार्थी, खिलाड़ी आदि में श्री अवश्य ही एकाग्रता होती है, जिसके कारण वे सफलता को प्राप्त करते हैं। प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर तृतीय गुणस्थान तक आगम में शुभ उपरोग लप्ती गुप्ति श्री नहीं माना गया है क्योंकि इन गुणस्थान में उनका भाव ही पूर्ण सम्यकत्वरूप नहीं होता है। जब तक भाव सम्यकत्व नहीं होगा तब तक भाव में स्थिरता नहीं आरेगी। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर के छठे गुणस्थान तक पूर्ण गुप्ति नहीं तथापि पाप निवृत्तिरूप आंशिक गुप्ति है। सप्तम गुणस्थान से अर्थात् ध्यान अवस्था में यथार्थ गुप्ति प्रारम्भ होती है अर्थात् गुप्ति होने पर ध्यान होता है और ध्यान अवस्था में अवश्य गुप्ति होती है। ख्वात्रंत्रता के सूत्र में कहा भी है :-

सम्यन्योगनिग्रहो गुप्तिः। (4)

Curbng activity well is control. गुप्ति Prevention is proper control nigraha over mind, Speech वचन ant body काय।

योगों का सम्यग् प्रकार निग्रह करना गुप्ति है।

उस मन वचन, काय रूप को यथोच्च विचरण से रोका जाता है उसको ही निग्रह कहा जाता है। मन, वचन, काय रूप योग का निग्रह योगनिग्रह कहा जाता है।

इसका 'सम्यग्' यह विशेषण सत्कार, लोकपंक्ति आदि आंकाद्धाओं की निवृत्ति के लिये है। पूजा पुरस्सर क्रिया सत्कार कहलाती है, यह संयत महान् है ऐसी लोकप्रसिद्धि लोकपंक्ति है। इस प्रकार और श्री इहलौकिक फल की आकांक्षा आदि का उद्देश्य न लेकर तथा पारलौकिक सुख की आकांक्षा न करके किया गया योग का निग्रह गुप्ति कहलाता है। उसका ज्ञान कराने के लिये सम्यग् विशेषण दिया गया है।

इसलिये कायादि के निरोध होने से तद निमित्तक कर्मों के रुक जाने से गुप्ति आदि में संवर की प्रसिद्धि है ही अर्थात् सम्यग्विश्वेषण विशिष्ट, संवलेश परिणामों के प्रादुर्भाव से रहित कायादि योगों का सम्यक् प्रकार निरोध हो जाने पर काय-वचन-मन रूप योग के निमित्त से होने वाले, आने वाले कर्मों का आस्रव रुक जाना ही संवर है, ऐसा जानना चाहिये। गुप्ति तीन प्रकार की है:-

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कार्यगुप्ति। इसमें अयतनावारी के बिना देखें, बिना शोधे भूमि प्रदेश पर घूमना, दूसरी वस्तु रखना, उठाना, शयन करना, बैठना

क क्रियाओं के निमित्त से जो कर्म आते हैं या कारिक निमित्त से जिन नि होता है, उन कर्मों का आस्त, कारारोग का निग्रह करने वाले अप्रमत्त संयमी के नहीं होता। इसी प्रकार का वावनिक असंवरी-संवरहित जीव के अप्रिय वचनादि का हेतुक (अपित्र वचन बोलने आदि से) जो आपर निमित्तक कर्म आते हैं, वचनों का निग्रह करने वाले वचनयोगी के ग आस्त नहीं होता। जो रश्ट्रेष्वादि से अभिशूत प्राणी के अतीत अनागत ग आदि से मनोत्यापार निमित्तक कर्म आते हैं, वे कर्म मनोनिघटी के अतः योग निग्रह (योग का निरोध) हो जाने पर तत्संबंधी कर्म कभी नहीं उन कर्मों का संवर हो जाता है। अतः योग निग्रही के संवर सिद्ध है।

अहिंसार्थ - पंच समिति

ग्रहण -निक्षेपौ, व्युत्सर्गः सम्यग्निति समितिः॥ 203॥

। अमुना प्रकारेण सम्यक्परत्वं समितिः उत्यते। पंच समितयो सम्यग्नमनाऽऽगमनं कार्य। मार्गे सम्यवतया दर्शनेन गमनं जल्पेनाऽऽगमनं कार्य अजल्पेन गमनं कार्य इति ईर्या समितिः।

ग्रहण-पापरहित-वचनस्य भाषणं सम्यग्भाषा समितिः। तथैव म्यग्नोया निर्देषस्य आहारस्य ग्रहणं सम्यग्नेषणा समितिः। च निक्षेपश्च सम्यग्नग्रहणं निक्षेपौ। वस्तु पात्रादीनां सम्यग्न्यनेन दानं निक्षेपो मोचनं च चतुर्था समितिः। सम्यग्न्यव्युत्सर्गः पूर्वकं मल-मूत्रादीनां उत्सर्गः परिस्थापनं व्युत्सर्गं समितिः नका समितिरित्यर्थः। दशमैकादश-प्रतिमायां ब्रह्मचर्यं पदे ति भावः।

refull movement, carefull speech, carefullly eating, carefull placing /al of things, carefull evacuation of excrement, are the 5. Samitis to ed.

त्यार्थः- (सम्यग्नमनागमनं) अच्छी तरह पृथ्वी को एवं जीवों के संवार कहीं जाना और आना (सम्यग्भाषा) हित-मित-सत्य बोलना(तथा सम्यक्श्वणा) कर निरन्तराय भोजन ग्रहण करना (सम्यक्ग्रहण निक्षेपौ) उत्तम रीति से संवार को देख आलकर वस्तुओं का उठाना और धरना (सम्यक् व्युत्सर्गः) रहित निर्जीव पृथ्वी में मलमूत्र क्षेपण करना (इति समितिः) इस प्रकार तेरों का पालन करना चाहिए।

स्वाया-आवानुवादः- सम्यक् प्रकार से आवरण करना समिति है। समिति की है। सम्यक् प्रकार अर्थात् स्वपर की रक्षा करते हुए गमनागमन करना

चाहिए। मार्ग में सम्यक् प्रकार देखकर बिना बोलते हुए गमनागमन करना इर्या समिति है। पाप रहित वचन का प्रयोग करना भाषा समिति है। निर्देष आहार को ग्रहण करना एषणा समिति है। वस्तु पात्र (कमण्डल) पिछ्छी आदि उपकरण को देखकर उठाना और देखकर रखना आदान निक्षेपण समिति है। सम्यक् पूर्वक मल-मूत्र आदि का उत्सर्ग करना अर्थात् परित्याग करना उत्सर्ग समिति है। दशम, एकादश प्रतिमा में तथा ब्रह्मचर्य पद में इन समितियों का पालन करना चाहिए।

समीक्षा:- सावधानी पूर्वक जीवों का सरंक्षण करते हुए धार्मिक कार्य करना, उठाना बैठना आदि को समिति कहते हैं। असावधानीपूर्वक, प्रमाद सहित, कषय युक्त होकर कार्य करने से हिंसा होती है। सम्पूर्ण विश्व में सूक्ष्म-सूक्ष्म, चर-अचर जीव भेर हैं। जब मुनिगण आहार-विहार करते हैं तब वया उनसे जीव घात नहीं हो सकता है? इस प्रकार प्रश्न होना सहज है। जिस प्रकार स्वयं गौतम गणेश ने महावीर स्वामी से प्रश्न किया था।

कथं चरे कथं विदे कथमासे कथं सये।

कथं भ्रुजेज्ज भासेज्ज कथं पावं ण बज्जदिः॥ (मूलावार)

गौतम गणेश पूछते हैं- हे भगवान्! कैसा आवरण करें, कैसे रहें, कैसे बैठें, कैसे सोयें, कैसे भोजन करें एवं किस प्रकार बोलें जिससे पाप बंध नहीं हो? महावीर भगवान् उत्तर देते हैं-

जदं चरे जदं विदे जदमासे जदं सये।

जदं भ्रुजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्जदिः॥

है गौतम गणेश! यत्न पूर्वक गमन करें, यत्न पूर्वक खड़े हों, यत्न पूर्वक बैठें, यत्न पूर्वक सोयें, यत्न पूर्वक आहार करें, और यत्न पूर्वक बोलें, इस तरह करने से पाप बंध नहीं होता है। यह है समिति का रहस्य एवं हृदय।

(1) **ईर्या समिति** - सूर्य के प्रकाश मे मन को स्थिर करके इधर उधर नहीं देखते हुए सन्मुख चार हाथ दूरी को देखते हुए देव वंदना, विद्या अध्यायन, स्वारस्थ संपादन, समाधि की खोज के लिये जीवों को बिना घात करते गमन करना ईर्या समिति है।

इससे सिद्ध होता है कि बिना उत्तम अभिप्राय से इधर उधर घूमना नहीं चाहिए क्योंकि उससे वृथा समय एवं शक्ति गष्ट होती है और जीवों का घात होता है। ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक चलने से स्वयं की रक्षा- कंकड़-पत्थर-गड़ा-कांटा आदि से भी होती है।

(2) **भाषा समिति** - हित,मित,प्रिया, समायानुकूल, आगम, अविरोधक बोलना भाषा समिति है। इससे झगड़ा आदि नहीं होता है। इससे गम्भीरता एवं

विनय गुण प्रगट होता है।

(3) एषणा समिति - क्षुधा रेण उपशमन के लिये, ध्यान-अध्ययन, श्रक्ति क्रिया, सेवा आदि धार्मिक क्रियाओं को पालने के लिये शुद्ध शाकाहारी द्रूसरों को कष्ट नहीं देते हुए, सीमित प्रमाण से, दोषों को नहीं लगाते हुए करना एषणा समिति है। सद्गृहस्थ स्वेच्छा पूर्वक, नवद्या भक्ति पूर्वक मुनि सं आठान करते हुए आहर देता है। उस समय मुनि लोग दीन भाव रहित, भाव रहित होते हुए भोजन ग्रहण करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आहर नी स्वेच्छा, भक्ति पूर्वक आहर देने पर मुनि को धर्म के लिये दीनता-हीनता, प्रवृत्ति से रहित होते हुए आहर करना चाहिए।

(4) आदान निषेषण समिति - धर्म साधन के उपकरणों को सावधानी देखकर एवं कोमल मधूर पिछि से जीवों को उस उपकरण से सावधानी पूर्वक करके उपकरण को उठाना एवं जहाँ रखना है उस स्थान को भी देखकर एवं को पिछी से हटाकर उस उपकरण को रखने को आदान-निषेषण समिति है।

इससे सिद्ध होता है कि उपकरण से रहित अनावश्यक वस्तुओं को उठाना भी नहीं चाहिए। वर्णोंकि उससे समय एवं शक्ति का दुरुपयोग होता है।

(5) उत्सर्जन समिति - ग्राम, नगर से दूर एकांत विस्तीर्ण निर्जन एवं रहित स्थान को पिछी से परिमार्जन करके मल-मूत्र का विसर्जन करने को समिति कहते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि मल-मूत्र ग्राम के समीप भी विसर्जन नहीं करना वर्णोंकि अर्योन्य स्थान में मलमूत्र विसर्जन करने से जनता को कष्ट होता। नगर आम स्थान अस्वच्छ हो जाता है, वातावरण दृष्टिं हो जाता है जिससे रेण उत्पन्न होते हैं एवं फैलते हैं। अनुपर्युक्त स्थान एवं मनुष्य जहाँ देखते स्थान में मल-मूल विसर्जन करने से निंदा होती है, ब्लानि उत्पन्न होती है। वर्तमान भारत में गृहस्थ लोग घर की गंडी वस्तुएँ यहाँ तक कि मल-मूत्र रस्ता या राज-मार्ग में निःसंकोच होकर फैकते हैं। चार्य पीकर चाय का रस्ते में ही फैक देते हैं, चाट खाकर पतों को रस्ते में ही फैकते हैं, पान पान की पीक यत्र-तत्र रस्तादि में थूकते हैं। बीड़ी, सिगरेट पीकर झूँठन भाग को जहाँ-तहाँ फैकते हैं। कफ को जहाँ-तहाँ थूकते हैं। यह सब गा, अनाग्रिकता एवं अशिद्धितपना का परिचायक है। हमारे देशवासी वर्तमान क्ष शिद्धित थोड़े बहुत हुए हैं परन्तु यथार्थ से नैतिक शिक्षा से दूर हट रहे हर बगुला के समान हैं परन्तु अन्तरंग में कौतूहल से भी काले हैं। महात्मा

गांधी को राष्ट्रीय पिता एवं महा आदर्श पुरुष मानते हुए एवं उनका गुण गान करने से नहीं थकते हुए भी उनके आदर्श का एक कण भी अनुकरण में कोई लाते हैं तरा? महात्मा गांधी, विजोबा भावे केवल स्वरं का संडास-गृह स्वच्छ नहीं करते थे किन्तु गाँव-गाँव में धूम कर वहाँ के रास्ते, तालाब, संडास-गृह भी स्वच्छ करते थे। वरा आज उस आदर्श को हृदय-साक्षीपूर्वक विचार करके इन्हें कोई अनुकरण करता है? देश में अस्वच्छता फैलाकर देश की पवित्रता नष्ट कर रहे हैं। विदेश का अंधानुकरण करते हुए उनके फैशन, भोगतिलासिता, अर्जैतिकता, कामुकता आदि दुर्भुजों को ग्रहण कर रहे हैं परन्तु विदेश में जो स्वच्छता, देश-प्रीति, प्रामाणिकता, स्वावलम्बन आदि गुण हैं उसका वरा अनुकरण कर रहे हैं?

"मेरे संस्मरण में आचार्य श्री भरतसागर जी गुरुदेव"

-आचार्य कनकनन्दी

आज दि. 2/11/2011 को मध्याह्न के सामायिक के पूर्व मेरे पास कमलकुमार बाकलीवाल का पत्र आया। पत्र था "ज्ञान दिवाकर" स्मृति-ग्रन्थ सम्बन्धी, जिसमें आचार्य श्री भरतसागर जी गुरुदेव के संस्मरण आदि लिखकर भेजने के लिए अनुरोध किया गया। पत्र पढ़ते ही आचार्य श्री भरतसागर जी गुरुदेव सम्बन्धी मेरी दीर्घ स्मृति (1975 से 2005 तक) जागृत हो गई, जिससे प्रेरित, प्रोत्साहित एवं भक्ति से ओत प्रोत होकर सामायिक के बाद अन्यान्य ग्रन्थ, कविता आदि लेखन कार्य को छोड़कर 2.02 बजे इसे लिखना प्रारम्भ कर दिया। वर्णोंकि मैं (आचार्य कनकनन्दी) वात्सल्य रत्नाकर श्री विमलसागर जी गुरुदेव तथा आचार्य भरतसागरजी के पास मध्य-मध्य में 6-7 वर्ष ही केवल नहीं रहा तथा 2-3 चातुर्मास एक साथ (आचार्य श्री कुन्धुसागरजी गुरुदेव संसंघ) हुआ अपितु दोनों गुरुवर मेरे प्रथम पथ प्रदर्शक एवं शिक्षा गुरु भी रहे हैं। दोनों से मुझे बहुत वात्सल्य, तत्त्ववर्ता, शंका समाधान भी मिला। दोनों की प्रेरणा से मैंने (1) विश्व विज्ञान रहस्य (2) जिनार्वना (3) निमित्त-उपादान मीमांसा (4) पुण्य पाप मीमांसा (5) शान्ति एवं पुरुषार्थ (6) अनेकान्त सिद्धान्त आदि ग्रन्थों का लेखन-सम्पादन किया। 1989-90 में हमारा संघ (आ. कुन्धुसागर जी प्रायः 35 साधु-साध्वी) आरा विहार में चातुर्मास करके आचार्य श्री विमलसागरजी संघ (प्रायः 21 साधु-साध्वी) दर्शन के लिए पहुँचा। वहाँ प्रायः डेढ़-दो महीना एक साथ वात्सल्यमय वातावरण में रहे। आचार्य श्री विमलसागरजी गुरुदेव एवं आचार्य श्री भरतसागरजी गुरुदेव के आदेश निर्देश एवं मेरे गुरुदेव की

जुमति से मैं दोनों संघ को प्रातः समयसार एवं मध्याह्न में वृहत् च-संग्रह का स्वाध्याय कराया। दोनों संघ के साथ-साथ और भी कुछ इ॒ आचार्य श्री विद्यासागरजी गुरुदेव एवं आचार्य श्री सन्मतिसागरजी ठडेव ज्ञानानन्द की अनेक ब्रह्मचारणियाँ और श्रावक-श्राविकाएँ इ॒ ध्याय से लाभान्वित हुए। उस अवधि में 'वात्सल्य रत्नाकर' ग्रन्थ । श्री सम्पादन कार्य चलता रहा।

1981 के महामस्तकाभिषेक (श्रवणबेलगोला) के लिए हमारे दोनों एक साथ विहार करता हुआ पढ़ुँचा। वहाँ प्रायः 4-5 आचार्य संघ हेतु प्रायः 200 साधु-साध्वी एक साथ रहे। आचार्य विद्यानन्दी के वास पर समयसार, न्यायदीपिका, वृहत् द्रव्य संग्रह आदि का इ॒ ध्याय चलता रहा जहाँ पर मैंने अनेक स्व-प्रश्न पूछे जिसमें आचार्य तसागरजी गुरुदेव की भी प्रेरणा रही। अभिषेक, प्रवचन, तत्त्वचर्चा दि से ज्ञानानन्द प्राप्त हुआ। वहाँ पर ही अनेक आचार्य (4-5), इ॒ ध्याय (2-3), साधु-साध्वी (शताधिक), अनेक भट्टारक, पण्डित, भक्त मध्य में एवं आचार्य श्री विमलसागरजी, आचार्य श्री विद्यानन्दी जी, गर्य श्री भरतसागरजी आदि के मार्गदर्शन, प्रोत्साहन से मेरी मुनि झा हुई।

पुनः दोनों संघ श्री क्षेत्र धर्मस्थल में बाहुबली प्रतिष्ठा (संभवतः 33) के महोत्सव में भाग लिये। हमारे दोनों संघ एक साथ सम्मेद घरजी 2-3 बार, श्रवणबेलगोला में 1 बार दीर्घकाल तक वात्सल्यमय प्रावरण में ध्यान, अध्ययन, तत्त्वचर्चा, आहारचर्या, सेवा-वैयावृत्ति आदि ता हुआ रहा। मैं प्रायः रोज आचार्य आदि की सेवा करता रहा। मेरे वस्थ होने पर हमारे संघ के साधु-साध्वी के साथ-साथ आचार्य नन्द जी आदि ने भी वैयावृत्ति की जिसे मैंने मेरे साहित्य में भी गणित किया है।

जब आचार्य भरतसागरजी का स्वारथ्य खराब हुआ तब मैंने मेवाड़-बागड़ के लोहारिया के लोगों को पत्र सहित आ. भरतसागरती के पास भेजा उन्हें ड-बागड़ लाने के लिए। आचार्य श्री के लोहारिया चारुमास के बाद हमारे दोनों का वात्सल्य मिलन नरवाली में (2004) हुआ।

2006 को आचार्यश्री का चारुमास अणिन्दा में एवं हमारा सगवाड़ा में था। इस मास के अन्त में आचार्यश्री की समाधि हुई। समाधि के समय मैं पास नहीं था। इस सम्बन्धी वर्णन मैंने जो शिखरचन्द्र पाहाडिया के लेख में पढ़ा एवं जिसका

प्रकाशन मैंने मेरी " तर्तमान की आवश्यकता धार्मिक उदारता न कि कटूरता" कृति में किया है उसका कुछ अंश निम्न में प्रस्तुत है-

परम पूज्य आचार्य श्री भरतसागरती महाराज की तीन दिन के पूर्वाभास में 'सर्वेतन अवस्था' में अद्भुत समाधि।

(लेखक प्रसिद्ध उद्योगपति, गुरुभक्त, सरलरखभावी, दानवीर, सेवाभावी है और प.पू.आ. विमलसागरजी से लेकर आ. भरतसागरजी की संघ सेवा व्यवस्था में संलग्न है।)

प. पू. वात्सल्य रत्नाकर आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज के प्रथम पदाधारी, ज्ञान दिवाकर, उपर्यन्त विजयी, परीष्ठों के असीम विजेता आचार्य श्री भरतसागर जी महाराज घोरेपसों के बीच भी अपूर्व शान्तिपूर्वक समाधि-मरण को प्राप्त हो गये। तीन दिन पूर्व ही आचार्य श्री भरतसागर महाराज को पूर्वाभास हो गया था। उन्होंने अपनी निंदा गर्ही करते हुए संघ को आगम अनुसार चर्या करने का आदेश दिया। दीपावली पर्व के प्रथम दिवस 'धन-तेरस' के दिन आचार्य श्री ने सर्व संघ को आदेश दे दिया कि- 'मैं अपनी साधना में लीन रहूँगा, आज से कोई भी मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका मेरे वरणों को नहीं छ्ये, सब अपने व्रतों को निर्दोष पालो। मध्याह्न की सामारिक सर्व संघ एक साथ हमारे पास 11.30 बजे से प्रारंभ करें।'

ततुर्दशी के दिन तत्त्वानुशासन ग्रन्थ का स्वाध्याय करते हुए आचार्य श्री ने कहा- 'अभिजित नक्षत्र' में होने वाली समाधि बहुत अच्छी व श्रेष्ठ होती है। आचार्य श्री गुरुदेव धर्मसागर जी, विमल सागरजी इस नक्षत्र में सामारिक प्रारम्भ किया करते थे। पादिक प्रतिक्रमण मध्याह्न 1.00 बजे से 4.00 बजे तक चला। प्रारम्भिक विधि पूर्ण हुई। आचार्य श्री मौनधारण कर मात्र ध्यान में ही लीन रहे।

आचार्य श्री ने प्रातः 6.00 बजे से पाश्वर्तनाथ मंदिर में पंचमूर्त अभिषेक देखे त निर्वाण लाडू की अनुमोदना की। प्रातः 8.30 बजे मंदिर के बाहर आकर आचार्य श्री वही ध्यान करने लैठ गये। 10.00 बजे आहर की चर्या करके आये, अखरस्थता के कारण प्रतिदिन आहर के बाद अल्पनिद्रा लेते थे, वह आज नहीं ली। आहर से आकर कक्ष के बाहर छेटे से पाटे पर बैठ गये। सबने कहा- आचार्य श्री थोड़ा आराम कर लीजिये। आचार्य श्री ने कहा-'अब आराम का समय नहीं रहा है, बस पुनः ध्यान में लीन हो गये।' ठीक समय 11.15 पर सर्व साधुसंघ आचार्य श्री के चरणों में विमल भक्ति लेकर प्रत्यारव्यान विधि व सामारिक की तैयारी के लिये आ पहुँचे। प्रत्यारव्यान विधि, सिद्ध भक्ति, योगी भक्ति, इर्यापथ भक्ति हुई। आचार्य भक्ति का क्रम आया, तो आचार्य श्री ने कहा- आचार्य भक्ति नहीं होगी। सबने प्रार्थना की गुरुदेव आचार्य भक्ति

दीजिये, तब आचार्य श्री ने कहा 11.30/11.35 हो चुके हैं, मेरे पास समय नहीं॥-वया कर्ण। सभी एक साथ प्रत्यारव्यान कर लीजिये, सभी ने एक साथ व्यान किया।

आचार्य श्री- ने कहा- बस सामाजिक प्रारम्भ कीजिये। आचार्य श्री ने कार्योत्सर्वं । किया और अपनी गर्दन टेक दी, स्वर्गवासी हो गये, उस समय अभिजित था। चरों ओर हाहाकार मच गया, सजनाटा छ गया। इशारे में ही अपनी ४ का निर्णय बनकर, अनन्त में लीन हो गया- एक संत। संघ ही नहीं भव्यात्मा ज्ञान अपने आपको अनाथ अनुश्रुत कर बहती अविरल अशुद्धारा को थाम नहीं जेसके कानों ने इन शब्दों को सुना-वे सब स्तब्ध रह गये। जैन जगत् का मुर्य अस्त हो गया। इस युग के संत की स्मृति युगों-युगों तक भव्यात्माओं को सहनशीलता, दृढ़ता, विनाशीलता, गुरुभक्ति से प्रेरित करती रहेगी। एक बुझ गया अनन्त में लगभग 40 हजार भव्यात्माओं ने श्री फल भेंट कर अपनी गति दी। सभी के नेत्र अविरल अशुपूरित थे।

ऐसे ख, आचार्यश्री भरतसागरती गुरुदेव का संस्मरण लिखने के लिए मेरे छथ के साथ-साथ पेन श्री सक्रिय हो उठे। इस संस्मरण को लिखते लिखते भाव पूर्व पुण्यमय, वात्सल्यपूर्ण, ज्ञानानन्ददायी स्मृति से दित/प्रमुदित/उत्साहित हो रहे हैं। इस कारण और श्री अनेकानेक पावन-स्मरण हो रहे हैं और मुझे लिखने के लिए प्रेरित कर रहे हैं परन्तु लेख के विस्तार संगोपांग वर्णन न करके संकेत परक कर रहा हूँ। यथा-आचार्यश्री भरतसागरजी। अत्यन्त शान्त, गम्भीर, मौनप्रिया, मृदु, सरल-सहज, स्वाध्याया प्रेमी, स्मित वाले, तत्त्व जिज्ञासु, हिंत-मित-प्रिय वरवन एवं प्रवचनकर्ता, -युगली-ईर्ष्या-द्वेष-दंभ-छिन्द्राज्ञेषण से रहित, मनीषी, लेखक, पाठक, थे। आचार्य विमलसागरजी गुरुदेव एवं आचार्य भरतसागरजी गुरुदेव मेरे में एवं परोक्ष में श्री मुझे कलिकाल के समन्तभद्र, अकलंकदेव कहते थे। यह नके एक लघु शिष्य के प्रति वात्सल्य-उत्साहवर्धन के गुण हैं। ऐसे ख के गुणस्मरण-लेखन से मैं स्वरं को भाव्याशाली, पुण्यशाली मानता हूँ। ऐसे हे लिए मुझे सुअवसर प्रदान करने वालों को श्री सद्घन्यवाद आशीर्वाद है। आचार्य श्री के पावन गुण स्मरण से मैं इन गुणों का विकास चाहता हूँ। ख श्री को निभक्ति सहित अन्तश्चः नमोऽस्तु करके स्वरं की सुसमाधि साधना की॥ श्राता हूँ। ज्ञान दिवाकर स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति के कर्त्तव्यात्माओं को महान् शुभ कर्य के लिए श्रुआशीर्वाद सह-समिति के कर्त्तव्यात्माओं को श्री ऐसे

महान् शुभ कर्य के लिए श्रुआशीर्वाद सह-

आचार्य कनकनन्दी

(ख. आचार्य भरतसागरती के वात्सल्यपूर्ण सहधर्मी एवं शिष्य)

सेमारी, दि. 2/11/2011, मध्याह्न 4.18

मेरी आत्म आलोचना

-आचार्य कनकनन्दी

(वाल : 1. तुम दिल की धड़कन.... 2. माईन माईन.....) (संकीर्ण-कहर-कूर धर्मान्दों के भाव व्यवहार से पीड़ित होकर यह आत्म सम्बोधनात्मक कविता बनी)

सर्वज्ञ कथित आचार्य कृत आगम में, मैंने पढ़ा है अनेक बार।

अनन्त काल से अनन्त श्रवों में, श्वर्यं को न सुधारा मैं एक बार॥

इसलिये मैं अभी तक श्री कर्म बन्धनों से न हो पाया हूँ मुवता।

किया पंचपरिवर्तन के सभी कार्य, आत्मोपलक्ष्य से न हुआ हूँ युवता॥

बाह्य धर्म क्रिया तप त्याग किया, ढोंग-पारवण्ड श्री किया अनेक।

सत्ता-सम्पत्ति व प्रसिद्धि हेतु, धार्मिक क्रिया-काण्ड किया अनेक।

सुधर्मी-विधर्मी अन्य पंथमतियों से, ईर्ष्या-द्वेष-धृणा किया अनेक।

श्वर्यं को ही श्रेष्ठ जताने हेतु, वाद-विवाद युद्ध किया अनेक॥

आत्म आलोचना नहीं किया मैंने, सत्य समता को नहीं किया प्राप्त।

आत्मविशुद्धि साधना के बिना, आत्म तत्त्व को नहीं किया प्राप्त॥

रव्याति-पूजा-लाभ-लोकरंजन हेतु, किया प्रवचन व धर्म प्रवारा।

अनुयायी भक्तों की भीड़ जोड़कर, अनैतिक कार्य श्री किया प्रवुरा॥

अन्य को सही बनाने हेतु कठोर, कूरता का काम श्री किया।

मेरे अनुसार जो न चले उनसे, वैरत्व किया व बंधा श्री किया।

यह सब आत्मपतन के कारण, त्याग रहा हूँ मैं नवकोटि से।

आत्मविशुद्धि व समता-शान्ति से, शिन (हर) भाव त्याग्नैं मैं नवकोटि से॥

इसी से युक्त धर्म प्रभावना व, विष्वशान्ति हेतु मैं आऊँ भावना।

संकल्प-विकल्प व संवलेश त्यागकर, कनक सदा करे श्रुति/(आत्म) भावना॥

हिरण्मगरी से, 11 दि. 7.12.2014 मध्याह्न 12.55

मुझे नहीं चाहिए

-आचार्य कनकनन्दी

: 1. छोटी-छोटी गैया.... 2. शत-शत वंदन...., 3. आतुकली....)
 पूजा लाभ सभी लन्द फ़न्ट, मुझे न चाहिए क्षुद्र-मतवाद।
 ब्र-मोहकर सभी भात-काम, भेट-भाव उत्पादक सभी काम ॥
 मुझे तो चाहिए सत्य-साम्य-सुख, आत्मविश्वास ज्ञान चाहिए युक्त।
 उदार सहिष्णु विश्वहितकर, पावन भाव व सभी व्यवहार।।
 क करणा भी नहीं चाहिए, शुभ से शुद्ध करणा मुझे चाहिए।
 पूर्वाग्रह (भी) नहीं चाहिए, अपूर्वार्थ सम्यञ्जान मुझे चाहिए।।
 संकीर्ण सामाजिक नीति नियम, रुदि परम्परा व अन्धा कानून।
 अन्धी आधुनिकता व ढोंग-पारखण्ड, इर्ष्या द्वेष घृणा युक्त धार्मिक काम।।
 उपेक्षा व संवलेश युक्त, आकर्षण-तिकर्षण-दिखावा युक्त।।
 रीब व छोटा-बड़ा विशेष, धन-जन-गामकर समस्त काम।।
 परनिन्दा अपमान अहितकर, पर-निमित्त सर्व खोटे विवार।।
 पर से संचालित न होना चाहता, आत्मानुशासी धैर्यशील होना चाहता।।
 निर्माण विज्ञापन प्रसिद्धि, भेद-भेड़िया चाल अन्धानुकरणवृत्ति।।
 चादकर आत्मब्लानी की वृत्ति, नवकोटि से त्याग कर्ण संवलेश वृत्ति।।
 निष्पक्ष निराकरण व संतोषकर, सहज सरल शांत पावनकर।।
 आत्मविशुद्धिकर भाव व काम, 'कनक' चाहे ज्ञान-ध्यान व मौन।।

हिरण्मगरी से, 11 दि. 10.12.2014 प्रातः 5.11 से 6.27
 (यह कविता प्रववनसार से श्री प्रेरित है।)

मेरी अध्यात्मिक-भावना (स्वरूप)

-आचार्य कनकनन्दी

: तुम दिल की धडकन....)
 सास्सद अप्पा, णाण दंसण समझ छूँ।
 स्वरांपूर्ण स्वावलम्बी, सच्चिदानन्द स्वरूपी छूँ।।
 एक होने से मेरा कोई अन्य, न होता मेरा स्वरूप ।।
 द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित, शत्रु-मित्र आदि मेरा न रूप ॥

इसलिए मैं स्वयं के लिए, स्वयं में ही लवलीन रहूँ॥(1)

शाश्वत होने से अविनाशी हूँ, जन्म-जरा-मरण से परे।।

इसलिए मैं सप्त-भ्रा रहित हूँ, छानि-लाभ से परे॥।

ज्ञानदर्शन स्वरूपी होने से, अज्ञान मेरा विश्वाव है।।

अतः विश्वाव को मैं दूर करूँ, प्राप्त करूँ स्व-स्वभाव है॥(2)

स्वरांपूर्ण होने से अन्य से मेरा, जन्म होना संभव नहीं।।

जन्म रहित होने के कारण, मरण भी मेरा संभव नहीं।।

स्वरांपूर्ण होने से (मैं) अन्य से, मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।।

अतः ही मैं ईर्ष्या रहित हूँ, परिण्वन तृष्णा नहीं चाहिए॥(3)

इन(सब) करणों से मैं स्वावलम्बी हूँ, अतः व हूँ मैं स्वतंत्र।।

पर-गिरिषेषा आत्मावलम्बी हूँ, अपेक्षा-प्रतीक्षा से स्वतंत्र।।

सच्चिदानन्द हूँ सत्य-शिव-सुन्दर, अत्यर्य-अविनाशी-परब्रह्म हूँ।।

मेरा स्वरूप ही मुझे चाहिए, पर से मैं पूर्ण विरक्त हूँ॥(4)

हिरण्मगरी से, 11 दि. 15.12.2014 प्रातः 10.45

मेरी परोपकारी भावना सफल हो

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तुम दिल की धडकन....)

परोपकार की मेरी भावना तीव्र होती, बाल्यकाल से ही मेरी यह प्रवृत्ति।।

निरस्तार्थ भाव से होती यह प्रवृत्ति, हर जीव प्रति मेरी होती यह वृत्ति।।

भेद-भाव रहित होती मेरी प्रवृत्ति, मैत्री प्रमोद कारण्य माध्यरथ वृत्ति।।

हर जीव सुखी रहे मेरी भावना, किसी के प्रति न मेरी दुष्ट भावना।।

तन मन इन्द्रियों से हो सभी स्वरूप, सज्जन ज्ञानी बनाने का होता प्रयास।।
 प्रेम संगठन से सभी करे विकास, आध्यात्मिक उन्नति हो परम लक्ष्य।।

मन वहन करा से मैं करूँ प्रयास, कृत करित अनुमत से करूँ विशेष।।

आध्यायन अध्यापन व लेखन द्वारा, प्रत्यवन शिरिर व संगोष्ठी द्वारा।।

अनुभव से देता हूँ शिक्षा विशेष, सत्य समता व शांति से सहित।।

स्व-पर हित मैं करूँ प्रयास, अन्य के अनुभव भी लेता विशेष।।

अन्य को प्रोत्साहित व प्रेरीत करूँ, पुरस्कर प्रशंसा सह सुधार करूँ।।

दोष दूर हेतु ही मैं प्रयास करूँ, ईर्ष्या द्वेषघृणामरा भाव न धरूँ।।

मेरी भावना का फल मुझे मिले भी, स्व-उपकार करते अन्य जन भी।
 पहले कुछ जन न समझ पाते, धौरि-धौरि मेरे भाव समझ पाते॥

अन्य से मेरा भ्राव होता है भिन्न, व्यवहार भी मेरा होता है भिन्न।
 अतः शीघ्र मुझे न समझ पाते, स्व उपकार से वे वंचित होते॥

सभी सुखी रहे यह मेरी भावना, ना समझने पर न होती कुभावना।
 मेरी भावना को समझे अन्य भी जन, ऐसी भावना भाता है 'कनक श्रमण'॥

हिरण्मगरी से, 11 दि. 8.12.2014 प्रातः 6.47

मेरी परम शिक्षाये

-आचार्य कनकनन्दी

(राग : 1. छोटी-छोटी गैया.... 2. सायोनारा.....)

अनेकान्त से मुझे शिक्षा मिलती, अनन्त धर्मात्मक है वस्तुस्वरूप ।
 अनन्त धर्ममय बनने हेतु, बनना है उदार व्यापक स्वरूप ॥(1)

स्थानाद से मुझे शिक्षा मिलती, सत्य कथन कर्ण सापेक्षमया।
 पक्षपात दुराग्रह से भी रहित, स्व-पर-विश्व कल्याण सहित ॥(2)

समात से मुझे शिक्षा मिलती, मोह-दोष से रहूँ मैं परे।
 संकल्प-विकल्प व संवलेश त्यागकर, सहिष्णु क्रमा व शान्ति पुरस्सर/परिपूर्ण ॥(3)

अपश्चिह्न से मैं लेता हूँ शिक्षा, तन-मन-इन्द्रिय परे मम रूप ।
 द्रव्यभ्राव गोकर्म रहित हूँ, सत्ता सम्पत्ति व प्रसिद्धि रित्क हूँ॥(4)

अहिंसा से मैं लेता हूँ शिक्षा, कषाय-मोह से मैं बनूँ निर्लिप्त ।
 दशधर्म पंचव्रत समिति सहित, संवलेश अध्यवसाय से बनूँ मुक्त ॥(5)

परमसत्य से मैं लेता हूँ शिक्षा, सचिवानन्दमय मेरा स्वरूप ।
 अनादि अनन्त स्वयंश्च स्वयंपूर्ण, कनकनन्दी है मेरा अत्याय रूप॥(6)

हिरण्मगरी(उदयपुर) सेवटर 11 दि. 26.11.2014 रात्रि 9.09

आचार्य कनकनन्दी संसंघ के दैनिक कार्यक्रम (पूर्व नियोजित कार्य ही संघ में होते)

-आचार्य कनकनन्दी

(राग : 1. छोटी-छोटी गैया...., 2. तीन बार शोजन भजन एक बार....)
 हमारे संघ के कार्यक्रम मैं लिखूँ, जिससे सबको हो सही परिज्ञान।
 जिससे सभी लोग लाभान्वित हों, स्व-पर विश्वकल्याण में समर्थ भी हो॥(1)

तीन बार सामायिक स्वाध्याय दो बार, प्रतिक्रमण होते हैं दिन में दो बार।
 लेखन व संशोधन ग्रन्थों का होता, आहर दिन में एक बार ही होता॥(2)

प्रतिष्ठापन(शौच) हेतु बाहर भी जाते, प्राणायाम योगासन बाहर करते।
 शोध-बोध-अनुसन्धान रोज करते, देश-विदेशों के साहित्य भी (रोज) पढ़ते॥(3)

दबाव प्रलोभन व संवलेश बिना, प्रवचन करते आडम्बर के बिना।
 पूजा विधान प्रभावना शिविर, संगोष्ठी होती ढँढँ कलह बिना॥(4)

व्यवस्थित कार्यक्रम सदा ही चले, सेवा सहयोग से शान्ति से चले।
 अतएव पूरा संघ ही व्यस्त रहता, अन्य जनों का भी सहयोग रहता ॥(5)

हर कार्य नियोजना पूर्व ही होते, जिससे हर कार्य व्यवस्थित चलते।
 संतुष्टी शान्ति व शिक्षा मिलती, अशान्ति अव्यवस्था देरी न होती ॥(6)

इससे संघ के कार्य होते महान्, देश-विदेशों के धार्मिक काम।
 विश्व विद्यालयों में शोध प्रबन्ध काम, स्वसंघ परसंघ के अध्ययन के काम ॥(7)

देश-विदेशों से वैज्ञानिक भी आते, दिग्म्बर श्वेताम्बर हिन्दू भी आते।
 अध्ययन व शोध कार्य करते, आध्यात्मिक प्रगति यहाँ करते॥(8)

व्यस्त-मस्त-संतोषी भी हम रहते, पूर्वनियोजना पूर्व कार्य करते।
 अन्यथा कार्यक्रमों में व्यवधान पड़ता, वैष्णव धर्म प्रवार सही न होता॥(9)

अनावश्यक काम हम नहीं करते, आडम्बर अव्यवस्थित काम न होता।
 अन्य के सहयोग भी हम ऐसा चाहते, 'कनक' को महान् कार्य ही आते॥(10)

हिरण्मगरी सेवटर 11 दि. 18.12.2014 प्रातः 7.45

मेरी (आचार्य कनकनंदी) की प्रतिज्ञा, संसंघ के नियम व कारण

-आचार्य कनकनंदी

तेरे प्यार का आसरा....)

प्रगारी-झुल्लक-मुग्नि दीक्षा में, ब्रत लिया हूँ मैं गुरु साक्षी में।
मेदाचल (1988) में ली झ्यारह प्रतिज्ञायें, बहु अवसर पर बहु प्रतिज्ञायें।।

ज्म जयन्ती नहीं मनाने का कारण

ज्म-जरा-मरण नाश के लिए, साधु मैं बना हूँ गोक्ष के लिए।
१: जन्म-जरान्ती नहीं मनाता हूँ, दीक्षादि जयन्ती भी नहीं मनाता हूँ।।(1)

ई गृहस्थ सम्बन्ध त्याग के कारण

इत्यागी ब्रह्मचारी जब से बना हूँ, गृहस्थ अवस्था से विरक्त हुआ हूँ।।
ललक की झ्यारह प्रतिमा धरा हूँ, अनुमत उद्दिष्ट भी गृह से त्यागा हूँ।।(2)

नम्बर साधु-व्रत जब से धरा हूँ, अलौकिक अनागर आचार धरा हूँ।।

वीन नामकरण गुरु ने किया है, गृहस्थ अवस्था के सम्बन्ध/(मोह)त्यागा है।।(3)
चपरमेष्ठी ही बन्धु है मेरे, वैष्णव कुटुम्ब के विवाह मेरे।।

जन्म्राय ही है वैभव मेरे, गोक्ष महल ही है मकान मेरे।।(4)

चना, शौतिक निर्माण आदि नहीं करने का कारण

मुष्टु-श्रीकृष्ण हूँ मैं नहीं शिखारी, सर्वपरिणहत्यागी साम्या धारी।।
तः मैं यावना या चन्दा न करूँ, शौतिक निर्माण हेतु भी कुछ न करूँ।।(5)

सिद्धि आदि नहीं चाहने का कारण

॥त्मा की सिद्धि हेतु साधु मैं बना, राग-द्वेष-मोह ममत्व त्यागा।।
तः मैं ख्याति-पूजा-प्रसिद्धि त्यागा, निस्पृह निराडम्बर समता शोगा।।(6)

।।द्वादशपूर्ण त्यवहार/(विद्वेष-विघटन), नहीं करने का कारण

समता साधक मैं श्रमण बना, संकल्प-विकल्प-संवलेश त्यागा।।

ज्ञी मैं सदाकाल ही समता भाव, अतः न मेरा-तेरा विभाव भाव।। (7)

।।ैंग पाखण्ड-दबाव प्रलोभन आदि से दूर रहने के कारण

ग्रात्मविश्वास-ज्ञान-चारित्र धर्म, इससे विपरीत होता अधर्म।।

।।ैंग-पाखण्ड आडम्बर दंग को त्यागा, दबाव प्रलोभन भय को त्यागा।।(8)

ग्रत्रिका विज्ञापन आदि नहीं करने के कारण

ग्रत्रिका विज्ञापन या निमन्त्रण, धन-जन-मान व दिखावा कामा
माईक-मंत्र व पण्डल तामझाम, गौकर चौका व गाड़ी सामान।।(9)

इत्यादि कार्य हेतु मैं नहीं कहता, अनावश्यक हेतु मना करता।।
सहज आगमोत्त जो कार्य होता, निस्पृह-समता से मैं प्रवृत्त होता।।(10)

(8) निस्पृह वृत्ति के कारण

कृत्व वर्त्सव व प्रसिद्धि हेतु, कोई न काम करूँ संवलेश हेतु।।
निस्पृह आंकिकन्या निस्वार्थ युक्त, काम करूँ मैं कृतज्ञता युक्त।।(11)

संस्थादि का नामकरण मेरा न करता, सहयोगी दाताओं का नाम लिखता।।
ऐसा ही पूरा संघ के नियम होते, समता शान्ति सहयोग से रहते।।(12)

(9) देश-विदेश में धर्म प्रचार के साधन

ध्यान अध्यायन व लेखन प्रत्यक्ष, शिविर संगोष्ठी व साहित्य प्रकाशन।।
देश-विदेशों में धर्मज्ञान का प्रचार, संघ में होता है सहज प्रवृत्त।।(13)

स्वेच्छा से सहभागी होते हैं भक्तजन, सहयोग करते वे तन व मन।।
समय-श्रम व धन भी लगाते, देश-विदेशों के भक्त ये करते।।(14)

सहज सरल व समता शान्ति से, सुरोम्य द्रव्य-दोष-काल व भ्राव से।।
मेरी प्रतिज्ञा व संघ के नियम कहा, 'कनकनंदी' को आध्यात्म शाया।।(15)

हिरण्मयरी से 11 दि. 4.1.2015 रात्रि 9.02

असंवलेशित भाव से विश्व-कल्याण की भावना भाऊँ

-आचार्य कनकनंदी

(वाल : तुम दिल की धड़कन.....)

विश्व हित की तो भावना भाऊँ, अन्य के कारण न संवलेश करूँ।।
रोगी का उपचार सुवैद्य करें, रोगी के कारण रोगी न बनें।।

मैत्री, प्रमोद व कालण्य माध्यस्थ, चारों/इन्हीं भावों से सहित बनूँ।।
दादश अनुप्रेक्षा व बोडस भावना, इन्हीं भावों से भावित बनूँ।।

सत्य-तथा को सर्वथा जानूँ, दोष-गुणों को सर्वथा मानूँ।।
दोषी-निर्दोषी को यथार्थ जानूँ, गुण-ग्रहण करूँ दोषों को हनूँ।।

अनन्त जीव है व अनन्त संसार, पृथक-पृथक होते हैं भाव-त्यवहार।।
सभी का सही होना नहीं संभव, स्वर्यं को सही बनाना संभव।।

स्वर्यं को सही बनाने में कर्णं प्रयत्नं, इसी हेतु सर्वथा मैं कर्णं प्रयत्नं।
प्रकाशित बनकर मैं प्रकाश कर्णं, आत्महित से पर हित मैं कर्णं॥
ही तीर्थकर देव ने किया, राग-द्वेष मोह सर्वथा त्यागा।
। से अनन्त सुख उन्होंने पाया 'कनकनन्दी' को भी यह ही भाया॥

मेरी भावना एवं साधना

-आचार्य कनकनन्दी

जः : तेरे प्यार का आसरा....)
(सत्य) का प्रचार मैं करना चाहता हूँ।
मया/(सत्यमरा) बनकर यह चाहता हूँ।
प्रत्यक्षन आत्मण से देना चाहता हूँ।
ज्योति स्वरूप रहना चाहता हूँ।

। प्रदान मैं पहले करता हूँ, दोषरहित मैं पहले होता हूँ।
। याचना पश्चात् करता हूँ, शीतल होकर शीत फैलाता हूँ।
प्रदान करके पाना चाहता हूँ, शिक्षा की याचना नहीं करता हूँ।
शान्ति देकर शान्ति चाहता हूँ, प्रेम देकर प्रेम चाहता हूँ।
मैं बनकर मैं ज्ञान देता हूँ, तोता के सम नहीं बोलता हूँ।
॥पन मैं नहीं करता हूँ, स्वर्यं को विज्ञापित पूर्वं करता हूँ।
पर प्रकाशी मैं नहीं बनता हूँ, स्व-प्रकाशी मैं स्वर्यं बनता हूँ।
परोपदेशी/(रायचन्द) मैं नहीं बनता हूँ, अन्ध पाषाण भी नहीं बनता हूँ।
पर गुण दोषों से शिक्षा लेता हूँ, आत्मिक शुद्धि से शक्ति चाहता हूँ।
य समता व शान्ति चाहता हूँ, 'कनक' स्वर्यं की प्राप्ति चाहता हूँ।

आत्म विंतन व आत्म नियन्त्रण (पापी-दुष्ट-अधर्मी के कारण भी न बनूँ अधर्मी)

-आचार्य कनकनन्दी

। : 1. छोटी-छोटी जैया....)
१ पापी कोई दुष्ट कोई अधर्मी, उनके कारण वर्यों मैं बनूँ अधर्मी।
। के कारण यदि कर्णं मैं राग द्वेष, उससे मैं बनूँगा अधर्मी अवश्य।।

वैद्य/डाक्टर के सम श्लोक कर्णं मैं काम, दूसरों को सुधारने का उचित काम।
रोग दूर करे वैद्य न बनता रोगी, तथाहि मैं सदा बना रहूँ वैरागी।।
तीर्थकर जानते सभी दोष अन्य के, उपदेश ठेते सदा सत्य-तथ्य के।
तथाहि न करते राग-द्वेष किसी से, तथाहि मैं साम्यात रहूँ सभी से॥

कोई विष पीने पर मैं न पीता हूँ विष, तथाहि न कर्णंगा अन्य हेतु राग-द्वेष।
अन्य के कारण यदि कर्णं मैं राग-द्वेष, अन्य का मैं बन गया दास विशेष।।
अन्य से यदि मैं संचालित होता रहूँगा, अन्य के कारण मैं पापी होता रहूँगा।
जिससे संसार ब्रह्मण मेरा होता रहेगा, दूसरों के कारण मैं दुखी होता रहूँगा।।
अतः अन्य से मैं न कर्णं राग-द्वेष, सत्य-समता-शान्ति से रहूँ विशेष।।
आत्म-हित सहित पर हित भी कर्णं, 'कनक' आत्म विशुद्धि सतत कर्णं॥

पर प्रपञ्च त्यागकर कर्णं स्व-शोध-बोध-कथन

-आचार्य कनकनन्दी

राग : 1. तुम दिल की धड़कन..... 2. सायोनारा..... 3. व्या मिलिये ऐसे
लोगो से.....)

अन्यादि काल से अनन्त भवों में, पर का ही गुणगान किया जैनों।
पर को ही जाना पर को ही माना, शोगोपशोग व मोह को किया ॥(1)
राग-द्वेष-धृणा-दुन्द-विग्रह किया, युद्ध-आक्रमण-संवलेश भी किया।।
पढ़ा व पढ़ाया लिखा व सुनाया, जिससे संसार में दुःखों को भोगा ॥(2)
तन-मन-इन्द्रिय व सत्ता-सम्पत्ति, शत्रु-मित्र व परिवार प्रसिद्धि।।
पढ़ाई-डिग्री व भोगोपशोग-सामग्री, इनके लिये की उपरोक्त प्रवृत्ति ॥(3)
स्तुति-पाठक सम किया अन्य के गुणगान, व्यापारी सम अन्य का किया मूल्यांकन।।
ग्रंथों के सम अन्य का बोझ मैं ढोया, सफाईकर्मी सम अन्य की गंठगी धोया।।(4)
नवकोटि से यह सभी त्याग मैं कर्णं, स्वर्यं को ही जानूँ व स्वर्यं को ही मानूँ।।
ध्यान-अध्ययन व शोध-बोध ही कर्णं, मनन-विंतन व कथन भी कर्णं॥(5)
तन-मन-इन्द्रिय नहीं है मम रूप, यह सब कर्मज है विकारीरूप ।।
मैं तो अमूर्तक व विन्मरुप, शुद्ध बुद्ध व आनन्दमय रूप ॥(6)
तीर्थकर-गणधर-आचार्य-पाठक, साधु-साध्वी व मुमुक्षु-शारक।।
इन भावों से ही बनते सच्चे साधक, क्रमशः करते परम आत्म-विकास ॥(7)
यह है परम आध्यात्मिक रहस्य, समता शान्ति आत्मोपलब्धि रहस्य।।

‘कनक’ करे सदा प्रयास, अन्य सब में न आता है रस॥(8)

ज्ञाय की कविता

क्षुद्र व्यक्ति के कारण मैं संकल्प-विकल्प-संवलेश व्यों करूँ?

-आचार्य कनकनन्दी

1. सारोनारा..... 2. तुम दिल की धड़कन हो.....)

॥ उस पार चला....रग-द्वेष मोह के बन्ध छोड़ा/(तोड़ा)....

क्षुद्र भाव-काम परे....सत्य-समता पाने मैं चला....(स्थारी)....

लघिय के हेतु मैं चला....ख्याति-पूजा-लभ की आसक्ति छोड़ा....

वेकल्प-संवलेश छोड़ा....क्षुद्र भाव-काम की सीमा मैं तोड़ा....(1)

॥ सोये या कुछ भी बोले....या काम करे या कुछ भी चाहे....

कल्प-विकल्प मैं छोड़ा....स्व-पर हित हेतु भाव मैं धरा....(2)

ता व आत्म हित के बिना....कुछ भी न करूँ सुविवेक बिना....

नुभृत व स्व शक्ति युक्त....भाव-व्यवहार करूँ शुचि सहित....(3)

करते तीर्थकर केवली सन्त....क्षुद्र जन मानते ऊहे भी गलत....

महापुरुष हुए न आगे होंगे....जिनको सभी जन सही ही मानते....(4)

॥ से न होता है सूर्य प्रभावित....वैश्या से न होती है सती प्रभावित....

न होता है योगी प्रभावित....तथाहि न होऊँ मैं क्षुद्र से प्रभावित....(5)

ती हवा से न सुमेरु कभी....ईंधन जलाती आग से न आकाश कभी....

मेरे कभी न प्रकाश डरता....क्षुद्र जन से ‘कनक’ न क्षुद्र बनता....(6)

॥ यदि न होते क्षुद्र प्रभावित....क्षुद्र से वर्यों होंगे महान् भी प्रभावित....

न से मैं होऊँ प्रभावित....क्षुद्र जन से मैं न होऊँ शुभित/क्षुद्र)....(7)

पर से अप्रभावित होना चाहता हूँ

(पर के कारण न बनूँ मैं पापी)

-आचार्य कनकनन्दी

1. तेरे प्यार का असारा....)

स्वावलम्बी (मैं) होना चाहता हूँ। पर से अप्रभावी मैं होना चाहता हूँ।

पर हेतु रग-द्वेष-मोह त्यागता हूँ, पर हेतु कर्म-बंध नहीं चाहता हूँ।(स्थारी)
पर से प्रभावित मैं यदि होऊँगा, रग-द्वेष-मोह यदि मैं करूँगा।
उसी से कर्मबंध मैं ही करूँगा, उसका दुःखद फल मैं ही भोगूँगा।(1)
रिमोट कंट्रोल से यथा T.V. चलता, चालक से यथा है वाहन चलता।
अन्य से प्रभावित यदि मैं होऊँगा, अन्य का दास मैं तो हो ही जाऊँगा।(2)
तीर्थकरों से मैं लेता हूँ शिक्षा, ज्ञान-दृष्टा बनने की महान् शिक्षा।
अन्य के दोषों को मैं भले ही जानूँ, अप्रभावित हो मैं शिक्षा ही लहूँ।(3)
मेरी प्रगोद व कारण्य माध्यस्थ, प्रशम संवेग व वैराग्य आस्तिवय।
अष्टगुण व अष्ट अंग की भावना, भावा रहूँगा मैं बोडशा/(सोलह) भावना।(4)
स्व-आत्म गुणों का मैं करूँगा स्मरण, मैं हूँ अनंतज्ञान सुख/व) वीर्यवान्।
इसी से बनूँगा मैं स्वर्यं ही भगवान्, ‘कनक’ इसी हेतु ही बना/(है) प्रयत्नवान्।(5)

उत्सर्ग एवं अपवाद की मैत्री

बालो वा बुइढो वा समाखिहो वा पुणो गिलाणो वा
चरियं चरदु सजोग्नं मूलच्छेदो जद्या ण छवदि ॥(230)

A monk young or old, exhausted or deceased, should practise a course of conduct fit for him in a manner that there is no violation of primary virtues.

आगे कहते हैं कि उत्सर्ग निष्ठय है तथा अपवाद व्यवहार है। इन दोनों में किसी अपेक्षा से परस्पर सहकारीपना है, ऐसा स्थापित करते हुए चारित्र की रक्षा करनी चाहिए, ऐसा दिखाते हैं।

(बालो वा) बालक मुनि हो अथवा (बुइढो वा) बुइढा हो या (समाखिहो) थक गया हो (पुणो गिलाणो वा) अथवा रोगी हो ऐसा मुनि (जद्या) जिस तरह (मूलच्छेद) मूल संयम का भंग (ण छवदि) न होवे (सजोग्नं) वैसे अपनी शक्ति के योग्य (तर्हा) आवार को (तरड़) पालता है।

प्रथम ही उत्सर्ग और अपवाद का लक्षण कहते हैं। अपने शुद्ध आत्मा से अन्य सर्व भीतरी व बाहरी पश्चिम का त्याग देना सो उत्सर्ग है, इसी को निष्ठय-नय से मुनि धर्म कहते हैं। इसी का नाम सर्व परित्याग है, परमोपेक्षा संयम है, वीतरण चारित्र है, शुद्धोपयोग है - इन सबका एक ही भाव है। इस निष्ठय मार्ग में जो ठहरने को समर्थ न हो वह शुद्ध आत्मा की भावना के सहकारी कुछ भी प्रासुक आहार, ज्ञान का उपकरण शास्त्रादि को ग्रहण कर लेता है यह अपवाद मार्ग है।इसी

ग्रनय से मुनि धर्म कहते हैं। इसी का नाम एक देश परित्याग है, अपहृत सरागवारिं है, शुभोपयोग है, इन सबका एक ही अर्थ है। जहां शुद्धात्मा ॥ के निमित्त सर्व त्याग खल्प उत्सर्व मार्ग के कठिन आवरण में वर्तन आ साधु शुद्धात्मतत्त्व के साधक रूप से जो मूल संयम के साथ मूल शरीर तरह नाश नहीं होते उस तरह कुछ भी प्रासुक आहर आदि को ग्रहण कर प्रो अपवाद की अपेक्षा या सहायता-सहित उत्सर्व मार्ग कहा जाता है और मुनि अपवाद रूप अपहृत संयम के मार्ग में वर्तता है तब श्री शुद्धात्म तत्त्व खल्प से जो मूल संयम है उसका तथा मूल संयम के साधक मूल शरीर का ह विनाश न हो उस तरह उत्सर्व की अपेक्षा सहित वर्तता है - अर्थात् इस न करता है जिस तरह संयम का नाश न हो। यह उत्सर्व की अपेक्षा सहित मार्ग है।

गल, वृद्ध श्रमित (थका हुआ) या ब्लान ऐंगी मुनि को भी संयम का जो कि त्व का साधन होने से मूलभूत है, छेद जैसे न हो उस प्रकार संयत अपने ति कर्कश (कठोर) आवरण ही आवरण, इस प्रकार उत्सर्व है। बाल वृद्ध ब्लान मुनि को शरीर का जो कि शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का होने से मूलभूत है उसका - छेद जैसे न हो उस प्रकार से बाल- वृद्ध ब्लान के द्वारा अपने योन्य मृदु आवरण ही आवरण इस प्रकार अपवाद है। श्रान्त ब्लान के संयम का जो कि शुद्धात्मतत्त्व का साधन होने से मूलभूत जैसे न हो उस प्रकार का संयत ऐसा अपने योन्य अति कठोर आवरण आवरते रे का जो शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का साधन होने से भी मूल भूत जैसे न हो उस प्रकार बाल- वृद्ध- श्रान्त- ब्लान को अपने योन्य मृदु भी आवरण चाहिए। इस प्रकार अपवाद सापेक्ष उत्सर्व है। बाल-वृद्ध- ब्लान को शरीर का, जो कि शुद्धात्मतत्त्व के साधन भूत संयम होने से मूलभूत जैसे न हो उस प्रकार से बाल-वृद्ध- श्रान्त- ब्लान ऐसे अपने योन्य मृदु आवरते हुये, संयम का, जो कि शुद्धात्मतत्त्व का साधन होने से मूलभूत है, ने हो, उस प्रकार के संयत को ऐसा अपने योन्य अतिकर्कश आवरण भी इस प्रकार उत्सर्व सापेक्ष अपवाद है। इससे यह कहा है कि सर्वथा उत्सर्व वाद की मैत्री द्वारा आवरण की सुरितता करनी चाहिए।

समीक्षा-प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति होते हुये भी कर्म परतन्त्रता के त्योक जीव की शक्ति, भक्ति, युक्ति समान नहीं है। उसलिये श्रमण को अपनी तथा द्रव्य, दोष काल को तौलकर ध्यान, अध्यायन, तप त्यागादि करना जिससे मूलच्छेद भी न हो और धीर-धीर आध्यात्मिक दोष में आगे बढ़ता चले।

'श्रमण संहिता प्रख्यक मूलावार में कहा भी है -

दत्वं खेतं कालं भावं सत्तिं च सुदु णाऊण।

ज्ञाणज्ञायणं च तदा साहू चरणं समावरक्ता॥ (1007) आग ii. पृ. 165

द्रव्य- आहर, शरीर आदि दोष - जांगल रूप आदि काल-सुषमा आदि व शीत, उष्ण आदि, भाव-परिणाम शक्ति-स्वास्थ्य, बल आदि इन्हें अच्छी तरह जानकर तथा ध्यान और अध्यायन को जानकर साधु चारित्र का आवरण करे। इस प्रकार की कथित विधि से चारित्र शुद्धि होती है।

दत्वं खेतं कालं भावं बलवीरियं च णाऊण।

कुज्जा एषणसमिदि जहोवदित्त जिनमदग्मि॥ (490) आग प. i. 377

द्रव्य, दोष, काल, भाव तथा बलवीर्य को जानकर जैसे जिनमत में कही गई है ऐसी एषणा समिति का पालन करें।

द्रव्य-आहर आदि पदार्थ को जानकर, दोष-जांगल, अनुप, रक्षा, रिनब्ध आदि दोष को जानकर, काल-शीत, उष्ण, वर्षा आदि को जानकर, भावात्मा के परिणाम, श्रद्धा, उत्साह को जानकर तथा अपने शरीर के बल को जानकर एवं अपने वीर्य-संहनन को जानकर साधु, जिनगम में जैसा उसका वर्णन किया गया है उसी तरह से एषणा समिति का पालन करे। यदि द्रव्य, दोष आदि की अपेक्षा न रखकर चाहे जैसा वर्तन करेगा तो शरीर में वात-पित्त-कफादि की उत्पत्ति हो जावेगी।

आगम से ज्ञात होता है कि पंचम काल में शारीरिक शक्ति क्षीण रहती है, मन चंचल रहता है और शरीर अन्न का कीड़ा रहता है। इसलिए तो पंचम काल में उत्कृष्ट तपस्या, अधिक उपवास, शुचल ध्यान आदि नहीं होते हैं। कहा भी है-

काले कलौ चले वितो देहे चान्नादि कीटके।

एतत्विं यद्यापि जिनरूपधरा नरा ॥ यशस्तिलक्ष्म्यु

कलि काल है, वित चंचल है, देह अन्न का कीड़ा है तथापि जिनरूप को धारण करने वाले साधु विवरण करते हैं यह महान् आश्वर्य है। जैनाचार्य उग्रादित्य ने कल्याण कारक में योन्य शरीर का वर्णन करते हुये कहा है कि -

स्थूलः कृशश्चाप्यति निंदनीयौ भाराश्रवयानादिषु वर्जनीयौ।

सर्वास्वतस्थास्वापि सरथिष्टः सर्वात्मना मध्यमदेह युक्तः॥ (40) पृ.38

स्थूल व कृश देह अत्यन्त निंद्य है एवं भार वहन, घोड़े की सवारी आदि कार्य में ये दोनों शरीर अनुपयोगी हैं। सर्व अवस्थाओं में, सर्व तरह से सरथा मध्यम देह ही उपयोगी है।

स्थूलस्य काश्यं करणीयमत्र रुक्षयौषधौ भौजनपानकाश्यैः।

सिनघैस्तथा पुष्टिकरैः कृशस्य पथरैस्सदा मध्यमरुक्षाणं स्यात्॥ (41)

सदा रक्षा औषधि, श्रोजन- पान आदि से स्थूल शरीर को कृश करना चाहिये, शरीर को रिनब्ध तथा पुष्टिकर औषधि अन्नपानों से पुष्ट बनाना चाहिए और सेवन से मध्यम देह का रक्षण करना चाहिए अर्थात् स्थूल व कृश होने जही

चतुर्थ काल में वज्र की अस्थि, वज्र की सन्धि वज्र के बन्धन होते थे, प्रदूषण ज्ञ था, श्रोजन भी पौष्टिक, रसदार था, जलवायु अनुकूल थी। खटमल, मच्छर लत्रय जीव कम प्रमाण में थे जिसके कारण अधिक उपवास, रस त्याग यादि करने पर ऊँचे दुर्बलता नहीं आती थी, रोग नहीं होते थे। परन्तु वर्तमान काल में इससे विपरीत परिस्थितियाँ आदि हैं। इसलिये जैनगम में कहा है ग्रातपन योग (सूर्य की ओर मुँह करके तपस्या करना) वर्षा ऋतु में वृक्षमूल वास के नीचे बैठ कर पानी की बौछार सहते हुये तपस्या करना) शीत ऋतु में खुले श में रहकर तपस्या करना आदि विलष्ट साध्य तप निषेध है वयोंकि इसमें इष्ट एवं आर्तधान होने की अधिक सम्भावना रहती है। इसलिये कहा है - "तस्त्यागतपसी" अर्थात् शक्ति के अनुसार त्याग करना चाहिये एवं शक्ति के अनुसार तप करना चाहिये। अतः स्वशक्ति, स्व-प्रकृति के अनुसार तपादि करना। एवं छितावह है। कहावत है-' देखा देखी साथे योग छीजे कराया बाढ़े रोग।' ॥ जो दूसरों का अन्धानुकरण करके प्रसिद्धि आदि के लिये योग (तप) साधता उसे सिद्धि नहीं मिलती है परन्तु शरीर दुर्बल हो जाता है, रोग बढ़ते हैं। आगम हा है कि शक्ति से न कम तप करना चाहिये, न अधिक। कम तप करना भी कारक है, वयोंकि इससे मायावारी, प्रमाद, आलस्य, भोगासक्ति, विलासिता दुर्गुण जन्म लेते हैं। बाह्य तप उतना तपना चाहिये जिससे संवलेश भी न हो अन्तर्गं की तपस्या में वृद्धि हो, वयोंकि बाह्य तप तपने का उद्देश्य अन्तर्गं या की वृद्धि के लिये है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है -

**बाह्यं तपः परम दुश्वरमावरस्त्वं
माध्यात्मिकस्य तपसः परिवृहंणार्थम्।**

हे भगवान्! आपने परम दुश्वर (कठिनता से आवरण योग्य) बाह्य तप को रंग तपस्या की वृद्धि के लिये तपा है। इसलिये गुणाद स्वामी ने कहा भी है- यदि तू कष्ट को न सहने के कारण घोर तप का आवरण नहीं कर सकता न कर परन्तु जो कषायादिक मन से सिद्ध करने योग्य हैं- जीतने योग्य हैं- भी यदि नहीं जीता है तो वह तेरी अज्ञानता है। तपश्वरण में शूख आदि के को सहना पड़ता है, इसलिये यदि अनशन आदि तपों को नहीं किया जा रहा है तो न भी किया जाय। परन्तु जो राश, द्वेष एवं क्रोधादि आत्मा का अहित

करने वाले हैं उनको तो भले प्रकार से जीता जा सकता है कारण कि उनके जीतने में न तो तप के समान कुछ कष्ट सहना पड़ता है और न मन के अतिरिक्त किसी अन्य समझी की अपेक्षा भी करनी पड़ती है। इसीलिये उक रागद्वेषादि को तो जीतना ही चाहिये। फिर यदि उनको भी प्राणी नहीं जीतना चाहता है तो यह उसकी अज्ञानता ही कही जाएगी। अन्यतरी आराधना (मुनि आवार संहिता) शास्त्र में कहा जाया है कि जिस साध्य की पित प्रकृति है, वे अधिक उपवासादि न करके अल्पाहार करें, वयोंकि उपवास करने से अधिक पित बढ़ता है तथा जठराभिन श्रोजन के अभाव में मल को पचाती है और मल के अभाव में चर्वी पचा देती है, एवं चर्वी के अभाव में रक्त, मांसादि को भी पचाने लगती है जिससे शरीर क्षीण, दुर्बल एवं अशक्त हो जाता है। इसी प्रकार प्यास लगने पर भी पानी नहीं पीने से जल की कमी हो जाती है - जल की कमी से कण्ठ, जिठ्ठा, ओठ, शरीर सूखने लगता है, रक्त संचालन ठीक तरह नहीं हो पाता है, शारीरिक मल की धुलाई भी अच्छी तरह नहीं हो पाती है। इसके साथ-साथ मूत्र गाढ़ा लाल हो जाता है एवं पेशाब में तकलीफ होती है, जननेनिद्र्या में पीड़ा एवं जलन होती है। उपरोक्त कारणों से शरीर में विशिन ग्रकार के रोग हो जाते हैं।

शास्त्राज्ञा यह है कि शक्ति को छिपाकर, प्रमादी होकर भोगाशिलाषी नहीं होना चाहिये, वयोंकि इसमें मायावारी, सुखाशिलाषा, रोग आदि भाव होने से कर्म बंध के कारण बनता है, परन्तु शक्ति से भी अधिक तपादि नहीं करना चाहिये वयोंकि इसमें दिखावा, अतिवाद, संवलेशादि संभव है, जिससे शारीरिक-मानसिक आदि रोग तथा कर्मबन्ध भी संभव हैं। शास्त्राज्ञा यह भी है कि जिस मुमुक्षु की मुनि दीक्षा लेने की योग्यता एवं भावना है परन्तु गुरु यदि उसको भावक की शिक्षा-दीक्षा देता है तो वह गुरु प्रार्थित के भागी है वयोंकि उसने नीच पदती की शिक्षा-दीक्षा देकर उसको अधिक लाभ से वंचित कर दिया परन्तु जिसके मंद ज्ञान -वैराग्य है उसको उसकी योग्यता के अनुसार धीर-धीरे आगे बढ़ाना चाहिये। आत्मानुशासन में गुणाद्वावर्य ने किस प्रकार मिथ्यादृष्टि को सम्बद्धित तथा सम्बद्धित को श्रावक और श्रावक को मुनि बनाकर शक्ति के अनुसार सुव्यवस्थित रूप से आगे बढ़ता ही चलना चाहिये उसका एक सुन्दर वित्रण निम्न प्रकार से किया है -

मिथ्यात्वातदंकवतो हिताहितप्राप्त्यनाप्तिमुग्धस्य।

बालस्येव तत्वेण सुकुमारैव क्रिया क्रियते॥ (16) आत्मानुशा. पृ. 18

मिथ्यात्वरूप रोग से सहित होकर हितकी प्राप्ति और अहित के परिष्ठार को न समझ सकने वाले बालक के समान तेरे लिये यह सम्यावत्व-आराधनारूप सरल चिकित्सा की जाती है।

विषयविषमाणोत्थितमोहज्वरजनितीवृष्णस्य।

निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान्॥ (17)

विषयाल्प विषम शोजन से उत्पन्न हुए मोहर्लप ज्वर के निमित्त से जो तीव्र कांक्षा और प्यास से सहित है तथा जिसकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण हो रही है ऐ लिये प्रायः पेय (विने के योन्य सुपात्व फलों का रस आदि तथा अण्ड्रत , आदि की चिकित्सा अधिक श्रेष्ठ होगी।

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी।

पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम्॥ (120) पृ. 113

साधु पहले दीपक के समान प्रकाश प्रधान होता है तत्पश्चात् वह सूर्य के ताप और प्रकाश दोनों से शोभारामान होता है।

भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानवारित्रभास्वरः।

स्वमन्यं भासयत्येष प्रोढमत्कर्म (न् कर्म) कज्जलम्॥ (121)

वह बृद्धिमान साधु दीपक के समान होकर ज्ञान और चारित्र से प्रकाशमान है। तब वह कर्मरूप काजल को ऊंचाता हुआ स्व के साथ पर को प्रकाशित है।

अशुभाव्युभामायातः शुद्ध स्यादयमागताम्।

र्खेप्याप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः॥ (122)

यह आराधक भ्रत्याजीव आगम ज्ञान के प्रभाव से अशुभरूप असंयम से शुभं राम अवस्था को प्राप्त हुआ समस्त कर्ममल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है । है - सूर्य जब तक संध्या (प्रभातकाल) को नहीं प्राप्त होता है तब तक वह गर को नष्ट नहीं करता है।

विद्युतमसो रागस्तपःश्रुतनिबन्धनः।

संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरश्युदयाय सः॥ (123)

अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट कर देने वाले प्राणी के तो तप और शाश्र फ अनुग्रह होता है वह सूर्य की प्रभातकालीन लालिमा के समान उसके य (अशिवृद्धि) के लिये होता है।

त्सर्ग एवं अपवाद की मित्राल्पी चारित्र से
कम कर्म बंध होता है

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं अवधिं।

जणित्ता ते समणो वट्टि जटि अप्यलेवी सो॥(231) प्र.सार

If a Sramana observes his course of conduct understanding the (nature of) food, touring, place, time, physical labour, his forbearance and his bodily condition, he incurs the least bondage.

आगे आवार्य कहते हैं कि अपवाद की अपेक्षा बिना उत्सर्ग तथा उत्सर्ग की अपेक्षा बिना अपवाद निषेधने योन्य है। तथा इस बात को व्यातिरिक्त द्वार से दृढ़ करते हैं।

(यदि) यदि (समणो) साधु (आहारे व विहारे) आहार या विहार (देसं काल समं उवधिं ते जणित्ता) देश को, समय को, मार्ग को, थकान को, उपवास की क्षमता या सहनशीलता को तथा शरीर लप्ति परिभ्रह की दशा को इन पांचों को जानकर (वट्टि) वर्तन करता है (यो अप्यलेवी) यह बहुत कम कर्मबंध से लिप्त होता है। जो श्रुत मित्रादि में समान वित्त को रखने वाला साधु तपस्वी के योन्य आहार लेने में तथा विहार करने में नीचे तिरखी इन पांच बातों को पहले समझकर वर्तन करता है वह बहुत कम कर्मबंध करने वाला होता है। (1) देश या क्षेत्र कैसा है (2) काल आदि किस तरह का है (3) मार्ग में कितना शम हुआ है त होना (4) उपवासादि तप करने की शक्ति है या नहीं (5) शरीर बालक है, या वृद्ध है या थकित है या रोगी है। ये पांच बातें साधु के आवरण के सहकारी पदार्थ हैं। आत यह है कि यदि कोई साधु पहले कहे प्रमाण कठोर आवरणरूप उत्सर्ग मार्ग में ही वर्तन करे और यह विवार करे कि यदि मैं प्रायुक आहार आदि ग्रहण के निमित्त जाऊंगा तो कुछ कर्मबंध होना इसलिये अपवाद मार्ग में न प्रवर्तते तो यह फल होना कि शुद्धोपयोग में निष्ठलता न पाकर चित्त में अर्त्तध्यान से संवलेश भाव हो जायेगा तब शरीर त्यागकर पूर्वकृत पुण्य से यदि देवलोक में चला गया तो वहां दीर्घकाल तक संयम का अभाव होने से महान् कर्म बंध होवेगा इसलिये अपवाद की अपेक्षा न करके उत्सर्ग मार्ग को साध त्याग देता है तथा शुद्धात्मा की भावना को साधन करनेवाला थोड़ा सा कर्मबन्ध हो तो भी लाभ अधिक है ऐसा जानकर अपवाद की अपेक्षा सहित उत्सर्ग मार्ग को स्वीकार करता है। तैसे ही पूर्व सूत्र में कहे क्रम से कोई अपहतसंयम शब्द से कहने योन्य अपवाद मार्ग में प्रवर्तता है वहां वर्तन करता हुआ यदि किसी प्रकार से औषधि, पश्च आदि के लेने से कुछ कर्मबन्ध होना ऐसा भय करके रोग का उपाय न करके शुद्ध आत्मा की भावना को नहीं करता है तो उसके महान् कर्म का बंध होता है अथवा व्याधि के उपाय में प्रवर्तता हुआ भी हरीतकी अर्थात् हरड़ के बहाने गुड़ खाने के समान इन्द्रियों के सुख में लम्पटी होकर संयम की विराधना करता है तो भी महान् कर्मबन्ध होता है। इसलिये साधु उत्सर्ग की अपेक्षा न करके अपवाद मार्ग को त्याग करके शुद्धात्मा की भावना रूप व शुशोपयोग रूप संयमकी विराधना

रता हुआ औषधि पथ्य आदि निर्मित अल्प कर्मबन्ध होते हुए भी बहुत गुणों से उत्सर्ग की अपेक्षा सहित अपवाद को स्वीकार करता है, यह अभिप्राय है।

क्षमता तथा ज्ञानता का हेतु उपवास है और बाल तथा बुढ़ापा उपथि रूप के अश्रित हैं। इसलिये यहां बाल-बृद्ध-श्रांत-ज्ञान ही लिये गये हैं।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-बृद्ध-श्रांत-ज्ञानत्व के अनुरोध से (कारण आहरविहार में प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से अल्प ही लेप होता शर्तु विशेष लेप नहीं होता, इसलिये अपवाद अच्छा है।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-बृद्ध-श्रांत-ज्ञानत्व के अनुरोध से जो विहार है उससे होने वाले अल्पलेप के भ्रा से उसमें प्रवृत्ति न करे तो अर्थात् द के आश्रय से होने वाले अल्पबंध के भ्रा से उत्सर्ग का हठ करके अपवाद जूता न हो तो अति कर्कश आचरणरूप होकर अक्रम से शरीरपात करके देवलेक करके जिसने समस्त संरामामृत का समूह सेवन कर डाला है उसे तप का गशा न रहने से, जिसका प्रतिकार अशवय है ऐसा महान् लेप होता है इसलिये द निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेष्ठकर नहीं है।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-बृद्ध-श्रांत-ज्ञानत्व के अनुरोध से जो विहार है उससे होने वाले अल्पलेप के भ्रा से उसमें यथेष्ट प्रवृत्ति करे तो अपवाद से होने वाले अल्पबंध के प्रति असावधान होकर उत्सर्ग रूप धोया फूककर अपवाद में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करे तो मृदुआचरण रूप होकर संरामी को- असंयतजन के समान हुये उसको उस समय तप का अवकाश न रहने सका प्रतिकार अशवय है ऐसा महान् लेप होता है इसलिये उत्सर्ग - निरपेक्ष द श्रेष्ठकर नहीं है।

इससे उत्सर्ग और अपवाद के विरोध से होने वाले आचरण की दुःरित्थता । निषेध्य(ताज्ज्य) है, और इसीलिये परस्पर - सापेक्ष उत्सर्ग और अपवाद से इ कार्य प्रगट होता है, ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनुसरण करने चाहिया है।

इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जैष्टं विशिष्टाददै-

उत्सर्गादपवादतत्त्वं विचरद्बहवीः पृथग्भूमिकाः।

आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः

सर्वतिष्ठितसामान्यविशेष भासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिः।

इस प्रकार विशेष आदर-पूर्वक पुराण पुरुषों के द्वारा सेवित उत्सर्ग और द द्वारा अनेक पृथक-पृथक भूमिकाओं में विचारण करने वाले यति चारित्र को करके क्रमः अतुल निवृत्ति करके सामान्य विशेष रूप वैतन्य जिसका ग्र है ऐसे निज द्रव्य में सर्वतः स्थिति करें।

समीक्षा-जब वट बीज अंकुरित होता है तथा क्रमल पौधावरस्था में रहता है तब उसकी सुरक्षा की अधिक आवश्यकता होती है, परन्तु जब वही अंकुर विशाल वृक्ष रूप में परिणाम कर लेता है तब उसके ऊपर अनेक पशु-पक्षी बैठते हैं, गर्मी, झाँझा-वात भी सहन कर लेता है यहाँ तक कि हाथी को भी उसकी शाखाओं से बानधते हैं तथापि वह वृक्ष उसको सहन कर लेता है, परन्तु यह कर्त्ता वह वृक्ष शिशु अवस्था में सहन करने के लिये समर्थ नहीं था परन्तु बड़ा होने पर समर्थ हो गया। इस ही प्रकार प्राथमिक साधक शिशु वृक्ष के समान होता है और नैछिक साधक/सिद्ध साधक प्रौढ़ वृक्ष के समान होता है। प्राथमिकावस्था में जो कष्ट साध्य कर्त्ता होता है वही कर्त्ता सिद्ध साधक के लिये सरल हो जाता है जिस प्रकार मिट्टी का कच्चा घड़ा पानी से गल जाता है वही घड़ा जब अग्नि से पवका हो जाता है तब पानी को भी अपने भीतर धारण कर लेता है। इस ही प्रकार मोक्ष मार्ग में भी जान लेना चाहिये।

जिस प्रकार शिशु को मृदु श्रोजन दिया जाता है परन्तु उसी शिशु को बड़ा होने जाने पर गुरु श्रोजन भी दिया जाता है उसी प्रकार प्राथमिक साधक पहले मृदु साधना करता है और वही साधक निष्पात होने पर विलष्ट साधना भी कर लेता है। जिस प्रकार रोगी व्यक्ति लघुपाक श्रोजन करता है, विलष्ट साध्य कर्त्ता नहीं करता परन्तु वही व्यक्ति स्वस्थ-अवस्था में गुरु पाक भी श्रोजन करता है तथा भारी शारीरिक कर्त्ता भी करता है। यदि रोगी गुरु पाक श्रोजन करेगा तथा भारी शारीरिक कर्त्ता करेगा तो और भी रोगी हो जायेगा किन्तु स्वस्थ व्यक्ति यदि केवल लघुपाक श्रोजन करता रहेगा एवं शारीरिक श्रम नहीं करेगा तो वह भी अस्वस्थ या दुर्बल हो जायेगा। इसी प्रकार असमर्थ श्रमण भी यदि समर्थ साधक के समान उत्सर्ग मार्ग को अपनायेगा तो वह एक तो उत्सर्ग मार्ग में चल नहीं पायेगा दूसरा अपवाद मार्ग से भी विचलित हो जायेगा, परन्तु वही साधक ही जब समर्थ होकर भी प्रमादतवशः सुखाभिलाषा से या देखा-देखी अपवाद मार्ग को अपनायेगा तो वह भी अधिक कर्मबंध को करेगा, इसलिये द्रव्य क्षेत्र काल, भाव, शक्ति आदि को तौलकर ही आगमानुसार आचरण करना चाहिये जिससे अल्पकर्मबंध होगा। परन्तु सतत उत्कृष्ट आचरण की ही भावना भानी चाहिये जिससे आगे योग्य द्रव्यादि मिलेंगे जिसके माध्यम से उत्कृष्ट साधना भी संभव हो जायेगी एवं मोक्ष भी हस्तगत हो जायेगा। कुन्दकुन्द देव ने कहा भी है -

जं सरकड़ तं कीरड़ जं च ण सरकड़ तं च सद्धृणः।

केवलिजिणेहिं भणियं सद्धमाणस्स सम्मतं॥ (22) अ.पा.पृ. 39

जो कर्त्ता किया जा सकता है वह किया जाता है और जिसका किया जाना

यह नहीं है उसका श्रद्धान करना चाहिये। केवलज्ञानी जिनेन्द्र भगवान् ने श्रद्धान ऐसे वाले पुरुषों को सम्प्रदर्शन कहा है। कहा भी है -

कीजै शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना सरथा धरै।
'यानत' सरथावान, अजर अमर पद भोगतै ।

शक्ति के अभाव में भी यदि कोई श्रमण आत्मा को अजर-अमर निराहारी जकर भोजन नहीं लेगा तब वह संवलेश परिणाम से अधिक कर्मबंध करेगा। जो थीकर केवलज्ञान के बाट शरीर सहित भी लाखों-करोड़ों वर्ष निराहार रह सकते तो ही तीर्थीकर छम्भस्थावस्था में भी अनेक बार आहार लेते हैं, तब सामान्यसाधक तो बात ही वया है ? गुणभद्रावार्य ने कहा भी है -

समस्तं सामाज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्,
तपस्यन् निर्माणः कृधित इव दीनः परगृहान्।
किलाटभिदकार्थी स्वयमलभानोऽपि सूचिरं।

न सोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्यवशतः॥ (118) आशा पृ. 112

जिन वृषभदेव ने समस्त राज्य-तैभाव को तृण के समान तृच्छ समझकर छोड़ या था और तपश्चरण को स्वीकार किया था तो भी निरभिमान होकर क्षुधित के मान भिक्षा के निमित्त स्वयं दूसरों के घरों पर घूमें। पिर भी उन्हें निरन्तराय आहार भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार उन्हें छह मास घूमना पड़ा पिर भला अन्य साधारण गो या महापुरुषों को अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए याहां वया (परिषह आदि) भी सहन करना चाहिये ? अर्थात् उसकी सिद्धी के लिए उन्हें सब कुछ करना ही होये।

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव
स्वयं सघ्ना सृष्टे: पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुष्याट जगती-
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हृत विद्येः॥ (111)

जिस आदिनाथ जिनेन्द्र के गर्भ में अने के पूर्व छह महिने से ही इन्द्र दास समान हृष जोड़े हुए सेवा में तप्तपर रहा, जो स्वयं ही सृष्टि की खना करने वाला अर्थात् जिसने कर्मभूमि के प्रारम्भ में आजीविका के साधानों से अपरितित प्रजा लिए आजीविका विषयक शिक्षा दी थी तथा जिसका पुत्र भरत निधियों का स्वामी छवर्ती था वह इन्द्रादिकों से सेवित आदिनाथ तीर्थीकर जैसा महापुरुष भी क्षित होकर छह महिने तक पृथ्वी पर घूमा यह आश्वर्य की बात है। ठीक है-इस गार में कोई भी प्राणी दुष्ट दैव के विद्वान् को लांघने में समर्थ नहीं है।

उपर्युक्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि साधक ना तो प्रमादी होता है और

ना ही अतिवादी होता है। शरीर का अतिशोषण भी नहीं करता है और न अति पोषण भी करता है। वह वीणा के तार के समान होता है। जिस प्रकार वीणा के तार अति शिथित होने तो योन्य ध्वनि ही नहीं निकलेगी और अति कठोर होने पर भी योन्य ध्वनि नहीं निकलेगी, परन्तु योन्य प्रणाली से बांधने पर कर्णप्रिय ध्वनि निकलेगी इसलिये श्रमण को प्रमाद वशः अपवाद मार्ग का ही अवलम्बन नहीं लेना चाहिये। आवश्यकतानुसार अपवाद मार्ग का आश्रय लेने पर अधिक कर्म बन्ध नहीं होता है इसलिये तो प्रायशिवत शास्त्र में भी द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार लघु, मध्यम एवं महा प्रायशिवत का विधान है । यथा-

नीरसेऽप्यथवाचाम्ले क्षमणे वा विशोधिते।

ज्ञात्वा पुरुषस्त्रवादि लघुर्वा सान्तयो गुरुः॥ (9) प्रायशिवत सं.पृ.5

पुरुष उसका सत्त्व-धैर्य आदि शब्द से बल, परिणाम आदि जानकर पूर्वोक्त पंचकल्याण में से नीरस अर्थात् निर्विकृति अथवा आचाम्ल या उपवास को कम कर देना लघुमास है अथवा पूर्वोक्त पांचों को निरंतर करना लघुमास है उसी गुरु - मास को व्यवधान सहित करना लघुमास है।

कायोत्सर्गप्रमाणाय नमस्कारा नवोदिताः।

उपवासस्त्रूत्सर्गेभविद् द्वादशकैस्तकः॥ (11)

नवं पंच नमस्कारों का एक कायोत्सर्ग होता है और बारह कायोत्सर्ग का एक उपवास होता है ।

ण्मो अरहंताणं, ण्मो सिद्धाणं, ण्मो आइरियाणं, ण्मो उवज्ज्ञायाणं, ण्मो लोए सब्ब साहुणं यह एक पंच नमस्कार है ऐसे जी पंचनमस्कार एक कायोत्सर्ग में होते हैं और एक उपवास में ऐसे ही बारह कायोत्सर्ग होते हैं।

निमित्तादनिमित्ताच्च प्रतिसेवा द्विद्या मता।

कारणात् बोडशोद्दिष्टा अष्टभंगास्तथेतरे॥ (17)

निमित्त से और अनिमित्त से प्रतिसेवा दो तरह की मानी गई है। उनमें भी कारण से सोलह तरह की कही गई है। इसी तरह अकारण के आठ भंग होते हैं।

उपर्युक्त व्याधि आदि निमित्तों को पाकर दोषों का सेवन करना और निमित्तों के बिना दोषों का सेवन करना इस तरह प्रतिसेवा के दो भेद हैं। उनमें भी प्रत्येक अर्थात् निमित्त प्रतिसेवा के सोलह और अनिमित्त प्रतिसेवा के आठ भेद होते हैं।

अष्टाप्येते न संशुद्धा आयः शुद्धस्तरस्तः।

अविशुद्धतयस्त्वन्ये भंगः सप्तापि सर्वदा॥ (23)

ये ऊपर बताये हुए आठों भंग संशुद्ध नहीं हैं अशुद्ध हैं - बहुत प्रायशिवत के योन्य हैं इनमें पहला भंग द्वितीय भंग की अपेक्षा शुद्ध है लघु प्रायशिवत के योन्य

अलावा बाकी के सातों शंग निरंतर अविशुद्धतर हैं - बहुत प्रायशित के तिसेवाविकल्पानां त्रयोविंशतिमामृषन्।
 इं लाघवमालोच्य छेदं दद्यायथायाथं॥ (24)
 तिसेवा के कुल विकल्प चौबीस हुए। उनमें से (आगाढ़कारणकृत सकृत्कारी, ऐसेही) पहले विकल्प को छोड़कर अविशुद्ध तेईस विकल्पों में छोटे और विचार कर यथायोन्य प्रायशित देना चाहिए।
 त्वे क्षेत्रेऽथ काले वा भावे विज्ञाय सेवनां।
 त्वमशः सम्यग्गलोच्य यथाप्राप्तं प्रयोजयेत्म्॥ (25)
 त्वा, देह, काल और भाव को जानकर और दोष के सेवन को जानकर, प्रमाणकृ आलोचना करके यथायोन्य प्रायशित की समायोजना करनी चाहिए।
 शायमाये तपोऽन्येषु प्रत्येकं तदद्धयं ततः।
 शाये तत्त्रयगम्भानां तत्त्वतुष्टयमन्यतः॥ (26)
 सोलह दोषों में से प्रथम दोष का प्रायशित आद्य तक अर्थात् प्रथम शलाका पंद्रह दोषों का प्रायशित दो-दो तक - दो-दो शलाकाएं हैं। तथा आठ दोषों में दोष का प्रायशित तीन तप - तीन-तीन शलाकाएं और शेष सात दोषों उित्त चार-चार तप- चार-चार शलाकाएं हैं।
 आगाढ़दि सोलह दोषों का प्रायशित सामान्य से कहा गया अब लघु दोष दोष का विचार कर आचारों के उपदेश के अनुसार उत्तर सूत्र के अभिप्राय शलाकाओं में किसको कौनसा प्रायशित दिया जाता है यह निश्चय करते छोड़करणकृत, सकृत्कारी, सानुवीची, प्रयत्नसंसेवी प्रथम दोष का प्रायशित आ मात्र है। अनागाढ़कारणकृत, सकृत्कारी, सानुवीची, प्रयत्नसंसेवी द्वितीय बड़ा प्रायशित छह शुद्धिवाली दो शलाकाएं हैं जिनमें एक शलाका तो ते और क्षमण नामकी नौवी द्विसंयोग की और दूसरी निर्विकृति, पुरुमंडल, और एकस्थान नाम की छ्वचीसरी चतु: संयोग की है। इस तरह दोषों ओं के छह प्रायशित द्वितीय दोष के हैं। इस प्रकार आगे भी जान लेना ओलाचनादिकं योन्ये कायोत्सर्वाऽथ सर्वकं।

तपः आदि वविदेयं यथा वक्ष्ये विधिं तथा॥ (27)
 योन्य-त्वक्ति के दोषों को जानकर आलोचना आदि शब्द से प्रतिक्रमण, विवेक इनमें से एक या दो या तीन अथवा चारों प्रायशित देवें और कायोत्सर्व अथवा सभी आलोचनादि दश तरह के प्रायशित देवे। तथा किसी व्यक्ति

विशेष को तप आदि शब्द से छेद मूल, परिष्ठर और शद्ग्रा ये पांच प्रायशित देवें।
 यदभीक्षणं निषेव्येत परिहर्तु न याति यत्।
 यदीषत्वं भवेत्तत्र कायोत्सर्वं विशोधनं॥ (28)
 जो निरंतर सेवन करने में आते हैं जो त्यागने में नहीं आते हैं और जो स्तोक है ऐसे दोषों का प्रायशित कायोत्सर्व है। चलना फिरना आदि भी दोष हैं जो निरंतर करने पड़ते हैं। भ्राजन पान करना भी दोष ही है। ये दोष दुर्ज्याज्य हैं। इन कर्तव्यों के करने पर कायोत्सर्व नाम का प्रायशित लेना चाहिए।
 अपमृष्टपरामर्शे कंदूत्याकुंचनादिषु।
 जल्लखेलादिकोत्सर्वे कायोत्सर्वः प्रकीर्तिः॥ (29)
 अप्रतिलेखित शरीरादि वस्तुओं से स्पर्श हो जाने पर, खाज खुजाने, हाथ पैर के फैलाने सिकोइने आदि किया के करने पर और मल, शूक आदि शब्द से खकर आदि शारीरिक मल आदि के त्यागने पर कायोत्सर्व प्रायशित कहा गया है।
 तंतुछेदादिक स्तोके संविलष्टे हस्तकर्मणि।
 मनोमासिकसेवायां कायोत्सर्वः प्रकीर्तिः॥ (30)
 तंतु(धान)तोड़ने का आदि शब्द से तृण वगैरह के तोड़ने का, अल्प संवलेश उत्पन्न करने का, पुस्तक आदि के संवर्य करने रूप हस्तकर्म का और इस उपकरण को इतने दिनों में बनाकर तैयार करना इस प्रकार मन से विनिवन करने का प्रायशित कायोत्सर्व है।
 संस्तरे यदि पंचाक्षो व्याप्येताप्यमादतः।
 पंच निर्विकृतान्येककल्याणं सप्तमादतः॥ (37) पृ.41
 सावधानी रखते हुए भी संस्तर-सोने के आथेरे पर यदि पंचेन्द्रिय जीव मर जाय जो उसका प्रायशित पांच निर्विकृतियां हैं और यदि असावधानी से मेरे तो एक कल्याणक प्रायशित है।
 जो अनावश्यक सुखाशिलाषी या प्रमादी होकर अपवाद मार्ग का ही आवलबन लेता है वह अधिक कर्मबन्ध को करता है। आत्मानुशासन में कहा भी है -
 विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनरस्तमः।
 रविवदागमागच्छन् पातालतलमृच्छति॥ (124)
 जिस प्रकार सूर्य फैले हुए प्रकाश को छोड़कर और अन्धकार को आगे करके जब रान (लालिमा) को प्राप्त होता है तब वह पाताल को जाता है - अस्त हो जाता है, उसी प्रकार जो प्राणी वस्तु खल्प को प्रकाशित करने वाले ज्ञान रूप प्रकाश को छोड़कर अज्ञान को स्वीकार करता हुआ रान विष्वावंच को प्राप्त होता है तब वह पातालतल को नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार क्षुधा को अधिक रोकने से हानि है तथा अधिक खाने से भी हानि उसी प्रकार अपवाद रहित उत्सर्ग से भी हानि है एवं उत्सर्ग रहित अपवाद से भी नि है। अतः साधक को आगमानुसार आचरण करते हुये सिद्ध बनना चाहिये।

आगमानुसार आचरण करने वाला मुनि श्रेष्ठ है

एयग्नगदो समणो एयग्नं पित्तिवदस्स अथेसु।

पित्तिज्ञीआगमदो आगमवेदा-तदो जेद्वा॥(232) प्र.सा.

He] who is concentrated on one thing alone, is a Sramana such a concentration is possible for him whose comprehension of the objectivity is gained; this certainty (of knowledge) is possible from the study of scriptures; therefore application to the (study of) scriptures is of the highest importance.

अग्ने कहते हैं कि जो अपने स्वरूप में एकाग्र है वही श्रमण है तथा एकाग्रता गम के ज्ञान से ही होती है -

(एयग्नगदो) जो रत्नत्रय को तन्मयता को प्राप्त है वह (समणो) साधु है। तथेसुपित्तिवदस्स) जिसके पदार्थों में श्रद्धा है उसके (एयग्न) एकाग्रता होती है। गदो पित्तिज्ञी पदार्थों का निष्ठव्य आगम से होता है (तदो) इसलिये (आगमवेदा) स्त्रज्ञान में उद्यम करना (जेत्ठा) उत्तम है या प्रधान है। तीन जगत व तीन लावर्ती सर्व द्रव्यों के गुण और पर्यायों को एक काल में जानने को समर्थ सर्व तरह निर्मल केवल ज्ञान लक्षण के धारी अपने परमात्म - तत्त्व को समर्थक श्रद्धान् ज्ञान र चारित्र से तन्मयता को एकाग्रता कहते हैं। उस तन्मयता को जो प्राप्त हुआ है। श्रमण है। वह एकाग्रता निष्ठव्य से साधु के होती है। टांकी के उकेरे के समान ता, दृष्टा एक स्वभाव का धारी जो परमात्मा पदर्थ है उसको आदि लेकर सर्व ग्राहों का निष्ठव्य करने वाला जो साधु है उसी के एकाग्रता होती है तथा इन वादि पदार्थों का निष्ठव्य आगम के द्वारा होता है। अर्थात् जिस आगम में जीवों के तथा कर्मों के शेदादिका कथन हो उसी आगम के अध्यास से पदार्थों का निष्ठव्य ता है केवल पढ़ने का ही अध्यास न करें किन्तु आगमों में सारखूत जो विदानंद एक परमात्मतत्त्व का प्रकाशक अध्यात्म पंथ है व जिसके अध्यास से पदर्थ का गार्थ ज्ञान होता है उसका मनन करें। इसी कारण से ही उस ऊपर कहे गए आगम गा परमागम में जो उद्योग है वह श्रेष्ठ है। ऐसा अर्थ है।

समीक्षा-भाव की व्यग्रता से, चंचलता से या संकल्प विकल्प से कर्मास्त्रव बन्ध होता है। उसके विपरीत भाव की रिथरता से संवर निर्जय होती है। वह व्यग्रता/रिथरता पदर्थ के रार्थाथ स्वरूप को जानने वाले भेद विज्ञानी को होती है।

यह भेद विज्ञान आगम से होता है इसलिये एकाग्रता तथा भेद विज्ञान के लिए आगम करण है अतः आगम का अभ्यास एवं आगम के अनुसार आचरण ज्योछ है, श्रेष्ठ है, प्रशस्त है व्योकि विना आगम छद्मस्थों को ज्ञान नहीं होगा, ध्यान नहीं होगा एवं चारित्र नहीं होगा। इसलिये ज्ञान, ध्यान और चारित्र के लिए आगम का अवलम्बन श्रेष्ठ कहा है। मूलाचार में कहा भी है -

जेण तत्त्वं विबुज्ज्ञेज्ज जेण वित्तं पिरुज्ज्ञादि।

जेण अत्ता विसुज्ज्ञेज्ज तं णाणं जिणसासणे॥ (267) १ पृ. 222

जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है जिन शासन में उसको ज्ञान कहते हैं।

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।

जेण मित्तीं पश्चाज्जज्ज तं णाणं जिणसासणे॥ (268)

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है जिनशासन में वह ज्ञान कहा गया है।

परियह्णाय वायण पडित्त्वाणुपेह्णा च धम्मकहा।

थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्जाओ॥ (393)

परिवर्तन, वाचना, पृच्छा, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा तथा स्तुति - मंगल संयुक्त पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना चाहिए।

बारसविधमिहति तवे सल्भंतरबाहिरे कुसलदिष्टे।

णवि अतिथ णवि य होही सज्जायासमं तवोकम्मं॥ (409)

कुशल महा पुरुष के द्वारा देखे गये अध्यन्तर और बाह्य ऐसे बारह प्रकार के भी तप में स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप न है और न ही होगा।

सज्जायां कुत्वंतो पंचेनिद्रयसंतुडो तिगुत्तो या।

हवदि य एयग्नमणो विणएण समाहिओ शिवखू॥ (410)

विनय से सहित हुआ मुनि स्वाध्याय को करते हुए पंचेनिद्रा से संवृत और तीन गुप्ति से गुप्त होकर एकाग्रमनवाला हो जाता है।

समीक्षा-आगम में वस्तु स्वरूप मोक्षोपायभूत रत्नत्रय एवं मोक्ष का वर्णन होने से आगम, अध्यायन से उस का परिज्ञान होता है एवं परिज्ञान से चारित्र परिमार्जन होता है। सम्यज्ञान मध्य दीपक के समान है जो सम्बन्धरूप एवं सम्यवचारित्र को प्रकाशित करता है। आगमाध्यायन ही पर्याप्त नहीं है इसके साथ-साथ उसका मनन एवं अनुकरण करने से ही कल्याण है इसलिये आवार्य भगवन्त ने कहा है 'आगम वेदा-तदो जेद्वा अर्थात् आगम में जो उद्योग एवं आगमानुसार जो प्रवृत्ति आचरण/ चारित्र है वह ज्योछ है, श्रेष्ठ है, व्योकि ज्ञान का फल रत्नत्रय

मी उपलब्धि है । सिद्धान्तग्रन्थ तिलोरापण्णति में कहा भी है -

इय णाय अवहारिय आइरिय परंपरागदं मणसा।

पुत्वाइरिया आराणुसरणं ति-रयण-पिमिता॥ (84) प.18

इस प्रकार आचार्य परम्परा से प्राप्त हुए न्याय को मन से अवधारण करके एवं आचार्यों के आचार का अनुसरण करना रत्नत्रय का कारण है।

आगे कहते हैं कि जिसको आगम का ज्ञान नहीं है उसके कर्मों का क्षय नहीं शे सकता है।

आगमहीण समणो मेवप्याणं परं विराणादि।

अविजाणंतो अठे ख्यवेदि कम्माणि किध भिकरण्॥ (231) प.सा.

(आगमहीणो) शास्त्र के ज्ञान से रहित (समणो) साधु (ऐवप्याणं परं) न तो आत्मा को न परको (विराणादि) जानता है। (अट्ठे अविजाणंतो) परमात्मा आदि दाशों को नहीं जानता हुआ (भिकरण्) साधु (किछु) किस तरह (कम्माणि) कर्मों का ख्यवेदिं क्षय कर सकता है ?

“गुणजीवपञ्जज्ञी पाणा सणा य मङ्गणाओ य ।

उतओगोवि य कमसो वीसं तु पर्वणा भणिदा॥ 11

श्री गोमटसार जीवकांड में 20 प्रलयणा का कथन है। यथा-

1. गुणस्थान, 2. जीवसमास, 3. पर्याप्ति, 4. प्राण, 5. संज्ञा, 6. गतिमार्गणा, इन्द्रिय, मा, 8. कर्य मा, 9. योग मा, 10. वेद मा, 11. कषाय मा, 12. ज्ञान मा, 13. संयम मा, 14. दर्शन मा, 15. लेश्या मा, 16. भव्य मा, 17. सम्यवत्त मा, 8. संज्ञी मा, 19. आहार मा, 20. उपयोग मा ॥ जिसने इन बीस प्रलयणा के ग्रन्थ को नहीं जाना तथा -

ग्रिणउ जेण ण जाणियउ णियादेहुहंपरमत्था

सो अंधउ अवरहं किम दरिसावइ पंथु॥

इस दोहा सूत्र का भाव यह है कि जिसने अपनी देह से परमपदार्थ आत्मा ने भिन्न नहीं जाना वह आत्मैद्र ध्यानी किस तरह अपने आत्मपदार्थ को देख सकता है इस प्रकार के आगम में सारभूत आध्यात्मशास्त्र को जिसने नहीं जाना अर्थात् बीस प्रलयणाओं के शास्त्र को और अध्यात्मशास्त्र इन दोनों शास्त्र को नहीं जाना, वह पुरुष रणादि दोषों से रहित तथा अव्याबाध सुख आदि गुणों के धारी अपने आत्मद्रव्य को भावकर्म के वाच्य रण द्वेषादि जाना प्रकार विकल्प जालों से ग्रस्तव में भिन्न नहीं जानता है और न कर्मरूपी शत्रु को विघ्वंस करने वाले अपने श्री परमात्म-तत्त्व को ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों से जुदा समझता है। न अशुरी गुद्ध-आत्म पदार्थ को शरीरादि गो-कर्म से जुदा समझता है।

इस तरह भेद ज्ञान के न होने पर उसके शरीर में विराजित अपने शुद्धात्मा

की रुपी नहीं हो सकती है और न उसकी भावना सर्व रणादि का त्याग करने की होती है, ऐसी दशा में उसके कर्मों का क्षय किस तरह हो सकता है?

अर्थात् कदापि नहीं हो सकता है। इसी कारण से मोक्षार्थी पुरुष को परमागम का अभ्यास ही करना योग्य है, ऐसा तात्पर्य है।

हिंसा-अहिंसा का यथार्थ-स्वरूप

(बुरे भाव वाले हिंसक तो अच्छे भाव वाले अहिंसक)

(बिना जीवों को मारे भी बुरे भाव वाले हिंसक हैं, तो जीवों के मरने पर भी अच्छे भाव वाले अहिंसक)

-आचार्य कनकनन्दी

(वाल : 1. छोटी-छोटी गैया..... 2. शायद मेरी शारी.....)

१लोक- आत्म-परिणाम-हिंसन हेतुत्वात्तसर्वमेव हिंसैतत्।

अनृत-वचनादि-केवलमुदाहृतं शिष्य-बोधार्य ॥ 42 पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

हिन्दी- आत्म परिणाम के हिंसन से, होती है हिंसा सदा सर्वथा असत्य कथन आदि कहना, केवल शिष्य प्रबोधनार्थ ॥

२लोक- यत्खक्तुलबाय-योगात् प्राणानां द्रव्य भावरूपाणां।

त्यपरोपणस्य करणं सुनिषितता भवति सा हिंसा ॥ 43

हिन्दी- कषाय भाव से सहित होकर, द्रव्य-भाव प्राणों का जो होता है जनना, वहाँ निश्चय से होती है हिंसा, यह है सर्वज्ञ देव कथन ॥

३लोक- अपादुर्भावः खलु रगादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिहिसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ 44

हिन्दी- रणादि भावों का अनुत्पन्न होना, निश्चय से होती अहिंसा।
रणादि भावों का उत्पन्न होना, निश्चय से होती है हिंसा।

४लोक- युक्तावरणस्य सतो रगाद्यातेशमंतरेणापि।
न हि भवति-जातु हिंसा, प्राणत्यपरोपणादेव ॥ 45

हिन्दी- रणादि भाव से रहित होकर, जो यत्नावार में प्रवत्त होते।
उनको न हिंसा का दोष लगता, भले प्राणों का हनन होता।

५लोक- व्युत्थानावस्थायां, रणादिनां वशं प्रवृत्तनाम्।
म्लियां जीवों मा वा धावत्यग्ने ध्रुवं हिंसा ॥ 46

हिन्दी- रणादि भाव सहित जीव जो, अयनावारी में प्रवृत्त होते।

- जीव मेरे या नहीं करे उनसे, हिंसा अवश्य होती उनसे ॥
- यस्मात्सक्षायः सन् हन्त्यात्मा-प्रथममात्मनात्मानम्। पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यंतरणां तु ॥ 47
 - कषाय भाव से सहित जीव, हत्या करता है स्वरं की प्रथमा पश्चात् अन्य जीवों का, होते हनन या नहीं हनन ॥
 - हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा। तस्मात् प्रमत्तयोगे प्राण-त्यपरोपणं नित्यम् ॥ 48
 - हिंसा अविरमण भाव से हिंसा, परिणम से होती है हिंसा। अतएत प्रमत्तभाव सहित से, नित्य ही होती रहती है हिंसा॥
 - सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु-निबन्धना भवित पुंसः। हिंसायतन-निवृत्तिः परिणाम-विशुद्धये तदपि कार्या ॥ 49
 - परवस्तु के निमित्त से ही नहीं, होती है थोड़ी सी भी हिंसा। तथापि परिणम विशुद्धि हेतु, हिंसा आयातन का हो परित्याग। विकटा तटा कसाया इन्दियणिदा तहेव पणयो या। घटु घटु पणमेगें होंति, पमादा हु पणरसा॥ (गोमटसार)
 - चार विकथा व चार कषाय, परेन्द्रिय-विषय निदा प्रणय। ये होते हैं पन्द्रह प्रमाद, जो होते हैं हिंसामय।
 - कृतकारितानुमनैर्वाककार्य-मनोभिरिष्यते नवधा। औत्सर्गिकी निवृत्तिः, विवित्रलपापवादिकी त्वेषाः॥ 76 पु.सि.
 - कृत-कारित व अनुमत से, मन-वचन-कार्य नव कोटि से। उत्सर्व रूप से तो मुनि त्यागते, नानाविधि त्याग अपवाद रूप से॥
 - हिंसा-अहिंसा के स्वरूप को जानो, निष्ठय-त्यवहार रूप से मानो। भाव हिंसा है निष्ठय से हिंसा, द्रव्य हिंसा है व्यवहार से हिंसा॥(1) भाव हिंसा होती है भाव की मतिनता, पन्द्रह प्रमाद से होती है मतिनता। इसी से आत्मा की होती है हिंसा, जो निष्ठय से होती है हिंसा॥(2) प्रमाद सहित व अरात्नावार से, प्राणघात होता है जब जीवों के। भाव व द्रव्य हिंसा होती है तभी, ऐसी हिंसा होती सर्वथा ही ॥(3) दशविधि प्राण होते जीवों में, मन-वचन-कार्य व आयु रूप में। पंच-इन्द्रिय व श्वासोच्च्वास सहित, हिंसा होती है इनके वियोग से॥(4)

केवल तन को ही मारना नहीं है हिंसा, मन दुखाना भी होती है हिंसा। झूठ-घोरी व अब्राह-परिग्रह, हिंसा होती क्रोध-मान-मारा व लोआ॥(5) जो क्रोधादि भाव से मतिन होते, ईर्ष्या-घृणा-द्वेष से सहित होते। निन्दा-चुगली व वाट-विवाद करते, वे भी हिंसक होते जो कलह करते॥(6) जो इन्द्रियों के भोग भोगते, फैशन-व्यासन में आसकत होते। मिलावट शोषण ब्रह्माचार करते, वे भी हिंसक होते जो उदण्ड होते ॥(7) सुगुणी में भी जो दुर्गुण देखते, छिद्रान्वेषणकारी दुर्जन होते। देखरेषणकारी विनासनेशी होते, वे भी हिंसक होते जो (विट्ठेष)-पूर्ण डालते॥(8) असंतोषी संवत्सरी जो अशान्त होते, तदगुरुत्व जो भी काम करते। द्रव्यहिंसा बिना भी वे हिंसक होते, मंथरा-शकुनि सम जो काम करते॥(9) भाव-अहिंसक यत्नावारी जो होते, द्रव्य हिंसा से भी न वे हिंसक होते। दलायु डॉक्टर समताधारी साधु सम, आनुसंगिक हिंसा से न होते हिंसक॥(10) अहिंसा होती है भाव-शुद्धि मात्र से, तथाहि हिंसा है भाव अशुद्धि से। दोनों हिंसा त्यजनीय नवकोटि से, 'कनक' वाहे अहिंसा शुद्ध भाव से॥(11)

हिरण्मगरी से 11 दि. 12.1.2015 यत्रि 11.31

स्व-दोष परज्ञान के उपाय व फल

(उत्तरोत्तर ज्ञान से योगियों के अनुभव व कर्त्तव्य)
ज्ञानी की दृष्टि से मोही पागल व मोही की दृष्टि से ज्ञानी पागल।
आचार्य कनकनन्दी

(राग : 1. छोटी-छोटी गैया.....)

७लोक- यद्यदावरितं पूर्वं तत्तदज्ञानवेष्टितम्।

उत्तरोत्तरविज्ञानोग्निः प्रतिभासते ॥ (151- आत्मानुशासन)

हिन्दी- जो-जो आवरण हुआ है पूर्व, वह-वह सब अज्ञान-वेष्टित।

उत्तर-उत्तर विज्ञान के द्वारा, योगियों को होता प्रतिशाषित।

७लोक- भ्रुकजोजिज्ञाता मुहुर्मौहन्मया सर्वेऽपि पुदगलाः।

उच्छ्वेष्टिविव तेष्वद मम विज्ञस्य का स्पृष्टा॥ (30- इष्टोपदेश)

हिन्दी- ज्ञानी विरक्त होता भोगों से, मानकर यह सब मेरा उच्छ्वस्त।

सभी भौतिक को भोगा मैं अनेक बार, अतएत न भोगूँ मेरा उच्छ्वस्त।

१क- व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यामगोचरे।

जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरा॥ (७- समाधितंत्र)

२दी- जो सांसारिक कार्य में सुप्त/(सुस्त), वह आध्यात्मिक कर्म में चुस्त/मर्स्त)।

जो सांसारिक कार्य में चुस्त, वह आध्यात्मिक कार्य में सुप्त॥

३य- यथाहि अबोध बालक खेलता है, धूली मिट्टी व मल आदि से।

तथाहि मोही अज्ञानी जीव आसवत, होता है कामगोग में॥(1)

प्रबुद्ध होने पर यथा बालक, विरक्त होता है धूलीमलमिट्टी से।

आध्यात्मिक ज्ञानी/योगी तथाहि होता, विरक्त समस्त कामगोग से॥(2)

यथा-यथा प्रकाश अधिक होता, तथा-तथा अन्धेरा का होता नाश।

तथाहि आध्यात्मिक ज्ञान-ज्योति से, अज्ञानमोहतम का होता विनाश॥(3)

अज्ञानी मोही जीव नहीं जानता, स्व-पर-उपकार के भाव व काम।

ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा-द्वेष-काम सह, काम करता है अयोग्यतम॥(4)

सत्ता-सम्पत्ति-प्रसिद्धि-डिग्गी हेतु, करते अन्याय व अत्यावारा।

फैशन-व्यसन-शोषण करते, करते हिंसा-झूठ व व्यभिचार॥(5)

मिलावट-ब्रह्मावार ठगबाजी करते, करते ढोंग-पाखण्ड त दंभ/मट॥

आक्रमण-युद्ध-हत्या करते, करते बहुविध आतंकवाद॥(6)

इन सब में मोही सजग रहता, मानता यह सब मेरा काम।

हित-अहित-परमार्थ न जानता, न करता स्व-पर-उपकार के काम॥(7)

आध्यात्मिक ज्ञानी जानते यह सब, पागलों के समान काम।

स्व-पर-अहितकारी आत्मपतनकारी, इह पर लोक हेतु दुःखद काम॥(8)

अतएव वे इनसे निवृत होकर, आत्मकल्याण में होते प्रवृत्ता।

ज्ञान-ध्यान-तप-त्याग में लीन होते, आध्यात्मिक सुख में होते प्रवृत्ता॥(9)

अज्ञानी मोही को सब गलत लगता, जो करते हैं आध्यात्मिक सन्ता।

आध्यात्मिक योगी के भाव-व्यवहार, को वह मानता है ऊमतवत्/पश्चातवत्॥(10)

इसलिए मोही आध्यात्मिक सन्त का, अनादर व हत्या तक करता।

सन्त तो स्वर्ग-मोक्ष पद्धारते, अज्ञानी शोगता अनन्त दुःख॥(11)

अतएव हे जीव! बनो आध्यात्मिक, पाओ है! आत्मिक अनन्त सुख।

'कनकनंदी' को अतः भारा आध्यात्मिक, प्राप्त करने हेतु आमिक सुख॥(12)

हिणमगरी से. 11 दि. 8.1.2015 रात्रि 8.07

कठोर भी गुरुवचन से भव्य जीव विकसित होता

-आचार्य कनकनंदी

(राग : १. छोटी-छोटी गैरा.....)

१लोक- विकासयनित भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।

रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरुवत्यः॥11 (142- आत्मानुशासन)

हिन्दी- कठोर सूर्य किरणों से, यथा विकसित होता कमल।

कठोर भी गुरु कथन से, तथा विकसित भव्य-कमल।

२लोक- लोकद्रुष्यहितं ववतुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा:।

दुर्लभाः कर्तुमध्यते ववतुं श्रोतुं च दुर्लभाः॥11 (143- आत्मानुशासन)

हिन्दी- उभयलोक हितकर, ववता - श्रोता सुलभ पूर्वे।

पालन दुर्लभ पूर्व भी, ववता- श्रोता दुर्लभ अब॥

३लोक- हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायये भृशम्।

विपरये तयोरेधि त्वं सुखाधिण्यसे सुधीः॥11 (146- आत्मानुशासन)

हिन्दी- हित त्यागकर अहित अपनाकर, दुर्बुद्धि से पारा दुःख अनेक।

विपरीत करो इसी से, सुख पाओगे बनो हे! सुबुद्धि॥

४रहस्य- अनादि काल से मोह अज्ञान से, आवेशित हैं संसारी जीव।

इसी के कारण विपरीत भाव व, व्यवहार करते हैं संसारी जीव॥(1)

क्रोध-मान-माया-लोभ से ग्रसित, अन्याय अत्यावार करते दुराचार।

हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिघ्रह सह, सप्त व्यसन सेवते अष्ट मद॥(2)

इनसे दूर करने हेतु, भव्य को देते हैं गुरु उपदेश।

सम्यन्दृष्टि से मुनि शिष्य को, शिक्षा-दीक्षा देते हैं गुरु विशेष॥(3)

अनुशासन या दोष दूर हेतु, गुरु जब बोलते हैं कठोर ववन।

भव्य जीवों का मन होता विकसित, सूर्य किरण से यथा पंकज॥(4)

यथा दयालुस्य योग्य वैद्य द्वारा, विकित्सा होती है विविध प्रकार।

लंघन विरेचन वस्तिकर्म स्वेदन, शत्यक्रिया आदि अनेक प्रकार॥(5)

तथापि ऐनी जो निरोग इच्छुक, इससे न माने वैद्य को दुष्ट।

तथाहि भव्य जीव कटु ववन से, न माने गुरु को दुष्ट॥(6)

अपितु जो गुरु को माने भव्य जीव, परम-उपकारी उभय लोक हेतु।

भवित-श्रद्धा बहुमान सेवा से, कृतज्ञ बने आत्मकल्याण हेतु॥(7)

गुरु उपदेश बिना सम्यकत्व ही, न होता भव्य जीवों को।
 अतः गुरु को माने भव्य जीव महान्, ऐसा ही मान्य है 'कनक' को॥(8)
 हिरण्मगरी से, 11 दि. 31.12.2014 प्रातः 7.35

हे! जीया कब तक पर-परिणति में उलझेगा?

-आचार्य कनकनन्दी

ग : 1. जीया कब तक उलझेगा.....)
 या! कब तक उलझेगा अनात्म भावों
 शुभ भावों/कषया भावों/ पर-परिणति/संवलेश भावों में।
 I-द्वेष-मोह-काम-क्रोधादि भावों में ॥थृता॥
 धन-जन-मान व ख्याति-पूजा-लभ में,
 ईर्ष्या-तृष्णा-धृणा व संकल्प-विकल्पों में,
 I-मित्र-भाई-बन्धु-अपना-पराया में,
 कर्षण-विकर्षण आदि अशुभ भावों में ॥(1) जीया.....
 फैशन-व्यासन व आडम्बर-दिखावा में,
 अहंकार-ममकार आदि संवलेश भावों में,
 I-मन-इन्द्रिय हेतु उनके भोग-उपभोग में,
 रक्षा-वासना में पर-परिणति रूप में ॥(2) जीया.....
 संकीर्ण-कट्टमय पंथ-मत व भावों में,
 पूजा-पाठ-सन्त व ग्रन्थ भाषा व जाति में,
 गनीति-कानून-शिक्षा-संविधान-राष्ट्र में,
 ज्ञान-कला-सभ्यता-इतिहास-परम्परा में ॥(3) जीया.....
 ये सब तेरा न स्वरूप ये सब विकार भाव हैं,
 सत्य-समता-शान्ति तेरा तो परम- स्वभाव है,
 अन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-चीर्य-अव्याबाध है,
 वेदानन्द तेरा स्वरूप पावन शुद्ध-बुद्ध है ॥(4) जीया.....
 विभाव भाव से (तुड़ो) मिले अनन्त दुःख-सन्ताप है,
 तन-मन-आत्मा से सहे आधि-त्याधि के ताप है,
 लेश से मिले दुःख विविध प्रकार है,

कर्म सिद्धान्त मनोविज्ञान आयुर्वेद/(अनुभव) से सिद्ध है ॥(5) जीया.....
 कलह-विसंवाद-अशान्ति-वाद-विवाद-वैरत्व,
 तनाव फोबिया डिप्रेशन शिजोफेनिया हृदयाघात,
 इसी से भिन्न स्व-स्वभाव में न होते हैं पर-विभाव/(दुःख-सन्ताप),
 'कनक' विभाव त्याग करो सेवा हो! आत्म-स्वभाव ॥(6) जीया.....
 हिरण्मगरी से, 11 दि. 18.1.2015 मध्याह्न: 1.38

आगामी 14वीं वैज्ञानिक संगोष्ठी

विषय :-सत्य-सम्या-सुखामृतम(वैज्ञानिकाचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव कृत प्रवचनसार की समीक्षा) में वर्णित ज्ञान विज्ञान-आधुनिक ज्ञान-विज्ञानों से परे.....

सत्र ज्ञानोपर्यागी वैज्ञानिक श्रमणाचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा अब तक 13 राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की वैज्ञानिक संगोष्ठियों का आयोजन धर्म-दर्शन-शिक्षा विज्ञान आदि के रहस्यों का उद्घाटन करते हुये किया जा चुका है। इसी प्रकार विज्ञान-समिति एवं हिरण्मगरी से 11 उदयपुर में आयोजित 13वीं वैज्ञानिक संगोष्ठी (जैन सिद्धान्त- परम विज्ञान- आधुनिक ज्ञान-विज्ञानों से परे) से प्रभावित-प्रेरित व उत्साहित होकर आगामी संगोष्ठी की योजना बनी है। उपरोक्त संगोष्ठी की वैशिक व्यापकता-सफलता के प्रति गौरव पूर्ण दृष्टि से उज्ज्वल सम्भावनाओं को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य श्री ने तात्कालिक उपलब्ध समस्त ज्ञान-विज्ञान से परे प्रायः 235 ग्रन्थों का सूजन कर देश-विदेश के विश्व विद्यालयों से लेकर विश्व धर्म संसद तक अपने वैशिक ज्ञान-विज्ञान का प्रसार किया है। देश-विदेश के जिजासु शिक्षार्थी-शोधार्थी वैज्ञानिक-कुलपति-प्राध्यापक-न्यायाधीश-शिक्षाशास्त्री निरन्तर लाभनित हो रहे हैं।

उपरोक्त संगोष्ठी के सन्दर्भ में आचार्य श्री द्वारा निम्नोक्त विषय चरानित है, यथा [1. परम सत्य (महासत्ता अवान्तर सत्ता-स्व सत्ता) 2. समता परमोद्धम/परम चारित्र 3. अपशिष्ट, अहिंसा एवं पर्यावरण सुरक्षा 4. विश्व व्यवस्था(विश्व-प्रतिविश्व एवं विश्व की कार्य प्रणाली) 5. जीव विज्ञान 6. भौतिक विज्ञान 7. बन्ध एवं मोक्ष प्रक्रिया 8. कर्म सिद्धान्त 9. अणु सिद्धान्त 10. ज्ञान मीमांसा(अनेकान्त) 11. प्रत्यक्ष ज्ञान 12. परोक्षज्ञान 13. आध्यात्मिक सुख ही परम सुख 14. इन्द्रिय सुख: दुःखप्रद 15. आत्मज्ञ ही सर्वज्ञ 16. जो एक को जानता, वह सब को जानता 17. निश्चय एवं व्यवहार काल 18. पुण्य-पाप मीमांसा 19. मूर्तिक द्रव्य 20. ज्ञान-घेतना-कर्म

पैतना- कर्मफल चेतना 21. अशुशोपयोग-शुशोपयोग-शुद्धोपयोग आदि, उपरोक्त विषयों के शोध-बोध हेतु आचार्य श्री सृजित उपरोक्त ग्रन्थ सभी शोधार्थियों के लाभार्थी आद्य मूल्य पर व डाक व्याय सहित संरक्षा के माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं, जिसकी सहायता से जैन-जैनेतर धर्म-दर्शन-विज्ञान के मनीषी महत्वपूर्ण विषयों पर अपने शोध प्रबन्धों द्वारा नये-नये अज्ञात सत्य-तथ्यों को विभिन्न दृष्टिकोणों से पारस्परिक मन्थन द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं।

विषेष:- आगामी 14वीं वैज्ञानिक संगोष्ठी की आयोजन तिथि व स्थान का निर्धारण होते ही आपको पूर्व सूचना दे दी जाएगी। ग्रन्थ प्राप्ति निम्न पते पर कर सकते हैं :-

1. धर्म-दर्शन सेवा संस्थान, द्वारा श्री छोटलाला जी चित्तौड़ा, चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास, उदयपुर (राज.)-313001, मो:- 9783216418
2. डॉ. नारायणलाल कछरा, 55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001, मो:- 9214460622

मेरी अनुशासन पद्धतियाँ व उपलब्धियाँ

(स्व पर आत्मानुशासन व आत्म विकास हेतु मेरी अनुशासन पद्धतियाँ)
-आ. कनकनंदी

(वाल : सुनो-सुनो.....)

ध्यान से सुनो हे! भवत शिष्य, अनुशासन की मेरी पद्धति।

जिससे तुम लाभान्वित होकर, पाओगे समता-शान्ति-प्रगति।।

आत्मानुशासन हेतु होती मेरी, सभी ही अनुशासन की पद्धतियाँ।

दबाव-प्रलोभन-ईर्ष्या-घृणा, निन्दा-अपमानादि से रहित ही।।

पहले मैं स्व-अनुशासन करूँ, इसके अनन्तर योग्य शिष्य को करूँ।

(अयोग्य शिष्य) अन्य हेतु सुभावना भाऊँ, किसके लिए श्री कुभाव न भाऊँ।।

स्व-पर-विश्व हित हेतु तथा इह-परलोक के सुख के हेतु।

तन-मन-आत्मा-स्वास्थ्य हेतु, वात्सल्य-एकता-सेवा हेतु।।

मर्यादा-शालीनता-संराम हेतु, व्रत-नियम-पालन हेतु।

परनिन्दा-अपमान त्याग हेतु, वैर-विरोध-त्याग के हेतु।।

कट्टर-संकीर्णता-त्याग हेतु, दुराग्रह-हठाग्रह-त्याग हेतु।।

उदार-अनेकान्त-पालन हेतु, सन्म-सत्यग्राही बनने हेतु।।

रुक्षिवादिता-त्यागो हेतु, प्रगतिशील आध्यात्मिक बनने हेतु।
एकान्तवाद-त्यागने हेतु, आगमनिष्ठ व आत्मविशुद्धि करने हेतु।।

तेरा-मेरा-ब्रेदभाव त्यागने हेतु, धनी-गरीब पक्षपात छोड़ने हेतु।
श्रु-मित्र-भाई-बंधु में समता, अक्षमा-भाव न रखने हेतु।।

दोंग-पाखण्ड त्यागने हेतु, अंधविश्वास-नकलवी छोड़ने हेतु।
ख्याति-पूजा-लाभ-छोड़ने हेतु, आडम्बर-विज्ञापन त्यागने हेतु।।

मंत-माईक-पाण्डाल-मोह छोड़ने हेतु, भीड़-जयकर त्यागने हेतु।
पत्रिका होर्डिंग त्यागने हेतु, गाजा-बाजा साज-सज्जा छोड़ने हेतु।।

ती.वी. (प्रोग्राम) फोटा (बाफी) का मोह न करने हेतु, निमंत्रण कार्ड न छ्याने हेतु।
धार्मिक कर्य हेतु भी न धन याचना, चन्दा-पिटा न करने हेतु।।

ब्रथ प्रकाशन हेतु भी न याचना, भौतिक निर्माण न करने हेतु।
गाड़ी-नौकर न रखने हेतु, भवत शिष्यों से याचना न करने हेतु।।

दबाव-प्रलोभन से रहित हेतु, वर्तस्व-प्रतिस्थिर्या न करने हेतु।
उदण्ड-उत्थृत्वता त्यागने हेतु, हित-मित-प्रिया बोलने हेतु।।

देवशास्त्र-गुरु आज्ञा पालने हेतु, ज्ञान-वैराग्य बढ़ाने हेतु।
लौकिक जन सम्पर्क न करने हेतु, दुर्जन-संगति से रहित हेतु।।

संघ के अनुशासन पालन हेतु, ध्यान व अध्ययन करने हेतु।
गुरुजनों के बहुमान करने को, छोटों का आदर करने हेतु।।

अनावश्यक कोई भी काम न करना अनर्थदण्ड से बचने हेतु।
स्व-स्व कर्ताव्य पालने हेतु, गृहस्थ-सांसारिक काम छोड़ने हेतु।।

हर जीवों से मैत्री हेतु, स्वधर्मी-तिर्धर्मी से श्री मित्रता हेतु।
गुणी जीवों से प्रमोट हेतु, दुःखी जीवों से करणा हेतु।।

निंटक विरोधियों से श्री समता, सुख-दुःख में श्री समता हेतु।
लाभ-अलाभ में श्री समता, निन्दा-प्रशंसा से श्री समता हेतु।।

आत्महित कल्याण प्रथम हेतु, परहित कल्याण आनुसंगिक हेतु।
स्व-दोष निवारण करने हेतु, परदोष अप्रगत करने हेतु।।

हर काम समर्या पर करने हेतु, आलर्या प्रमाद रहित हेतु।
स्व-तिवेक से काम करके, दोषों को बार-बार न करने हेतु।।

योग्य आहार-विहार करने, भ्रमण-योगासन करने हेतु।।

आहर में श्रांति अयाचना, स्वास्थ्यकर मर्यादा आहर हेतु॥

अस्वास्थ्यकर अनावश्यक विहार, उसके लिए न याचना हेतु।

किसी भी वस्तु की याचना, नहीं गुरु आज्ञा से प्राप्त करने हेतु॥

शवित से अधिक न तप करे, शवित से कम तप न करे।

अंतरंग तपस्या के महत्व, आत्मानुश्रव के महत्व हेतु॥

दीन-ठीन-अटंकार त्याग कर, 'स्वाभिमान' 'सोऽहम्' 'अहं' भाव धारण हेतु।

गुण-गुणी प्रशंस्या करके, नवकोटि से धर्म पालने हेतु।

ईर्ष्या-द्वेष-घृणा त्यागने हेतु, संतोष-निरस्पृह बनने हेतु।

संवलेश-द्वन्द्व त्यागने हेतु, सरल-सहज बनने हेतु।

उसी से लाभ हो रहे अनेक, ध्यान-अध्ययन होते सम्यक्।

समता-शान्ति-एकता रहती, संघ की व्यवस्था स्वयमेव होती॥

अध्ययन हेतु आते अनेक जन, विशिन्न संघ के साध्वी-श्रमण।

ब्रह्मवारी से लेकर विद्वानगण, वैज्ञानिक-प्रोफेसर्स-जज-सज्जन।

तन-मन-धन समय से करते, सेवा, देश-विदेशों में (करते) धर्म प्रभावना।

संघ में अनेक शिक्षा-दीक्षाएँ (होती), आत्म प्रभावना प्रचुर होती॥

संघ की निन्दा या अप्रभावना न होती, संघ की गरिमा स्वयं बढ़ती।

शोध-बोध मेरा होता प्रचुर, श्रद्धा-प्रज्ञा मेरी प्रखर होती॥

योग्य शिष्य भवतों को ही मैं, अनुशासन करूँ आत्मविकास हेतु।

अयोग्य जन को संघ में न रखूँ, शुभ भावना सह यह सब करूँ॥

पहले (पहले) अनेक जन समझ न पाते, समझने पर गौरत करते।

स्व-श्रांत धारणा को त्याग करते, समर्पण भाव से सेवा-दान करते॥

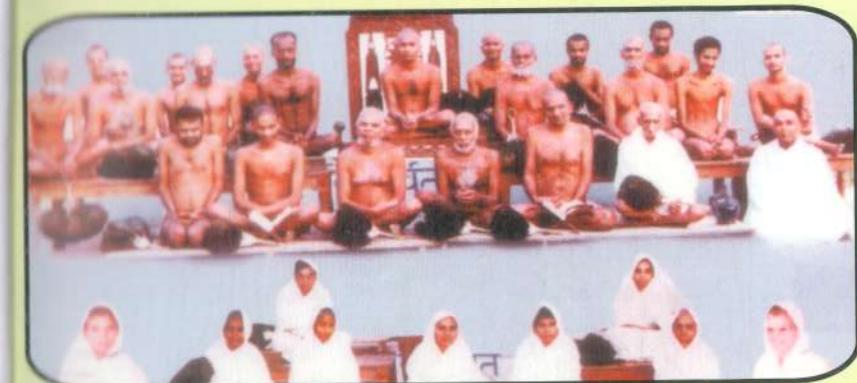
मेरा अनुशासन को बड़े-बड़े आचार्य भी श्रेष्ठ मानते।

स्व-संघ के साध्य-साधिव्यों को मेरा उदाहरण भी देते॥

अनुशासन भले मेरा कठोर मानते, अनुशासनठीनता की निन्दा न करते।

आगम प्रारंभित मनोविज्ञान अनुसार, कनकसूरि अनुशासन करते॥

सीपुर, दिनांक 06.08.2016, यत्रि 10.52



आचार्य कनकनन्दी (उपाध्याय एलाचार्य अवस्था में) स्व-गुरु आचार्य कुन्युसागर व स्व-विशाल संघ।
(रोहतक-1991)



आचार्य कनकनन्दी कृत ग्रन्थों का विमोचन करते हुए आचार्य भरतसागरजी गुरुदेव।



श्रमण-श्रमणी की दीक्षा के अवसर पर आचार्य कुन्युसागरजी, आचार्य कनकनन्दी, क्षु. चैत्यसागरजी (अभी आचार्य, आ. विमलसागरजी से दीक्षित) जयपुर-1992



बाहुबली सहस्रांश्मि महोत्सव के अनन्तर धर्मस्थल के पंचकल्याण के अवसर पर आचार्य विमलसागरजी,
आचार्य कुन्दुसागरजी व दोनों संघस्थ साधु-साध्वी। (1983)



विश्वधर्म सभा में भाग लेते हुए आचार्य कनकनन्दी के शिष्य डॉ. कच्छारा व अन्य सहभागी।
(मेलबोर्न-आस्ट्रेलिया)



स्व-शिक्षा गुरु आचार्य कनकनन्दी द्वारा रचित ग्रन्थों का विमोचन करते हुए आ. गुप्तिनन्दी, मुनि आज्ञासागर,
साधु-साध्वी व मणिभद्र, दीपेश, मयंक, भूषेश। (चौतरी-2015)